नीलांबर

# चर्चा चैतन्य की

द्वितीय खण्ड

1999

– 'युगल'

# चर्चा : चैतन्य की

## द्वितीय खण्ड

**चर्चा क्रमांक 12 से 22 तक**

(जनवरी 1999 में श्री शान्तिभाई जवेरी के निवास स्थान नीलाम्बर, मुम्बई में पूज्य बाबूजी जुगल किशोरजी 'युगल' से मुमुक्षु भाईयों द्वारा किया गया शंका-समाधान)


चर्चाकार :

**श्रद्धेय बाबू 'युगल' जी, कोटा**

सम्पादक :

**पण्डित अभयकुमार जैन**

जैनदर्शनाचार्य, देवलाली



-: प्रकाशक :-

**आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन**

**कोटा**

**9414181512**

**प्रथम संस्करण** : 2100 प्रतियाँ
अध्यात्म मनीषी बाबू 'युगल' जी शताब्दी समारोह पर आयोजित
आध्यात्मिक शिविर एवं विद्वत् संगोष्ठी
कोटा पर प्रकाशित (4,5,6 अप्रैल 2025)

**मूल्य :** स्वाध्याय

नीलाम्बर तत्त्वचर्चा की सभी 22 चर्चायें सब-टाईटल सहित Babu yugalji You tube चैनल पर एवं इनकी अक्षरश: PDF www.babuyugalji.com वेबसाईट पर उपलब्ध हैं।

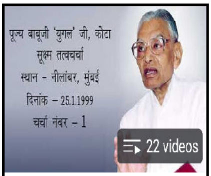


नीलाम्बर
तत्त्वचर्चा-1999

**चैतन्य का स्मरण प्रतिक्षण ही करो रे !**
**भव के अनन्त दु:ख को पल में हरो रे !!**
**अक्षय अनन्त निज सौख्य निधान पाओ,**
**गाओ अरे ! नित इसी के गीत गाओ।।**

**- 'युगल'**

**प्राप्ति स्थान :**

- आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन
  85, चैतन्य विहार, आर्य समाज की गली,
  रामपुरा, कोटा (राज.) 324006
  मो. 94141-81512 (चिन्मय जैन)
- पूज्य श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट
  कहान नगर, लाम रोड, देवलाली, नासिक (महा.)
  मो. 90827-34709
- दिनेश शास्त्री
  60, जिनेशम अपार्टमेन्ट, पूनम विहार,
  जगतपुरा, जयपुर (राज.)
  मो. 99285-17346

**मुद्रक** : देशना कम्प्यूटर्स
82, पॉल्टी फार्म, आगरा रोड, जयपुर
मो. 9928517346

# समरसी तत्त्वध्वनि

– ब्र. नीलिमा जैन, कोटा

अध्यात्मभवन के सुदृढ़ स्तम्भ, दर्शन के दिवाकर 'केवल रवि' जैसी अनुपम काव्यकृति के प्रणेता, साहित्य सम्राट पूज्य बाबू युगलजी कोटा, इस युग के प्रखर चिन्तनशील महामना थे। जीवन पथ प्रदाता पूज्य गुरुदेव के गहन सिद्धान्त 'रत्नराशि' के समान उनके हृदय में सदा ही प्रतिष्ठित रहे हैं, जो उनकी ज्ञान चेतना को निरन्तर अनुप्राणित करते रहते थे, ऐसे स्वच्छ व पैने ज्ञान द्वारा उन्होंने जैन सिद्धान्तों के महासागर में गोते लगाकर उसकी गहराई में छिपे मणि-मुक्ताओं को – जैन जगत के समक्ष प्रवचन, चर्चा, परिचर्चा, काव्य व लेखांश के रूप में उद्‌घाटित कर, सचमुच एक अमूल्य धरोहर विश्व के जैन साहित्य कोष को प्रदान की।

काल की किसी मंगल घड़ी में विशेष अवसरों पर हुई उनकी समरसी, सुन्दर सटीक व संक्षिप्त चर्चायें मुमुक्षुमंच के लिए 'वज्र कवच' समान सिद्ध हुई हैं, वे आज भी उनके मानस में चिरस्थाई होकर मिथ्या-भ्रान्तियों पर सदैव प्रहार करती रहती हैं।

वर्तमान परिवेश में 'नीलांबर' चर्चा धरती से अम्बर तक अध्यात्म की ऊँची उड़ान के साथ देश व विदेश के हर कोने में चर्चित होकर चातक-चित्त पिपासुओं में अपना ध्रुव स्थान बना चुकी है, जिससे उनकी तत्त्वधारा त्वरा से गतिमान होती हुई, अपने लक्ष तक पहुँचने की आतुरता से प्रतीक्षा कर रही है।

सुखद चर्चांश में आगम व अध्यात्म के गंभीर विषयों में छिपे हुए रहस्य एवं आंतरिक भावों को पूज्य बाबूजी ने बड़ी संवेदनशीलता के साथ प्रस्फुटित किया है, अल्प शब्दों में बहु भावों को गुंफित कर लेना तो उनकी शैली का प्रधान गुण है ही, साथ ही समृद्ध शैली में भाषा का लालित्य व प्रवाह स्वत: ही छलक-छलक कर बाहर आ रहा है।

विभिन्न रसों के समावेश पूर्वक सुरम्य चर्चा में विभिन्न विषयों का समावेश बखूबी से हुआ है, श्रद्धा गुण की कार्य प्रणाली, ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव, लब्ध-उपयोग, इन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप, दोष निवारक मंत्र, जैन श्रावक का व्यवहार पक्ष, आचार संहिता, अनुशासित, मर्यादित,

संयमित व संतुलित जीवन शैली आदि-आदि। इस प्रकार चर्चा में न ही अध्यात्म का अतिरेक और न ही व्यवहार का लोप! बल्कि एक मात्र शुद्धात्मा को केन्द्र में रखकर, बड़ी स्पष्टता, निशंकता, प्रमुदित हृदय एवं जागते विश्वास के साथ चर्चा मुखरित हुई है, सचमुच - अध्यात्म के उत्कर्ष को स्पर्श कर इन चर्चाओं ने 'नीलांबर' को सर्वार्थसिद्धि की प्रतिछाया का ही रूप दे दिया। अहो धन्य है! मुमुक्षुवृन्द और उनके मकरन्द-'युगल'।

महानगरी मुम्बई 'नीलांबर' में स्थित तत्त्वमयी सरल व्यक्तित्व श्री शांतिभाई जवेरी का निवास स्थान क्रांतिकारी पूज्य गुरुदेवश्री एवं पूज्य लालचन्दभाई जैसे निर्मल ज्ञान सम्पन्न महापुरुषों का विश्राम स्थल रहा है, उसी पवित्र प्रांगण में जनवरी 1999 में पूज्य बाबूजी की 22 दिवस तक मनोमुग्धकारी चर्चा की धारा चलती रही, 200-250 श्रोतागण इस शीतल धारा में डूबकर, नई-नई सुखद अनुभूति लेकर जाते थे, मैं स्वयं (पुत्री ब्र. नीलिमा) भी पूज्य बाबूजी के साथ ही थी, तब मैंने प्रत्यक्ष देखा, पूज्य बाबूजी के अंतरमुखी चिन्तन से निकली शुद्ध अन्तस्तत्त्व की मधुरिम वार्ता में पूज्य बाबूजी के प्रज्ञा-चक्षु व मुखमुद्रा की खिलावट, जिसने वहाँ के सारे वातायन में चैतन्य की महक भर डाली, वह दृश्य मेरे स्मृति पटल पर आज भी चल-चित्र बन घूमते रहते हैं, वे मंत्र-मुग्ध से श्रोता, हृदय में चर्चा का रसपरिपाक एवं अर्पणता। सच! एक आश्चर्य ही था।

श्रोता प्रमुख एवं प्रश्नकर्ता आदरणीय शांतिभाई के ज्येष्ठ पुत्र श्री पंकजभाई चर्चा के मधुर रस को तीव्र उत्कंठा व हर्षित मन से भर-भर पीते रहे एवं श्री महेन्द्रभाई सी.ए. बोरीवली ने चर्चाओं में प्रश्न एवं प्रश्न की पुनरावृत्ति द्वारा सदन में उमंग भरी ध्वनि का संचार कर डाला और हाँ! हमारे सौभाग्य से उन्होंने इन चर्चाओं की रिकार्डिंग कर उन्हें जीवंत रखा। इन चर्चाओं को अक्षरश: लिखने एवं वीडीओ में सब-टाईटल कर पी.डी.एफ. के साथ यू-ट्यूब पर उपलब्ध कराने का श्रमसाध्य कार्य मंजुषाजी जैन इन्दौर एवं उनकी पूरी टीम - आशा महेता मुंबई, दर्शना झवेरी मुंबई, इंदिरा कोठारी मुंबई, ऋतु जैन इंदौर, मनीषा मोदी खुरई, विभूति शेठ मुंबई, मानसी जैन पुणे, पल्लवी जैन इंदौर एवं प्रियंका जैन भोपाल ने बहुत ही लगन, तत्परता एवं समर्पण के साथ सम्पन्न किया, अत: हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

हमारे मुमुक्षु बन्धुओं के अति अनुरोध से 'नीलांबर' में 'चर्चा : चैतन्य की' कृति को आदरणीय विद्वान अभयकुमारजी शास्त्री, देवलाली ने भाषा को व्यवस्थित कर नया प्रारूप देकर, सुव्यवस्थित संपादन की छाया में पूज्य बाबूजी के अन्तस्तल के निकले भावों को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखते हुए अपने पावन भावों द्वारा जैन श्रुत भंडार को समर्पित किया है, इसकी एक विशेषता यह कि चर्चा का संक्षिप्तीकरण, विषय अनुरूप टाइटल के साथ करते हुए, उसमें और अधिक रोचकता एवं आकर्षण पैदा कर दिया, जिससे पाठक उस बिन्दू को पुनः–पुनः सरलता से छू सकेंगे।

कविहृदय भाईसाहब अभयजी ने टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महा-विद्यालय जयपुर में अपने प्रारंभिक शिक्षा काल से ही पूज्य बाबूजी का पुत्रवत् स्नेह एवं सान्निध्य प्राप्त किया, तभी से वे उनके सूक्ष्म चिंतन व काव्य क्रीड़ा से अत्यधिक प्रभावित रहे, इतना मात्र ही नहीं, उनकी जीवन शैली व तत्त्वज्ञान का बड़े गर्व व गरिमा से अनुकरण भी किया है, इस चर्चा को सुनकर तो वे इतने मुग्ध हो गये कि उन्हें इसके प्रकाशन का एक प्रशस्त विकल्प खड़ा हो गया और स्वतः ही अपने निश्चित कालक्रम में इसका संपूर्ण कार्यभार स्वयं ही लेकर अथक श्रम व मनोयोग पूर्वक इस गुरुतर कार्य को अतिशीघ्रता से सम्पन्न किया। मैं समस्त मुमुक्षु संस्थानों एवं हमारे उज्ज्वल धवल परिवार की ओर से उनको कोटि–कोटि आभार व्यक्त करती हूँ।

सचमुच – लोकोत्तर इन चर्चाओं का ध्रुव स्तूप तो ध्रुव ही है, ध्रुव की धुरी पर ही चर्चाओं का चक्र चलता रहा – यह ध्रुवधाम की ध्रुव चर्चा स्वयं के लिए चर्चित होकर हमारी चर्या का हिस्सा बन जावें – मुझे विश्वास है कि ध्रुवत्व की चर्चा के ये 'अजेय सूत्र' हमारे अभिशापों की घड़ियों में वरदानों के सुन्दर फूल लेकर उदित होंगे।

चैतन्य की चर्चा के चितेरे पू. बाबू युगलजी के पावन जन्म शताब्दी समारोह के अवसर पर हमारा समग्र उज्ज्वल धवल परिवार यह धवलधारा सा पुष्पहार असीम श्रद्धा के साथ समर्पित कर रहा है। मुक्ति के पथ के पथिक इस प्रकृष्ट प्रसाधन को पाकर अपने जीवन को परिष्कृत करें – ऐसी उत्तम भावना के साथ –

5 अप्रैल 2025 ( **युगल जन्म शताब्दी समारोह, कोटा** )

## अहो भाग्य

**तीर्थंकरों अरु गणधरों के वचन मिथ्यातम हरें।**
**गुरु कहान उनके मर्म का रहस्योद्घाटन करें।।**
**'बाबू युगलजी' के वचन हैं तीक्ष्ण चिन्तनमय अहो।**
**चैतन्य की चर्चा पठन कर भव्य आनन्द रस पियो।।**

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अपनी स्वानुभवरस झरती वाणी से श्रुत रत्नाकर के तल में छिपे अनेक रत्नों को प्रस्फुटित किया; जिसके निमित्त से अध्यात्म रसिक जगत में एक अपूर्व आध्यात्मिक क्रान्ति सर्जित हो गई है।

पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी झेलकर उसे अपने श्रुतज्ञान में आत्मसात् करके अनेक विद्वद्जनों ने अपने पैने चिन्तन और रोचक शैली से जन सामान्य तक पहुँचाने में अमूल्य योगदान दिया है; जिसमें माननीय बाबू जुगल किशोरजी 'युगल' कोटा अग्रगण्य हैं।

तत्कालीन मुमुक्षु जगत बाबूजी की वज्र वाणी-विभूषित प्रवचन सुनने हेतु सदैव लालायित रहता था। किसी भी धार्मिक आयोजन में उनकी उपस्थिति ही आयोजन को सार्थक एवं सफल बनाने के लिए पर्याप्त थी।

उनके चिन्तन में स्वानुभूति पोषक विचारों की ही मुख्यता दृष्टिगोचर रहती है। बोझिल कार्यक्रमों और अनावश्यक क्रियाकाण्डों का तीव्र निषेध करते हुए वे सदैव प्रेरणा देते हैं "ज्ञान पर ज्यादा बोझा मत डालो"।

आत्मानुभूति हेतु निकटतम प्रयोजनभूत दृष्टि का विषय, ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध, श्रद्धा और ज्ञान की प्रक्रिया, पर्याय मात्र का हेयत्व, आत्मार्थी की चिन्तनधारा आदि मार्मिक विषयों की गहरी छनावट ही बाबूजी की पहचान है। मुमुक्षु समाज भी उनके श्रीमुख से इन्हीं विषयों को बारम्बार सुनने लिए चातकवत् पिपासु रहता था।

किसी प्रसंगवश जनवरी 1999 में बाबूजी का मुम्बई में प्रवास हुआ

और वे स्व. शान्तिभाई जवेरी के पेडर रोड स्थित नीलाम्बर सोसायटी में स्थित निवास स्थान में लगभग एक माह तक ठहरे। बाबूजी की उपस्थिति हो और मुमुक्षु समाज उनके चिन्तन का लाभ न ले, यह असंभव जैसा था। अतः कुछ मुमुक्षुओं के आग्रह से शान्तिभाई के निवास पर ही तत्त्वचर्चा का कार्यक्रम सुनिश्चित किया गया।

स्व. शान्तिभाई तो अत्यन्त गहन अध्यात्म रसिक थे ही; उनके ज्येष्ठ पुत्र पंकजभाई एवं आत्मार्थी महेन्द्रभाई (सीए), बोरीवली भी बाबूजी के प्रिय विषयों के विशेष रसिक और चिन्तक मुमुक्षु हैं। इस चर्चा में उन्हीं के द्वारा मुख्यरूप से प्रश्न किये गये हैं। अपने परम सौभाग्य से यह चर्चा महेन्द्र भाई (सीए), बोरीवली द्वारा रिकार्ड भी कर ली गई, जो कुछ वर्षों पूर्व यू-ट्यूब पर भी उपलब्ध हो गई है।

मुझ जैसे अनेक जिज्ञासुओं ने वह चर्चा कई बार सुनी है। यह चर्चा सुनकर मुझे विचार आया कि यदि इसे लिपिबद्ध करके पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाए तो अधिकतम लोग और भावी पीढ़ी भी इससे विशेष लाभान्वित होगी।

इस विचार को क्रियान्वित करने हेतु अनेक लोगों से अनुरोध किया कि ऑडियो सुनकर इस चर्चा को शब्दशः लिपिबद्ध करें ताकि उसे सम्पादित करके प्रकाशित किया जा सके। एतदर्थ कुछ लोगों ने प्रयास भी किया, परन्तु मंजूषा बेन इन्दौर एवं उनकी साथियों का प्रयास पूर्ण सफल हुआ और प्रिय चिन्मय (कोटा) के सौजन्य से ही पूरी 22 चर्चाओं की शब्दशः लिपिबद्ध दो पीडीएफ फाइलें मुझे प्राप्त हो गईं।

उक्त फाइलों की Document फाइल भी चिन्मय ने उपलब्ध कराई, जिन्हें सम्पादित करने का कार्य भी प्रारम्भ किया गया। पहले तो सभी चर्चाओं का संकलन प्रकाशित करने का विचार था परन्तु अधिक विलम्ब न हो और यथाशीघ्र यह अमूल्य निधि समाज में शीघ्र पहुँचे इस भावना से अभी मात्र 11 चर्चाओं का संकलन पूर्वार्द्ध के रूप में प्रकाशित

किया जा रहा है। इन चर्चाओं के सम्पादन में अपनाई गई रीति-नीति के सम्बन्ध में निम्न बिन्दु ध्यान देने योग्य हैं -

1. शब्दशः प्रति में 'तो' 'है' इत्यादि अनेक शब्द ( ) कोष्ठक में दिये गये हैं, जिन्हें कोष्ठक के बाहर वाक्य में ही शामिल किया गया है।

2. चर्चा की मूल प्रति में से कोई भी अंश नहीं हटाया गया है। अधिकांश प्रश्नों को भी यथावत् रखा गया है, लेकिन जो उद्‌गार प्रश्न रूप में नहीं हैं मात्र बहुमान भाव व्यक्त किया गया है, उन्हें हटाया गया है ताकि विषय के प्रवाह में बाधा न पड़े।

3. उन बहुमान भावों के बाद जो बाबूजी के उद्‌गार हैं उन्हें अलग पैराग्राफ देकर मूल लेख में शामिल किया गया है।

4. प्रकरण के अनुसार बीच-बीच में शीर्षक देकर पाठकों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया गया है।

5. वाक्यों को व्यवस्थित रूप देने के लिए कर्ता-कर्म-क्रिया एवं विराम चिन्हों के प्रयोग में यथासंभव पूरी सावधानी रखने का प्रयास किया है, फिर भी यदि प्रमादवश कहीं कोई चूक हो गई हो तो सुधी पाठकों से अनुरोध है कि वे उसे गौण करके भावों को मुख्य करते हुए विषयवस्तु का रसास्वादन करें और अशुद्धियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित अवश्य करें।

यदि आप यह संकलन ऑडियो सुनने के साथ पढ़ें तो मूल विषय-वस्तु में कोई अन्तर मालूम नहीं पड़ेगा लेकिन सम्पादन की विशेषता अवश्य भासित होगी।

यह सुखद संयोग है कि बाबूजी की 9वीं पुण्य तिथि के अवसर पर यह संकलन प्रकाशित हो रहा है। आशा है अध्यात्म रसिक समाज इस प्रयास का भरपूर लाभ लेगा।

**8 सितम्बर 2024** **- अभयकुमार जैन, देवलाली**

(भाद्रपद शुक्ला पंचमी, संवत् 2081, दशलक्षण महापर्व)

# द्वितीय खण्ड की प्रस्तुति

स्व. शान्तिभाई जवेरी, मुम्बई के नीलाम्बर बिल्डिंग में स्थित निवास स्थान पर सन् 1999 में सम्पन्न तत्त्व चर्चा में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का मार्मिक ऊहापोह हुआ है जो आत्मार्थी भव्य जीवों को तत्त्व निर्णय का दिशानिर्देशन करता है। कुछ मार्मिक विषय अनेक चर्चाओं में आए हैं। अनेक जगह चर्चित एक विषय को एक साथ प्रकाशित करने का विचार भी हुआ था, परन्तु यह कार्य अत्यन्त जटिल और श्रमसाध्य प्रतीत हुआ; अत: प्रतिदिन की चर्चा को अलग-अलग प्रकाशित करना उचित समझा गया। ग्यारह दिनों की चर्चाओं का प्रथम खण्ड बाबूजी की पुण्य तिथि के अवसर पर 30.9.2024 को प्रकाशित हो चुका है। शेष 11 चर्चाओं का यह द्वितीय खण्ड उनकी जन्म शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित करते हुए हम अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

अध्यात्म रसिक मुमुक्षु समाज को अति गम्भीर विषयों पर समग्र चिन्तन एक साथ मिल जाये, एतदर्थ पूरी 22 चर्चाओं की विषयानुसारी विषय-सूची दी जा रही है।

विषयों का शीर्षक देकर उसके नीचे चर्चा क्रमांक/पृष्ठ क्रमांक एक साथ दिये जा रहे हैं, जिससे उस विषय सम्बन्धी समग्र जानकारी प्राप्त की जा सकती है। **ध्यान रहे कि विषय-सूची में दिये शीर्षक ही आपको सम्बन्धित पृष्ठों में मिलें - यह आवश्यक नहीं है। उस शीर्षक से सम्बन्धित विषय पर चर्चा उन पृष्ठों पर उपलब्ध होगी।**

प्रथम खण्ड प्रकाशित होते ही मुमुक्षु समाज ने इसका भरपूर स्वागत किया, मानो लोग चातकवत् इस संकलन की प्रतीक्षा कर रहे हों। प्रथम खण्ड हाथ में आते ही द्वितीय खण्ड की माँग आने लगी। अत: यह प्रकाशन पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

हमें विश्वास है कि स्वपरप्रकाशक, सम्यग्दर्शन, क्रमबद्धपर्याय आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर सन्तुलित चिन्तन का लाभ लेकर मुमुक्षु समाज यथार्थ निर्णय करके परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होगा।

**15 मार्च 2024** **- अभय कुमार जैन, देवलाली**

# अनुक्रमणिका : चर्चा चैतन्य की
## चर्चा क्रमांक 1 से 22


| क्र. | क्या! क्या! कहाँ! कहाँ! | | | चर्चा क्रमांक/पृष्ठ क्रमांक |
|---|---|---|---|---|
| 1. | **अभिप्राय का दोष/अज्ञानी की मान्यता** | | | |
| | 1/01 | 9/97 | 12/26 | 13/62 |
| | 16/136 | | | |
| 2. | **तत्त्व चिन्तन/यथार्थ निर्णय** | | | |
| | 1/01 | 2/38 | 6/116 | 8/185 |
| | 12/36 | 16/121 | 16/145-149 | 20/244 |
| 3. | **मिथ्यादृष्टि और साधक का उपयोग** | | | |
| | 1/17 | | | |
| 4. | **महिमा पूर्वक चिन्तन** | | | |
| | 1/11 | 2/29 | 16/43 | 17/171 |
| 5. | **कारणशुद्धपर्याय** | | | |
| | 21/265 | | | |
| 6. | **निश्चय और व्यवहार श्रुत केवली** | | | |
| | 20/136 | | | |
| 7. | **भूतार्थ से जाने हुए नव तत्त्व सम्यग्दर्शन है** | | | |
| | 19/209,212,223,230 | | | |
| 8. | **स्वसमय और परसमय** | | | |
| | 12/223 | | | |
| 9. | **वस्तुस्वरूप में धर्म युगल** | | | |
| | 14/96 | | | |
| 10. | **विश्व के ज्ञान में आत्मा का ज्ञान** | | | |
| | 15/110 | | | |
| 11. | **मिथ्याज्ञान बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं** | | | |
| | 9/219 | | | |
| 12. | **आगम और अध्यात्म के नय** | | | |
| | 12/21 | | | |

13. भेद बुद्धि/भेद विज्ञान
2/37 19/226
14. निष्क्रिय ध्रुव/पारिणामिक भाव
1/25 8/146 11/246 16/152
18/202
15. अर्हन्तों को जानने की प्रक्रिया
2/38 20/249
16. पदार्थ अशुद्ध नहीं हो सकता
3/60 15/127 16/142
17. ध्यान का स्वरूप
3/62 4/75,82
18. अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा
3/63,71 13/48
19. अनुभूति का स्वरूप और उसमें स्वपरप्रकाशक
4/80 6/113 7/140 9/241
13/58
20. शुद्धोपयोग का स्वरूप
9/194
21. मतिज्ञान की प्रक्रिया
9/194
22. भाव श्रुतज्ञान की महिमा/केवलज्ञान का स्वरूप
8/189 9/193 10/224
23. राग की उत्पत्ति/प्रदेश भिन्नता
6/133 7/161 15/100,125,127
24. अज्ञानी की अन्तर्परिणति
6/115 14/82 18/203 19/211
25. अज्ञान में अज्ञान का विरोध
6/111
26. कारण परमात्मा और कार्य परमात्मा
20/249

27. **मुमुक्षु की पात्रता**
7/155 11/258 18/199 21/270

28. **ज्ञान-ज्ञायक-ज्ञेय-ज्ञेयाकार**
2/33,49 3/65,72 6/128 7/144,152
8/169,180, 185 85 9/196,202,215
12/29,34 13/58 14/88 15/18

29. **पुण्य-पाप का स्वरूप**
2/45 19/217

30. **निगोद में भी ज्ञान की शक्ति**
17/174 21/286

31. **इन्द्रिय ज्ञान और अनीन्द्रिय ज्ञान**
1/9 3/57-73 6/136

32. **श्रद्धा और ज्ञान का स्वरूप**
1/21 2/30 8/163 9/216
10/226 13/46 17/183 18/188

33. **प्रतिभास का स्वरूप**
2/35 3/67 5/21 6/110,125,129
7/138,148 9/200,206 13/42 14/73
15/117 22/296,309,319

34. **पर्याय के षट् कारक**
10/238 20/251

35. **पर्याय दृष्टि का अभाव**
2/42 5/98 7/153 8/182
11/248 13/65 14/83 17/176,180

36. **अनुभूति की पूर्व प्रक्रिया**
3/52 6/118 15/107 16/131
17/163 22/105 3/56,71 4/78
5/94,98,103 6/122 7/141,150,157 11/241,254
14/80 16/143 20/254 22/307

37. **व्यवहार नय की अभूतार्थता एवं प्रयोजन सिद्धि**
18/189,196 19/218 22/313

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 12

(5 फरवरी 1999)

***इस चर्चा में काललब्धि और पुरुषार्थ का एकत्व, सहज और पुरुषार्थ, निर्णयात्मक ज्ञान की महिमा, स्व-समय और पर-समय, ज्ञान पर्याय में सामान्य और विशेष, ज्ञान को निर्भार रखने की प्रेरणा आदि अनेक बिन्दुओं का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।***

## काललब्धि और पुरुषार्थ

**मुमुक्षु :-** पूज्य बाबूजी! एक प्रश्न है कि करणलब्धि की प्राप्ति पुरुषार्थ करने से होती है या अपने समय पर होती है? काललब्धि आने पर होती है या पुरुषार्थ से होती है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! एक साथ दोनों ही बाते हैं। मोक्षमार्ग तो सारा पुरुषार्थपूर्वक ही होता है। ये मोक्षमार्ग की ओर बढ़ रहा है और करण-लब्धि होने के बाद इसे आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन होने पर मोक्षमार्ग की प्राप्ति होनेवाली है, इसलिए पुरुषार्थपूर्वक ही करणलब्धि होती है और पुरुषार्थ यह है कि जब पुण्य और पाप से भिन्न अपने ज्ञायक के स्वरूप की पहिचान होती है, उसके निर्णय पूर्वक जब उसकी अत्यधिक महिमा वर्तती है, तब जीव करणलब्धि में पदार्पण करता है। करणलब्धि हो जाने पर निश्चितरूप में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, लेकिन वो पुरुषार्थपूर्वक होती है, पर इतना नक्की है कि वो जिस समय होना होता है, उसी समय होती है। उसका नाम होनहार और काललब्धि है।

काललब्धि वास्तव में कोई चीज नहीं है, पर जिस समय जो होना

है, वो तो कार्य है और वह जिस समय हुआ उसका नाम काललब्धि है। कार्य काललब्धि से पहले नहीं होता, लेकिन पुरुषार्थ और काललब्धि का समवाय है। दोनों का एकसाथ आना, वो सदैव बनता है। **इसलिए कोई काललब्धि के भरोसे रहे और पुरुषार्थ न करे तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। जिस समय जिस क्रम में सम्यग्दर्शन प्रगट होना है उसी समय प्रगट होगा – ऐसा जानकर जो पुरुषार्थ छोड़ दे, तो भी सम्यग्दर्शन नहीं होगा। पाँच समवाय बताए हैं न! तो उसमें दोनों आ जाते हैं।**

## पुरुषार्थ अर्थात् वीर्यान्तराय का क्षयोपशम

असल में तो आत्मा के अनंत गुणों की प्रतिसमय जो अनंत पर्यायें होती हैं, वो सब पुरुषार्थपूर्वक ही होती हैं। आत्मा में एक वीर्य नाम का गुण है तो उसकी पर्याय प्रतिसमय चलती है। वो क्षयोपशमरूप होता है, जैसे ज्ञान क्षयोपशमरूप होता है उसी तरह वह भी क्षयोपशमरूप अर्थात् विकासरूप होता है और उसकी पर्याय हर समय चलती है, जो अनंत गुणों की पर्यायों में निमित्त होती है। **इसलिए हर कार्य पुरुषार्थपूर्वक ही होता है, मिथ्यादर्शन का कार्य भी पुरुषार्थ पूर्वक ही होता है, वो मिथ्या पुरुषार्थ है और सम्यग्दर्शन का कार्य भी पुरुषार्थ पूर्वक ही होता है।**

मैं एकमात्र चिन्मात्र ज्ञायक हूँ – ऐसा निश्चय करने वाला जो उपयोग है, वो ज्ञायक के चिंतन में, चिन्मात्र-चैतन्य के चिंतन में तल्लीन होता है। उस समय है तो विकल्पात्मक दशा! **करण लब्धि में ये सब ज्ञान के विकल्प हैं, और उसके साथ राग चलता है, क्योंकि अभी अनुभूति नहीं हुई और ज्ञान की भी विकल्पदशा है, लेकिन वो आत्मा का स्वरूप नहीं है।** विचार दशा माने चिंतन की दशा, लेकिन वो भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिए उसके फल में राग पैदा होता है और जिस समय अनुभूति होती है उस समय संवर-निर्जरा प्रगट होते

हैं। उसमें (उस समय) राग का जन्म होता है। राग का जन्म माने रागरूप अनुभूति नहीं होती, वहाँ राग रहता है लेकिन राग से भिन्न अपने आप को जाना, तो केवल ज्ञायक चिन्मात्र का ही अनुभव होता है। राग का अनुभव वहाँ पर नहीं होता। इसलिए संवर और निर्जरा दोनों एकसाथ प्रगट होते हैं अर्थात् मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

## सम्यग्दर्शन सहज साध्य है या पुरुषार्थ साध्य

जिसने काललब्धि को जाना कि कार्य समय पर ही होगा, अपन जिसे क्रमबद्ध कहते हैं न! इसका यही अर्थ है कि कार्य अपने समय पर ही होगा; समय पर होगा इसलिए कहा है कि किसी अन्य के योग से, अन्य के सहयोग से नहीं होगा – उसका ये अर्थ है। इसलिए सम्यग्दर्शन के संबंध में दो बातें कही जाती हैं। **एक तो ये कि सम्यग्दर्शन सहज-साध्य है और दूसरा यह कहा जाता है कि सम्यग्दर्शन पुरुषार्थ-साध्य है। सहज साध्य है माने बिना किसी की सहायता और बिना किसी की मदद के, बिना किसी के प्रभाव के होता है और पुरुषार्थपूर्वक होता है माने आत्मा जब ज्ञायक का निर्णय कर लेता है, तब उस उपयोग की चिंतनधारा उस समय उसमें तल्लीन होकर चलती है।** तल्लीन होकर माने उसे विषय बनाकर, उसमें तल्लीन माने अनुभूति नहीं लेकिन उसको विषय बनाकर अर्थात् एकमात्र ज्ञायक, एकमात्र चिन्मात्र तत्त्व मैं हूँ – इसप्रकार विकल्पदशा वर्तती है और जब ज्ञायक की अनुभूति होती है तो एकमात्र ज्ञायक और चिन्मात्र मैं हूँ – इसतरह का विकल्प वहाँ नहीं होता, बल्कि चिन्मात्र हूँ – ऐसा जानकर उस चैतन्य के स्वरूप का जैसा निर्णय किया है, पर्याय उसमें तदाकार हो जाती है। चिन्मात्र हूँ – ऐसा विकल्प भी वहाँ पर नहीं रहता है। जैसी वस्तु है ठीक वैसी स्वीकार करके परिणति उसमें निमग्न हो जाती है। इस प्रकार पुरुषार्थ तो प्रतिसमय चलता ही है। इधर पुरुषार्थ चलता है

और उधर काललब्धि है। जब कार्य हो रहा है, उस समय का नाम काललब्धि कि वह अपने समय पर हो रहा है।

## काललब्धि की स्वीकृति में पुरुषार्थ

**मुमुक्षु :-** तो पुरुषार्थ में आलस नहीं होता, और?

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं! पुरुषार्थ करे माने काल के भरोसे न रहे कि जब होना होगा तब होगा, क्योंकि इसका अर्थ ये हुआ कि मुझे क्या करना है? जब होना होगा तब होगा - इसमें प्रायः पुरुषार्थ का अभाव माना जाता है; जबकि असलियत ये है कि इसको जान लेने पर सच्चा पुरुषार्थ जागृत होता है। काललब्धि माने जिस समय कार्य होना है उस समय ही सम्यग्दर्शन होगा - ऐसा जिसने जाना तो उसको विकारी पर्यायों की बात तो दूर रही, लेकिन सम्यग्दर्शन का विकल्प भी टूट जाता है। सम्यग्दर्शन होगा, ये विकल्प भी टूट जाता है क्योंकि वह 'मैं तो ज्ञायक हूँ' - इस धुन में लग गया है। इसलिए वो उस समय सम्यग्दर्शन को भूल जाता है। सम्यग्दर्शन को न भूले और बार-बार उसकी याद आती रहे तो ये करणलब्धि प्रगट ही नहीं होगी, इसलिए उस समय सब पर्यायमात्र ही भुला दी जाती है।

**सम्यग्दर्शन होना है और सम्यग्दर्शन की पर्याय को भुलावे तो सम्यग्दर्शन आता है, सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन को याद करे तो वो उतना ही दूर जाता है। उसका कारण है कि ( मानो सम्यग्दर्शन कहता हो ) मेरा जो स्वामी है उसको तो भूल गया और तू मुझे याद करता है, तो मैं तेरे पास कैसे आ सकता हूँ? जो सर्वोच्च है, उसको तो तू भूल गया! हम तो उसकी केवल पूजा करते हैं, उपासना करते हैं, तो ये उसको तो याद करता है, पुजारी को याद करता है और भगवान को भूल जाता है, तो कैसे होगा? नहीं होगा। उस समय वह काललब्धि की तरफ से विमुख हो जाता है; बल्कि पुरुषार्थ**

**की ओर से कहें तो जो सम्यग्दर्शन की पर्याय प्राप्त होना है, आत्मानुभूति प्रगट होना है, वहाँ उनकी याद भी बिल्कुल नहीं आती। उनकी याद आ जाए तो करणलब्धि नहीं होगी। वहाँ उपयोग का विषय, श्रुतज्ञान का विषय एक मात्र सीधा शुद्धात्मा होता है।**

**मुमुक्षु :-** उपयोग का विषय, श्रुतज्ञान का विषय सीधा एक शुद्धात्मा होता है?

**पूज्य बाबूजी :-** शुद्धात्मा होता है और उसी का चिंतन चलता है। पहले अनेक गुणों से उसकी महिमा आयी न! अब उसकी महिमा आने के बाद एकमात्र अनन्त गुणात्मक सर्वोच्च तत्त्व वही है, तो उसी का चिंतन चलता है; क्योंकि इन सबका काल तो अंतर्मुहूर्त है। करणलब्धि का, प्रयोग्यलब्धि का और सारी लब्धियों का मिलकर अंतर्मुहूर्त काल है। इसलिए ये सारा काम मध्यम अंतर्मुहूर्त में हो जाता है और सम्यग्दर्शन निश्चितरूप में प्रगट होता है, वो पदार्पण करता है।

**मुमुक्षु :-** सोगानीजी कहते थे - मोक्ष होगा तब होगा!

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! होगा तब होगा, लेकिन उसमें मुख्य बात ये है कि मेरा नहीं होगा। होगा तो होगा; अर्थात् मोक्ष है लेकिन मेरा नहीं है। मोक्ष मुझे नहीं होता है - ये मानना आवश्यक है। जब मुझे मोक्ष नहीं होता है तो मैं मोक्ष को याद क्यों करूँ? क्योंकि जो मुक्त है उसका मोक्ष कैसे होगा? जो सदैव-त्रिकाल मुक्त है, उसका मोक्ष नहीं होगा।

## एकांत पक्ष से हानि

काललब्धि और पुरुषार्थ दोनों साथ हैं। काललब्धि को अकेले एकांत से स्वीकार करे तो उसमें प्रमादी होता है और अकेले पुरुषार्थ को स्वीकार करे तो जल्दी करता है। **उसमें क्या होता है कि काललब्धि**

**को स्वीकार न करे और केवल पुरुषार्थ को ही स्वीकार करे, तो उसमें बार-बार ये होता है कि - मैं इतना पुरुषार्थ कर रहा हूँ, लेकिन अभी तक क्यों नहीं हो रहा है? अभी क्यों नहीं हो रहा है? इसका अर्थ ये है कि उसको निर्णय नहीं हुआ और उसका ज्ञान स्वच्छ नहीं है।** अगर ज्ञान स्वच्छ और निर्णायक हो तो ये प्रश्न बीच में पैदा नहीं होता कि मेरा पुरुषार्थ बराबर चल रहा है कि नहीं? पुरुषार्थ जिस गति से चल रहा है उसी गति से काम होना है, तो वो अपने समय पर होना है। अगर पुरुषार्थ की गति तीव्र हो तो काम जल्दी हो जाता है। यदि पुरुषार्थ की गति मंद हो तो उसमें थोड़ा समय लगता है। उसी को काललब्धि कहते हैं कि जिस समय होना है उस समय होगा और पुरुषार्थ की धारा भी उसी गति से चलेगी। उसमें ये क्या और क्यों का प्रश्न पैदा नहीं होता है।

अकेले पुरुषार्थ को स्वीकार करे, काललब्धि को स्वीकार न करे तो बार-बार विकल्प पैदा होंगे कि और क्या पुरुषार्थ करना है? ज्ञायक का, ज्ञायक का, ज्ञायक का ही चिंतन एकदम एकसाथ कर रहा हूँ, पर फिर भी क्यों नहीं हो रहा है? तो उसका ज्ञान स्वच्छ नहीं है। उसका ज्ञान अब भी गंदा है, माने निर्णायक नहीं है। निर्णायक ज्ञान में एक भी प्रश्न पैदा नहीं होता; माने उसको तीनलोक और तीनकाल का और अपनी आत्मा का और आत्मा की त्रिकाल पर्यायों का, सबका सर्व-समाधान वर्तता है - उसको निर्णय कहते हैं। उसमें तीनलोक संबंधी एक भी प्रयोजनभूत प्रश्न बाकी नहीं रहता। सबका उत्तर उसके ज्ञान के पास रहता है, इसलिए ज्ञान को सर्व-समाधानकारी कहते हैं।

**मुमुक्षु :-** ज्ञान में समाधान वर्तता है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! समाधान वर्तता है। समाधान वर्तता है इसलिए काललब्धि या पुरुषार्थ के संबंध में कोई प्रश्न पैदा नहीं होता।

**मुमुक्षु :-** माने एक ही पर्याय के दो पहलू हैं? अगर इस तरफ से देखें तो पुरुषार्थ और अगर उस तरफ से देखें तो काललब्धि?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! एक ही पर्याय के दो पहलू हैं - उधर काल की तरफ से देखें, समय की माने काल द्रव्य की पर्याय की ओर से देखें, **तो जिस समय जो होना है उस समय वो हो जाता बस! उसी गति से पुरुषार्थ चलता है, इसलिए क्यों और क्या का प्रश्न उसमें पैदा नहीं होता क्योंकि उसमें तो आकुलता होती है।** जैसे अपन कहते हैं न कि हम सब समझ भी गए हैं, हमको आनंद भी होता है लेकिन फिर भी काम क्यों नहीं होता? तो ये अपने आप के साथ cheating (बेईमानी) है, क्योंकि हम पुरुषार्थ करें और कार्य न हो - ऐसा तो अनादि-अनंतकाल में एक भी उदाहरण नहीं है, क्योंकि ये पुरुषार्थ सार्थक होता है, productive (उत्पादक) होता है, क्योंकि इसका फल अवश्य तत्काल होता है। हमने अगर वास्तविक पुरुषार्थ किया होता तो तत्काल उसका फल आता! लेकिन हम वो पुरुषार्थ करते नहीं हैं, हम केवल पुरुषार्थ का और आनंद का विकल्प करते हैं तो आनंद नहीं आता बल्कि आनंद का विकल्प आता है कि आनंद आया - ऐसा विकल्प होता है, पर आनंद नहीं आता, इसलिए वो बात कृत्रिम है, झूठी है,वरना ये प्रश्न पैदा ही नहीं होता है न! जिसने निर्णय किया है और जिसका ज्ञान सर्वसमाधानकारी हो गया है तो उसको एक भी प्रश्न नहीं होता।

## अनुभव के पहले केवलज्ञान जैसा समाधान और महिमा पूर्वक निर्णय

**मुमुक्षु :-** अनुभव के पहले ज्ञान समाधानकारी हो जाता है।

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! उस श्रुतज्ञान को सम्यग्दर्शन होने के पहले केवलज्ञान जैसा समाधान हो जाता है। अब प्रयोजनभूत के बारे में यहाँ भी कोई प्रश्न नहीं उठता।

**मुमुक्षु :**– फिर निर्णय के बाद जब महिमा आती है तब गाड़ी सीधी तरह से चलती है ?

**पूज्य बाबूजी :**– निर्णय के बाद महिमा..... ! निर्णय भी महिमापूर्वक ही होता है, क्योंकि निर्णय क्यों करेगा उसका ? अगर महिमा नहीं होगी तो उसका निर्णय करने की कहाँ आवश्यकता है ? इसलिए पक्का निर्णय होता है।

**मुमुक्षु :**– और पहले जो आपने बोला कि ज्ञान का धर्म हेय–उपादेय है वो पहली बात है ?

**पूज्य बाबूजी :**– वो तो उसका पहला धर्म है ही सही ! इसलिए जो उपादेय नहीं है, अज्ञान दशा में वो उसको उपादेय जानता है और ज्ञानदशा होने पर सच्चे उपादेय का पता लग जाता है, उसकी महिमा का पता लग जाता है, तो ज्ञानधारा उस तरफ चल पड़ती है, बेरोक चल पड़ती है। उस ज्ञानधारा को रोकनेवाला जगत में कोई तूफान नहीं है।

**मुमुक्षु :**– जो आत्मा की महिमा करती है उस ज्ञानधारा को रोकनेवाला कोई तूफान नहीं है !

**पूज्य बाबूजी :**– कोई तूफान जगत में नहीं है, किसी की ताकत नहीं है। तीन लोक और तीन काल में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है कि जो उसको रोक सके। कर्म भी सब सीधे हो जाते हैं। कहलाते हैं घातिया, घातिया माने घात करनेवाला – ये सब घातिया कहलाते हैं लेकिन सब सीधे हो जाते हैं। ज्ञान उनको एक क्षण में सीधा कर लेता है कि तुम कौन होते हो ? तुम मेरे लगते कौन हो जो मैं तुम्हारे अनुसार चलूँ ? **इसलिए अज्ञान दशा में भी उसकी उदयानुसार प्रवृत्ति नहीं होती है। ये तो अज्ञानदशा की बात है। अब अपने को उसको अज्ञान कहने में ही शर्म आती है, इसलिए उसको सविकल्प स्वसंवेदन कहते हैं। ज्ञान**

**की जो करणलब्धि वाली दशा है उसको सविकल्प स्वसंवेदन कहते हैं।** अब अज्ञान कहने में अपने को शर्म आती है कि ये तो सिंहासन पर जा रहा है। इसका तो राज्याभिषेक होनेवाला है, तो इसको हम अज्ञान कैसे कहें ? है तो राजकुमार लेकिन कल ही राजा बननेवाला है, तो अब आज से ही राजा कहने लगते हैं।

**मुमुक्षु :**– प्रतीति में फर्क नहीं है, लेकिन आनंद का वेदन नहीं है, मात्र इतना ही है न बाबूजी, सविकल्प स्वसंवेदन में ?

**पूज्य बाबूजी :**– सविकल्प आनंद है मगर वो इंद्रिय–विषय जैसा नहीं है। आनंद भी सविकल्प है पर ये लौकिक विषयों जैसा नहीं है। हाँ! उस उपयोग का मुँह ज्ञायक की ओर हो गया है, इसलिए उस ज्ञायक के चिंतवन से जो आनंद होना चाहिए, वैसा आनंद होता है, तब अनुभूति होती है। पूरी परीक्षा के बाद अनुभूति होती है, यूँ समझ लेना चाहिए; कि अब ये इस योग्य है कि इसे सम्यग्दर्शन दे दिया जाए।

## आगम और अध्यात्म के नय

**मुमुक्षु :**– एक प्रश्न है, अध्यात्मनय किसे कहते हैं ?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! अध्यात्मनय माने जिसमें परवस्तु विषय नहीं होती – वे अध्यात्मनय हैं; वे आत्मा में ही लगते हैं। जैसे यह राग–द्वेष आत्मा के हैं – यह असद्भूत व्यवहार है; और ज्ञान आत्मा का है यह सद्भूत व्यवहार है। इसतरह से अध्यात्मनय में ये होता है; और आगम के जो नय होते हैं वो परवस्तु से चलते हैं कि परवस्तु मेरी है – ये असद्भूत व्यवहार है। वो भी जब तत्त्व निर्णय होता हो, तब! कोई यूँ ही कह दे कि ये व्यवहारनय है, ये निश्चयनय है – ऐसा नहीं है। तत्त्व का निर्णय हो गया हो, तब वो ऐसा बोले कि ये मेरा मकान है, ये मेरा घर है, ये मेरा परिवार है, तब वो व्यवहार है।

**मुमुक्षु :-** माने आत्मा की ओर से चले तो अध्यात्मनय और पर की ओर से चले तो आगम नय ?

**पूज्य बाबूजी :- हाँ! आगम की ओर चले तो फिर परपदार्थ में भी निश्चय-व्यवहार लगता है। जैसे राग का कर्ता आत्मा है - ये हुआ निश्चय; और राग का कर्ता कर्म है - ये व्यवहार हो गया।**

अध्यात्म में ऐसा नहीं होता! अध्यात्म में तो आत्मा रागी है - ये असद्भूत व्यवहार है क्योंकि राग आत्मा में नहीं है। जैसे परपदार्थ आत्मा में नहीं हैं इस तरह राग भी आत्मा में नहीं है, इसलिए उसको असद्भूत कहते हैं और वहाँ आगम में उसको सद्भूत कहेंगे।

## केवली समुद्घात का स्वरूप

**मुमुक्षु :-** और एक प्रश्न अंत में जानने का है कि - केवली के समुद्घात के समय आत्मप्रदेश तीनों लोक में फैल जाते हैं। क्या उन प्रदेशों का स्पर्श सभी जीवों को होता है ? माने मूल में समुद्घात कैसे होता है ? - ये प्रश्न का मध्यबिन्दु लगता है।

**पूज्य बाबूजी :-** असल में तो क्या है कि जब केवली भगवान समुद्घात करते हैं तो उसमें चार विकल्प होते हैं यानि चार भेद होते हैं और उसका जो अंतिम भेद है लोकपूरण, उसमें आत्मा के प्रदेश सारे लोकाकाश में फैल जाते हैं। अब उसमें जितने भी और दूसरे जीव हैं तो वो सब उसमें आ जायेंगे, क्योंकि प्रदेशों में कोई ऐसा संकोच नहीं होता कि वो किसी के भीतर प्रवेश न कर सकें। इसलिए सब उसमें आ जाते हैं, पर उससे क्या साध्य है ? उससे अपने को क्या लेना-देना है ? केवली भगवान के प्रदेश हमारे भीतर आ गए तो हमको कोई केवलज्ञान नहीं हो जाएगा या कोई वास्तविक श्रुतज्ञान नहीं हो जाएगा।

उसके चार भेद हैं। पहला है दंड, प्रतर, कपाट और लोकपूरण - ये

चार भेद केवली समुद्घात के होते हैं और वो उस समय होता है कि जब आयु कर्म तो निकट होता है और बाकी जो तीन अघातिया कर्म हैं, उनकी स्थिति ज्यादा होती है। जब आयु कर्म तो पूरा होने को होता है माने आयु तो पूरी होने की होती है, मोक्ष जाने का समय....।

**मुमुक्षु :-** समय हो चुका है।

**पूज्य बाबूजी :-** समय हो चुका नहीं मगर हो जल्दी जाएगा, तो आयु तो कहेगी चलो, लेकिन तीन कर्म अभी बाकी हैं, क्योंकि उनकी स्थिति अभी लंबी है। नाम, गोत्र और वेदनीय। इन तीन कर्म की स्थिति लंबी होती है, तो उन तीन कर्मों की स्थिति को आयु कर्म के बराबर करने के लिए केवली भगवान को सहज में ये समुद्घात होता है। करते हैं - ऐसा नहीं बल्कि स्वाभाविक होता है। तो उसमें क्या होता है कि उन तीन कर्मों की स्थिति आयु कर्म के बराबर हो जाती है और तब आयु कर्म पूरा होते ही भगवान अयोगी बनकर मोक्ष चले जाते हैं।

जैसे कपड़ा है न! तो कपड़ा धोया और हमने निचोड़कर रख दिया। तो उसको सूखने में बहुत टाइम लगेगा। दो दिन लग जायें या चार दिन लग जायें और उसको फैलाकर हमने सुखा दिया तो वो बहुत जल्दी सूख जाता है। इसतरह से वो प्रदेश फैल गए तो उससे कर्म की स्थिति आयु कर्म के बराबर हो जाती है, क्योंकि चारों कर्मों की स्थिति बराबर हो तब मोक्ष जाने का नियम है। वरना फिर वे कर्म सहित ही मोक्ष जायेंगे, लेकिन वो तो संभव नहीं है।

## स्व-समय एवं पर-समय

**मुमुक्षु :-** दूसरी गाथा में कहा है कि ज्ञान की पर्याय एकत्वपूर्वक युगपत् जानती हुई परिणमती है, उसका थोड़ा सा स्पष्टीकरण कीजिए?

**पूज्य बाबूजी :- वो तो 'समय' शब्द की व्याख्या आई न कि**

**जो जानता है और गमन करता है माने परिणमन करता है, समय की ऐसी व्याख्या आयी न! तो इसमें उसको घटाया है। जो जानता भी है और परिणमन भी करता है। परिणमन करता है अर्थात् जाननेरूप परिणति होती है – ये परिणमन! चारित्र की भी परिणति होती है। परिणमन माने, परिणमन तो सबका होता है; और जानना माने जानता भी है, क्योंकि आत्मा में अन्य द्रव्यों से विशेषता है न! कि ये जानता है और परिणमन भी करता है। दूसरे द्रव्य जानते नहीं हैं लेकिन परिणमन करते हैं। तो इसलिए दोनों इसमें घटाना पड़ेगा न कि जानता है, स्व को जानता है, पर को जानता है, सारे लोकलोक को जानता है और परिणमन भी करता है। माने मिथ्यादृष्टि हो तो वो मिथ्यात्वरूप परिणमन करता है। सम्यग्दृष्टि हो तो सम्यक्त्वरूप, सम्यग्ज्ञानरूप परिणमन करता है – इसतरह से घटाया है।**

एकत्वपूर्वक तो स्वसमय की बात है न! इसलिए यहाँ तो सम्यग्दर्शन की बात लेना। स्वसमय वह है कि जो एकत्वपूर्वक परिणमन करता हुआ जानता है। तो एकत्वपूर्वक शुद्धात्मा को जानता भी है कि ये मैं हूँ और परिणमन करता है माने तद्रूप परिणमन करता है। मैं ज्ञायक, मैं ज्ञायक, मैं ज्ञायक – उसका नाम परिणति! परिणति में भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तीनों आ जाते हैं और परिणमन करने में सभी गुणों का परिणमन आ जाता है।

**मुमुक्षु :–** तो एकत्वपूर्वक एक ही समय में जानना और परिणमन होता है?

**पूज्य बाबूजी :–** हाँ होगा न! क्यों नहीं होगा? जाना, तो जानना भी तो परिणमन ही है न! जाननेरूप उपयोग जो है, उसको परिणति भी कहते हैं। उपयोगरूप परिणति – ऐसा मोक्षमार्ग प्रकाशक में आता है न!

उपयोगरूप परिणति पर–घर जावे और वो निर्दोष बनकर जावे तो उसमें कोई दोष नहीं है। माने राग–द्वेष लेकर न जावे तो उसमें कोई दोष नहीं है। ऐसे टोडरमलजी ने सातवें अध्याय में बताया न – उपयोगरूप परिणति! वहाँ उसको परिणति नाम दिया है।

जानना, परिणमन करना – दूसरी गाथा में ये दोनों, समय की ओर से सिद्ध किए हैं – 'अय' धातु है न। 'सम' 'अय' याने कि एक ही साथ। 'सम' माने एक ही साथ जो जानता भी है और परिणमन भी करता है, क्योंकि 'जानता है', इसमें परिणमन शामिल है। लेकिन सामान्यरूप से देखें तो जानता है बस! एक तरह से उसमें परिणमन नहीं आता, तो वो जानता भी है और परिणमन भी करता है अर्थात् प्रतिसमय बदलता भी है। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सारे गुणों का परिणमन होता है।

**मुमुक्षु :**– तो बाबूजी! बिना एकत्व के जानना नहीं हो सकता क्या?

**पूज्य बाबूजी :**– बिना एकत्व जानना नहीं होता। एकत्वपूर्वक ही जाने, ये ही मैं हूँ – इसका नाम एकत्व है।

**मुमुक्षु :**– तो जानने में भी दोष लगने की गुंजाइश है क्या?

**पूज्य बाबूजी :**– नहीं! स्वसमय है न! स्वसमय की चर्चा है, इसलिए यह जानना केवलज्ञान की तरह बिल्कुल निर्दोष है। एकत्वपूर्वक जानता है, भगवान एकत्वपूर्वक ही जानते हैं।

**मुमुक्षु :**– पर अज्ञान से कोई ऐसा सोचे कि मैं पर को जानूँ! और उसमें एकत्व तो होता नहीं है – ऐसा भी कहा है न!

**पूज्य बाबूजी :**– नहीं, वो तो पर–समय है न! वो पर–समय है इसलिए उसमें तो अनेक दोष हैं। पर वहाँ भी जानना और परिणमन करना रुकता नहीं है। यानि परिणमन करता है! मिथ्यात्वरूप, अज्ञानरूप,

मिथ्याचारित्ररूप, अनेकरूप परिणमन करता है और जानता भी है, लेकिन पर समय में सारा अज्ञान है, क्योंकि वो बताया न कि पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है। वो भी थोड़ी गहरी बात है कि पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है; तो वो पर-समय है - ऐसा बताया है।

**मुमुक्षु :-** तो ये कर्म के उदय में स्थित होता है, ये किस तरह होता है?

**पूज्य बाबूजी :-** उसका अर्थ ये है कि वो ये मानता है कि ये जो कर्म हैं, इनके उदय में ये सारा काम मेरे में हो रहा है, तो वो सदा कहाँ रहता है? कि वो कर्म के उदय में रहता है। ये पूछा जाए कि अज्ञानी हमेशा कहाँ रहता है? उसका घर कौनसा है? कि वो पुद्गल कर्म के प्रदेशों में रहता है। अर्थात् पुद्गल कर्म के उदयानुसार ही उसकी वृत्ति होती है क्योंकि वो ऐसा मानता है। वो मानता है इसलिए परिणति भी इसी तरह की होती है। वो जानता है इसलिए परिणति भी इसी प्रकार की अर्थात् मिथ्यात्वरूप होती है - जब वो जानना बंद हो जाए अर्थात् कर्म मेरा कुछ नहीं लगता - ऐसा माने और कर्म के अनुसार परिणमन करना मेरे लिए बिल्कुल अयोग्य और अनुचित कार्य है; और आवश्यक नहीं है कि मैं कर्म के उदय के अनुसार परिणमन करूँ - ऐसा जब जानता है तब (पर-समय नहीं होता) लेकिन उसने कर्म के साथ जो संबंध बनाया था कि कर्मोदय के अनुसार ये सब करना होगा, तो जैसा कर्म का उदय होगा उसी के अनुसार परिणति होगी।

लोक में जैसे हमको ये कह दिया जाए.....कोई सज्जन व्यक्ति हो और उसके लिए ये कह दिया जाए कि ये व्यक्ति बहुत दुष्ट है, इससे बचकर रहना। तो अपने को जब कभी वो मिलेगा, तभी दूर से देखते ही अपने को भय पैदा होगा, क्योंकि अपन ने मान लिया है न कि ये व्यक्ति दुष्ट है। है वो सच्चरित्र, लेकिन हमने किसी के कहने से ये मान

लिया कि ये व्यक्ति दुष्ट है, तो जब भी वो हमें दूर से भी दिखायी देगा तो हम बिल्कुल कटकर चलेंगे। वो सड़क के एक किनारे होगा तो हम दूसरे किनारे से निकलेंगे अथवा दिशा बदल लेंगे अथवा वापस हो जायेंगे, कुछ भी करेंगे। लेकिन ऐसा माना है इसलिए तत्काल भय की परिणति होगी। इसी तरह यहाँ भी इसको कर्म के प्रदेशों की परिणति मानेंगे – दूसरी गाथा में इसी को पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित कहा है।

जैसे जो व्यक्ति मदिरा पीता है वो हमेशा कहाँ रहता है? कि वो मदिरा की खिड़की पर। अगर वो घर भी आता है, घर आकर सोता भी है लेकिन उसके घरवालों से पूछा जाए कि ये कहाँ रहता है? तो वे बोलेंगे कि ये घर में तो सिर्फ दिखाई देता है, लेकिन ये तो वहाँ खिड़की पर ही रहता है। इसी तरह अज्ञानी हमेशा कर्मोदय में रहता है, क्योंकि उसने ऐसा माना है। जिस दिन, जिस क्षण ये मानना छूट जाएगा उसी समय उदयानुसार प्रवृत्ति बंद होकर उपयोग स्व–शुद्धात्मा की ओर लग जाएगा, उसके चिंतन में लग जाएगा। उसी क्षण उसकी परिणति स्वतंत्र होगी और वो शुद्धात्मा का चिंतन करने लगेगा। गुरु का उपेदश मिल ही जाएगा।

सबसे पहली बात ये है कि उसने ऐसा माना है, उसने ऐसा जाना है और जिस समय ऐसा मानना और जानना छोड़ देगा उसी समय से उसकी विपरीत दिशा कर्म से हट कर शुद्धात्मा की ओर हो जाएगी। पर पहले ये माने कि कर्म मेरा कुछ नहीं लगता और उसका कोई योगदान मेरे राग–द्वेष में नहीं है। कर्म कुछ करता तो बिलकुल नहीं, पर उसका सहयोग और प्रभाव भी मेरे राग–द्वेष के परिणमन में नहीं है। इस तरह मैं राग–द्वेष के परिणमन में स्वतंत्र हूँ। लेकिन....यहाँ भी full stop नहीं हुआ, पूर्ण विराम नहीं हुआ। मैं जब राग–द्वेष करता हूँ तब कर्म का उदय

रहता है, लेकिन कर्म के उदयानुसार राग-द्वेष करना पड़े - ऐसा बिल्कुल नहीं है। जैसे जब सूर्य का उदय रहता है तो उल्लू आँख बंद करता है, लेकिन सूरज उल्लू की आँख बंद नहीं करता बल्कि सूरज का उदय होते ही उल्लू आँख बंद कर लेता है। यहाँ भी शुद्धात्मा का सूर्य तप रहा है और अज्ञानी उल्लू की आँख बंद है।

अज्ञानी जिस समय सबसे पहले यह जान ले तब यहाँ से काम शुरू होगा। कर्म को हटाने से शुरू नहीं होगा, लेकिन यहाँ से प्रारंभ होगा कि सचमुच कर्म का और मेरा रंचमात्र भी संबंध नहीं है। उसका उदय अलग चीज और मेरे परिणाम बिल्कुल भिन्न-अलग हैं। इनमें मेरी स्वाधीनता है कि मैं राग करूँ अथवा न करूँ, मैं अज्ञानरूप परिणत होऊँ अथवा न होऊँ, मैं मिथ्यादर्शनरूप परिणति करूँ अथवा न करूँ - ये मेरी स्वाधीनता है। इसमें कर्म का कोई हिस्सा बिल्कुल नहीं है। यहाँ से शुरू करे तब फिर उसने जो कर्म से कर्ता-कर्म का कृत्रिम संबंध बनाया था कि उधर कर्म का उदय और इधर मेरा मिथ्यात्व और राग-द्वेष; वो संबंध टूट जाता है।

**मुमुक्षु :-** जानना और परिणमना शब्द लिया, तो वो जाननभावरूप process (प्रक्रिया) में जाननभाव और परिणमना होता है?

**पूज्य बाबूजी :-** जानना माने सामान्य जानना, आत्मा को जानना। स्वसमय की बात है न! तो उसमें आत्मा को जानना और परिणमन करना। परिणमन करना माने एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा इस तरह से परिणमन! ये परिणमन करना तो सब में होगा। सम्यग्दर्शन में भी होगा, सम्यग्ज्ञान में भी होगा, सम्यक्चारित्र में भी होगा, सारे गुणों में परिणमन होगा।

**मुमुक्षु :-** वो एकत्वपूर्वक है, लेकिन जानना और परिणमना जब लेते हैं तो मात्र जानना और परिणमना, वो जाननभाव में लगा सकते हैं?

**पूज्य बाबूजी :**– जाननभाव में जानना भी है और परिणमना भी है – वो दोनों हैं – वो सामान्यरूप में जानना भी और वो परिणति भी है। उपयोग भी परिणति है और दूसरी भी परिणतियाँ हैं, अन्य भी परिणतियाँ हैं। स्वसमय में तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आता है न! और सम्यक्चारित्र का अंश आता है।

## ज्ञानत्व सामान्य और ज्ञेयाकार विशेष

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! 1976 के आत्मधर्म में आपका ज्ञान स्वभाव पर एक लेख है पूरा, इसमें आपने लिखा है कि ज्ञेयाकार परिणति ज्ञान का विशेष भाव है और उसी ज्ञेयाकार परिणति में ज्ञानत्व का अन्वय उसका सामान्यभाव है?

**पूज्य बाबूजी :– तो हो गया न! ज्ञेयाकार परिणति माने वही 'प्रतिभास'। वो तो विशेष है और वो सारा का सारा जाननभाव भी है – वो सामान्य हो गया है, पर्याय के ही सामान्य-विशेष हो गए।**

**मुमुक्षु :**– ज्ञानत्व का अन्वय बोलते हैं?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! ज्ञानत्व का अन्वय।

**मुमुक्षु :**– अन्वय मतलब?

**पूज्य बाबूजी :**– अन्वय माने उसका जोड़रूप! माने एक के बाद एक जाननारूप चलना, जाननभावरूप प्रवाह – ऐसा; वो सामान्य है।

**मुमुक्षु :**– वो पर्याय का सामान्य?

**पूज्य बाबूजी :**– सामान्य है, पर्याय का सामान्य।

**मुमुक्षु :**– वो धारावाहिक है?

**पूज्य बाबूजी :**– धारावाहिक है, लेकिन टूटकर चलता है, एक-

एक करके चलता है –सदृश नहीं है, सदृश तो द्रव्य के लिए कहा जाता है। ये तो विसदृश है। विसदृश माने बीच–बीच में एक पर्याय हुई, फिर उसका व्यय हुआ, फिर दूसरी पर्याय आई, इसलिए इसको व्यतिरेक कहते हैं। व्यतिरेक माने उत्पन्न होना और अभाव होना, उत्पन्न होना और अभाव होना – जो ज्ञान–सामान्य है वह तो सारा का सारा ज्ञान ही है। वही, जैसे अपन चर्चा करते आए हैं कि ये सारे के सारे जितने भी जो प्रतिभास हो रहे हैं, वे क्या हैं ? ज्ञान ही हैं बस और क्या हैं ? और कुछ नहीं हैं, बस ज्ञान ही हैं – इन विकल्पों को भी तोड़कर (उपयोग) जब ज्ञायक में जाता है तो निर्विकल्प हो जाता है। वो निर्विकल्प दशा है।

**मुमुक्षु :**– माने एक ही ज्ञान की पर्याय का स्वरूप स्वच्छता भी है, ज्ञातृत्व भी है, एकत्व भी है। तो कितने–कितने....भाव हैं ?

**पूज्य बाबूजी :**– ये सब एक ही पर्याय का नहीं हुआ। एकत्व तो अज्ञान में पुद्‍गल के साथ, कर्म के साथ है।

**मुमुक्षु :**– वो नहीं कह रहा मैं। मेरा प्रश्न अलग है कि – ज्ञान की पर्याय को स्वरूप से देखा जाए, तो ज्ञान की पर्याय का स्वरूप स्वच्छ भी है, जानना भी है, एकत्वरूप परिणमित भी होना, वह भी है ?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ ! बिल्कुल है ! बिल्कुल है ! निर्मल भी है, सब है। स्वच्छ भी है, निर्मल भी है। जानना भी है और एकत्वपूर्वक परिणमन करना भी है। एकत्वपूर्वक परिणमन करता है तभी तो आनंद का जन्म होता है। जानना सामान्य है और शुद्धात्मा को एकत्वपूर्वक जानना, वो विशेष हुआ।

**मुमुक्षु :**– तो उसका एकत्व कैसे हो सकता है ?

**पूज्य बाबूजी :**– एकत्व माने ज्ञायक की महिमा। एकत्व दोनों से है न ! इधर तो जगत से एकत्व है, कर्म से एकत्व है। कर्म से एकत्व है

तो सारे जगत से एकत्व है, रागादिक से एकत्व है और पर्याय मात्र से एकत्व है और इधर जो है वो केवल शुद्धात्मा से एकत्व है।

**मुमुक्षु :**- माने अभेद से एकत्व है ?

**पूज्य बाबूजी :**- अभेद से माने शुद्धात्मा से ! शुद्धात्मा से एकत्व है - एकत्व माने उसके साथ एकत्व पूर्वक अभेद होना, लेकिन ऐसा माने कि यही मैं हूँ - ये मेरा है - ये एकत्व नहीं है। यही मैं हूँ - इसका नाम एकत्व है - एकत्व परिपूर्णपने होता है और परिपूर्ण की ओर ही होता है। परिपूर्ण के प्रति होता है, इसलिए एकत्व भी परिपूर्ण है क्योंकि वो अपने को परिपूर्ण जानता हुआ परिणमित होता है। इस प्रकार जानना और परिणमन करना, दोनों आ गए न !

**मुमुक्षु :**- जिसमें परिपूर्णता न हो उससे ज्ञान की पर्याय एकत्व नहीं कर सकती ?

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ ! जिसमे परिपूर्णता न हो पर्याय उसमें एकत्व नहीं करती; एकत्व करने की शक्ति तो है, पर वो मिथ्यादर्शन में एकत्व करती है।

**मुमुक्षु :**- इसका मतलब ये हो गया कि वो भेद से एकत्व नहीं कर सकती ?

**पूज्य बाबूजी :**- भेद में एकत्व है ही नहीं। जब वो अभेद मिल गया यानि उन सबका समुदाय मिल गया, उन सबका एक कोष मिल गया तो वो एक से एकत्व क्यों करेगा ? और अंश में करके उसे क्या मिलनेवाला है ? भाई ! आत्मा का विधान ऐसा है कि आत्मा के गुण यद्यपि न्यारे-न्यारे हैं, अर्थात् सबका स्वरूप न्यारा-न्यारा है, पर न्यारा-न्यारा होने पर भी उन सबमें एक ऐसा रूप है कि एक गुण में अनंत गुण का रूप रहता है। इस तरह वो सारे के सारे इस तरह संगठित हैं कि उनमें से किसी एक

गुण को हम उपयोग के द्वारा आमंत्रित करना चाहें invite करना चाहें तो वो आएगा नहीं। वो बोलेगा कि मैं अकेला नहीं आता हूँ, यदि सबको आमंत्रित करोगे तो मैं आऊँगा; और सबको आमंत्रित करना माने एक शुद्धात्मा को आमंत्रित करना, क्योंकि उसमें सब समाहित हो जाते हैं – आत्मा की ऐसी सुंदर व्यवस्था हैं, क्योंकि एक गुण अकेला नहीं आता, वह तो सबसे बंधा हुआ है तुम उसे तोड़ने की कोशिश करते हो, उसके घर में फूट डालने की कोशिश करते हो, वो चलनेवाला नहीं है।

**मुमुक्षु :**– माने श्रद्धा गुण के अंदर सोचें तो...... ।

**पूज्य बाबूजी :**– श्रद्धा गुण में तो सोचना नहीं होता है।

**मुमुक्षु :**– नहीं ! श्रद्धा गुण के स्वरूप को सोचने की बात है। श्रद्धा गुण का स्वरूप अगर ज्ञान से सोचें तो श्रद्धा गुण के साथ अन्य गुणों के रूप से रूपित होती हुई श्रद्धा की पर्याय दिखती है ?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ ! अन्य गुणों से नहीं। अन्य गुणों से समन्वित जो एकत्व है, एक शुद्धात्मा उनरूप है। एक गुणरूप नहीं, इसलिए तो सातवीं गाथा में बताया न कि आत्मा में दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है। वो जो गुण के आश्रित होनेवाला मिथ्यादर्शन था और अज्ञान था, उन दोनों को तोड़ने के लिए आचार्य ने इतना इन्कार किया कि आत्मा में दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है। तू दर्शन–ज्ञान–चारित्र में ही अटका हुआ था अर्थात् तेरा चिंतन केवल दर्शन–ज्ञान–चारित्र को लेकर चलता था। मैं दर्शन स्वरूप हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं चारित्र स्वरूप हूँ बस तू यही–यही करता था और ज्ञायक की ओर तेरी दृष्टि नहीं थी। इसलिए तू इसको बिल्कुल भूल जा एकदम, कि मैं दर्शन भी नहीं हूँ, ज्ञान भी नहीं हूँ, चारित्र भी नहीं हूँ बल्कि मैं तो एकमात्र ज्ञायक हूँ। बस ! तू उनका विस्मरण कर एक बार, बिल्कुल भूल जा। गुणों को बिल्कुल भूल जा, तो वो हो जाएगा।

**मुमुक्षु :-** माने कि मिथ्यादर्शन गुणों के आश्रय से होनेवाला.... ?

**पूज्य बाबूजी :-** मिथ्यादर्शन...हाँ! और गुणों के आश्रय से होनेवाला अज्ञान!

**मुमुक्षु :-** एक तो पर्याय-भेद में अटकता है और आगे आकर गुण-भेद में अटकता है ?

**पूज्य बाबूजी :-** आगे गुण-भेद में अटकता है।

**मुमुक्षु :-** उस ज्ञान की इस प्रकार की ताकत है कि वो भेद से निकल जाता है ?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ निकल जाता है न! सद्गुरु का एक जबरदस्त योग मिला है न! वो तो एकदम वज्र गिरा थी, नहीं टलने वाली, ऐसी बात थी। सद्गुरु का योग कोई सामान्य नहीं होता! कि उनकी वज्र-गिरा कोई झेल सके कि तू पहले तो एकदम सब कुछ भूल और तू केवल चैतन्य है - ये स्वीकार कर और सब भूल जा, सारे जगत को भूल जा, अपनी सारी पर्यायों को भूल जा, सारे गुणों को भूल जा। तू एक चिन्मात्र है बस - इतना याद रख तो काम होता है। तो वो वज्र-गिरा है न! अर्थात् सारे जगत को भूलना, अपने गुणों को भूलना, अपनी पर्यायों को भूलना, ये बात सामान्य है क्या ?

**मुमुक्षु :-** और वो भी अनदेखा आत्मा! देखा होता तो सही था ?

**पूज्य बाबूजी :-** अनदेखा माने ? इसको देखना ही कहते हैं। मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञान में उसका जो स्वरूप निश्चित किया, इसको देखना ही कहते हैं।

देखना शब्द दो अर्थों में आता है। एक दर्शनोपयोग के संबंध में देखना आता है। और दूसरा ज्ञान में भी देखना शब्द आता है। जैसे हम चक्षु से देखते हैं, कान से सुनते हैं, नाक से सूँघते हैं - ये सब जानना ही

है – अलग-अलग इंद्रियों का अलग-अलग व्यापार बताने के लिए अलग-अलग नाम दिए गए हैं।

## ज्ञान के परिणमन में उत्पाद व्यय ध्रौव्य

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! ये ज्ञेयाकार परिणति में उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5, सूत्र 30) कैसे सिद्ध करें?

**पूज्य बाबूजी :**– हो तो रहा है। ज्ञेयाकार परिणति माने ज्ञान की परिणति। उसमें उत्पाद और व्यय हो गया और उसने ध्रुव शुद्धात्मा को जो ध्येय बनाया तो वो ध्रौव्य हो गया।

**मुमुक्षु :**– वो तो अनुभूति के समय में है न?

**पूज्य बाबूजी :**– अनुभूति के समय क्यों? हमेशा ही है। पहले भी है और हमेशा ही है। फिर तो प्रतिसमय ही है, क्योंकि स्वरूप को जान गया न! तो जानने के बाद स्वरूप का जो बोध हुआ है वो निकलता थोड़े ही है। इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य प्रतिसमय है। वो तो मिथ्याज्ञान के समय भी है। वो तो वस्तुमात्र में है, अचेतन में भी है। जो सत् है वो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होता है। सद्द्रव्यलक्षणम् (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5 सूत्र 29) द्रव्य का लक्षण सत् है और जो सत् है वो त्रिवेणीवाला होता है – उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एक ही समय में है, वो तो वस्तु-व्यवस्था है।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! जो सत् है वो ज्ञायक की बात हुई न, त्रिकाली ज्ञायक की बात हुई न?

**पूज्य बाबूजी :**– जो भी अर्थ अपन लें....अपन अपने सत् की बात कर रहे हैं तो त्रिकाली ज्ञायक की बात हुई और जगत के सत् की बात कर रहें हैं तो वो अज्ञान है। ज्ञान हो जाए तब तो अज्ञान नहीं है, जगत की बात करे तो भी सम्यग्ज्ञान है। जगत के परिणमन की बात करे, जगत

की ध्रुवता की बात करे, विकल्प तो आते ही हैं; वो तो व्यवहारनय है। व्यवहारनय है यानि व्यवहार ज्ञान है, लेकिन है सम्यग्ज्ञान! क्योंकि उसमें स्व और पर के स्वरूप में कतई भूल नहीं है, जरा सी भी भूल नहीं है, इसलिए परत्व पूर्वक परिणमन होता है।

**मुमुक्षु :**– वाह रे वाह! परत्वपूर्वक परिणमन?

**पूज्य बाबूजी :**– पर जानते हुए परिणमन होता है।

ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञान की रचना है, जो जगत का अस्तित्व सिद्ध करती है।

**मुमुक्षु :**– और वो जानने की technology है कि स्वयं अपनी ही ज्ञान की पर्याय को जानता हूँ और परिणमन करता हूँ?

**पूज्य बाबूजी :**– वो तो खास है। वो तो हमेशा ही apply (लागू) होता है। लेकिन ये जो व्यवहार की चर्चा है, ये व्यवहार के बिना वो निश्चय समझ में नहीं आता, क्योंकि कोई ये प्रश्न करे कि ये तुम्हारे ज्ञान में चित्र-विचित्र प्रतिभास क्यों हो रहे हैं? इसका क्या कारण है? क्या तुम्हारा ज्ञान पागल है कि जो कभी बिल्ली का आकार बनाता है, कभी कुत्ते का आकार बनाता है, कभी हाथी का आकार बनाता है, कभी दीवार का आकार बनाता है, कभी पर्वत का आकार बनाता है। कभी आत्मा का.... अज्ञान दशा में आत्मा का तो बनाएगा ही क्यों? तो कहते हैं कि पागल है ज्ञान? ऐसा क्यों हो रहा है – ये प्रश्न है न! तो इसका उत्तर यूँ नहीं होगा कि वो तो ज्ञान को ज्ञान जानता है, उत्तर ये होगा कि ऐसे पदार्थ हैं जगत में, ऐसी वस्तुयें जगत में हैं। इसलिए ज्ञान में स्वतः ही इस तरह रचना करने का, संरचना करने का स्वभाव है, तो वो अपने भीतर ही भीतर रचना करता है।

विद्यार्थी है न, student है न, तो उसने college में सीखा। अब

जिस समय परीक्षा हुई उस समय क्या है ? पुस्तकें हैं क्या उसके पास ? नहीं हैं। लेकिन वो जो लिख रहा है, वो पुस्तकों में है। और जो लिख रहा है वो सारा अपनी बुद्धि से लिख रहा है, लेकिन वो बात पुस्तकों में है। चतुर विद्यार्थी है। तो इस तरह मेल बराबर होता है। यानि ज्ञान में बिलकुल फर्क नहीं होता है। छद्मस्थ के ज्ञान में जो लौकिक पदार्थ हैं, उनके संबंध में संशय हो सकता है, विपर्यय हो सकता है, अनध्यवसाय हो सकता है लेकिन उससे कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि मूल प्रयोजन ये है कि ये पर है बस ! अब पर में वो सारे लोकालोक को जाने – ऐसा तो छद्मस्थ ज्ञान में होता नहीं है, इसलिए उसमें भूल हो सकती है, लेकिन उस भूल को भूल नहीं कहते हैं क्योंकि वो ये जाने कि जैसे ये मकान है – इतना जाननामात्र ज्ञान नहीं है। ये मकान मेरा नहीं है – ये सम्यग्ज्ञान है और ये भी व्यवहार ज्ञान है। लेकिन ये मकान मेरा नहीं है – ये जाने; और ये ज्ञायक मेरा है, ऐसा जाने – ये सम्यग्ज्ञान है।

## स्व-पर को भिन्न जानना ही प्रयोजनभूत है

**मुमुक्षु :**– ये मेरा नहीं है, ऐसा जानना मूल है !

**पूज्य बाबूजी :**– वो जानना मूल है। मकान किसका है उसे इससे क्या मतलब है ? इससे उसे क्या प्रयोजन है ? यदि वो गलत भी जानता है कि अमुक व्यक्ति का है, मेरा नहीं। तो वो जो उस मकान के असली स्वामी का नाम नहीं बताकर किसी दूसरे का बता देता है, और वो मकान बिक चुका है, इसलिए उसका स्वामी दूसरा हो चुका है। लेकिन फिर भी वो पहले स्वामी का नाम बताता है। तो भूल गया है न ! लेकिन इसको भूल नहीं कहते हैं, क्योंकि असली जानना ये है कि ये दूसरे का है, मेरा नहीं है। ज्ञान में जो वास्तविक भेद है वो स्व और पर का ज्ञान होना चाहिये। बाकी और पर पदार्थों की गिनती ही नहीं है। जो पर पदार्थों की गिनती में जाता है उसकी intention (अभिप्राय) ठीक नहीं है।

इसलिए वो तो बंध के व्यवसाय में है, अपराधी है। जो पर पदार्थों की गिनती में जाता है वो उचक्का है।

जैसे कोई यूँ कहे कि भाई, आपकी जेब में जो पर्स है, मैं उसे जरा देख सकता हूँ क्या ? पर्स देख सकता हूँ ? क्यों क्या मतलब है ? तुमको मलतब ? उसको हमारा यही उत्तर होगा न ! कि तुमको मतलब क्या है ? मतलब कुछ नहीं, देखना है खाली कि कितने नोट हैं ये देखना है, तो हम क्या कहेंगे कि ये आदमी अनाचारी है। बस इतना जाने कि पर्स है लेकिन दूसरे का है। अब पर्स को और कुछ भी जाने, लेकिन ये मेरा नहीं है – इतना जाने बस !

सम्यग्ज्ञान में इतना ही है जरा सा ! इसलिए तो संक्षेप है। अगर ज्ञान के सिर पर ज्यादा बोझ धर देते है, तो वो तो दुख पाता है। सम्यग्ज्ञान में तो हर्ष होता है, प्रसन्नता होती है। इसलिए जो लोग ये कहते हैं कि हम में बहुत कम ज्ञान है और हम तो समझते नहीं हैं तो उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वो जगत की बातों में इतने चतुर हैं, इतने बारीक जाते हैं कि यहाँ इतने ज्ञान की जरूरत ही नहीं है। उस ज्ञान को तो भले अलग से धर दो और बस इतना सा याद रखो कि दाल अलग है और छिलका अलग है, तो ये स्व और पर का भेद, बस यही मुख्य है। सम्यग्ज्ञान होने में यही मुख्य कारण है।

**मुमुक्षु :**– फिर सम्यग्दर्शन होने के बाद कोई क्षयोपशम में गलती हो तो ?

**पूज्य बाबूजी :**– वो गलती गलती नहीं कहलाती है। उसमें गलती नहीं है। जैसे यहाँ जितने भाई बैठे हैं उनका नाम मुझे बताया गया लेकिन मैं किसी को किसी और नाम से पुकार देता हूँ। तो क्या भयंकर अपराध माना जाता है ? नहीं साहब ! कोई बात नहीं, भूल हो जाती है। पर इतना है कि ये दूसरे हैं, ये वो नहीं हैं।

इसलिए वो भूल तो होगी। उदयभाव तो कई होंगे। पर उसने जो ये जान लिया है कि मेरा तो एकमात्र ये ज्ञायक ही है, जो सिर्फ चैतन्यमात्र है, और ये जितने भी हैं, सारे के सारे पराये हैं। उदय पराया है और उस उदय के अनुसार होनेवाले मेरे जो राग-द्वेष हैं, पुण्य-पाप हैं, वे सारे के सारे पराये हैं। इस तरह जिसने उन्हें परत्व की कोटि में रख दिया है, तो उसे भले ही जगत में कैसी भी भूल हो, तो वो भूल नहीं कहलाती, उसे भूल नहीं कहते हैं।

**मुमुक्षु :**- आपकी सभी बातें एक ज्ञायक पर रुक जाती हैं।

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! वो है ही ऐसा, अपन हैं ही वही।

## पर-संबंधी ज्ञान में भूल होती हैं

**मुमुक्षु :**- पर के जानने में कोई गलती हो भी गई तो इतना ही काफी है कि इसे पर जाना है?

**पूज्य बाबूजी :**- भूल न ऐसा हो नहीं सकता है न! क्योंकि ज्ञान अल्प है। इसलिए हम उससे ये अपेक्षा करें कि वो तीन लोक को बिल्कुल केवलज्ञान की तरह जाने, ये हो नहीं सकता। इसलिए भूल होगी ही होगी। कभी जो है वो जो कोई सफेद-सफेद वस्तु पड़ी हो तो उसे चाँदी समझ लेगा। कोई पीतल पड़ा हो तो उसको सोना समझ लेगा। ठगाएगा, दिवाला भी निकल जाएगा, सभी कुछ होगा इसमें, लेकिन वो कुछ नहीं है, उसमें कोई भूल चूक नहीं है।

पर पदार्थ मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ बस इतना! ये स्व-पर का विभाग जबरदस्त है बस! और इसमें कहाँ मेहनत है? **यानि ज्ञान को बढ़ाने की अपेक्षा ज्ञान को तीक्ष्ण और सूक्ष्म बनाना! ज्ञान को बढ़ाने की जो चेष्टा है वो ज्ञान को तकलीफ देना है। और जब ज्ञान तकलीफ पायेगा तो प्रसन्नता कहाँ से आएगी?** इसलिए जिनवाणी

में मैंने तो केवल समयसार ही पढ़ा है अथवा मैंने तो समयसार की केवल इतनी ही गाथायें पढ़ी हैं और मैंने पढ़ी ही नहीं – इत्यादि विकल्प भले ही आवें लेकिन उनमें अत्यधिक पश्चाताप नहीं होना चाहिए कि मेरा ज्ञान अल्प है। ज्ञान को अल्प कभी नहीं मानना। वो अल्प है मगर वो इतना सामर्थ्यशाली है कि वो ज्ञायक को अपने में उतार लेता है, इतनी सामर्थ्य है उसकी। वह अमूर्त को स्वयं अमूर्त बनकर अपने में उतार लेता है। वह अमूर्त ही है।

पहले मूर्त मानता था न! अब अपने में उतार लेता है इसलिए वह ज्ञान बहुत सामर्थ्यशाली है। इसलिए इतना सा हो बस! स्व और पर का ज्ञान हो – बस इतना!

ज्ञान को बोझिल मत बनाओ, फूल की तरह हल्का-फुल्का रहना ज्ञान का कर्तव्य है।

जिनवाणी के बहाने भी ज्ञान को कष्ट देने की कोशिश मत करना! कि अभी तो एक ही शास्त्र पढ़ा है। अब जीवन में कम से कम दो-चार और तो पढ़ते; अथवा मैं तो निरक्षर हूँ और मुझे तो हस्ताक्षर करने भी नहीं आते, तो मैं सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त कर सकता हूँ? तो कहते हैं – ये सब बहुत बड़ी भूल है।

एक 80 वर्ष की वृद्धा हो न! वो भी कोई छोटी-मोटी दुकान करती हो, तो उससे पूछा जाए कि माँ तेरा कितना पैसा लेना बाकी है लोगों से? तो वो ऐसे गिनाएगी जैसे लिख लिया हो! बीस नाम गिना देगी। उसमें दो पैसे हैं मेरे, उसमें चार पैसे बाकी हैं। उसमें एक आना बाकी है, उसमें दो आना बाकी हैं, उसमें चार आना बाकी हैं, इस तरह गिना देगी। तो इतना गिनानेवाली 'मैं ज्ञायक हूँ' – ये नहीं जान सकती है क्या? चैतन्यमात्र हूँ। मैं चैतन्यमात्र हूँ – ये नहीं जान सकती है? जान सकती

है। वो ज्ञान तो बहुत ज्यादा है। वो तो कुएं में डाल देने लायक है, उसकी जरूरत ही नहीं है।

अज्ञानी अपने ज्ञान को बोझल बनाता है, जबकि ज्ञान हल्का-फुल्का एकदम फूल की तरह है, क्योंकि उसमें कोई आता ही नहीं है, तो वो हल्का-फुल्का रहेगा कि नहीं? उस पर जगत का कोई वजन ही नहीं है। इसलिए निर्भार-निश्चिन्त रहना चाहिए। लेकिन ये साथ में जोड़-तोड़ करता है तो वो अपने आप ही बोझल हो जाता है।

जैसे आलसी स्त्री हो न! तो उसे खाना तो रोज बनाना ही पड़े। पर उसको लगे कि अभी तो मैं सोती तो मुझे मजा आता। अभी तो मुझे चूल्हे के साथ टकराना है, मुझे वो करना है, ये कहाँ तक करूँगी? ये आलस्य है। अरे भाई! भूखी मारेगी क्या? भोजन नहीं बनाएगी तो क्या करेगी? वो तो तेरा कर्तव्य है।

इस तरह हल्का-फुल्का रहना, ये तो ज्ञान का कर्तव्य है, क्योंकि उसमें कोई आता नहीं, उसमें से कुछ जाता नहीं, उसमें कोई वजन नहीं, थोड़ा भी भार नहीं है, किसी के साथ कोई एकत्व नहीं है। वास्तव में तो केवल एकमात्र आत्मा के साथ उसका एकत्व है, उसी के साथ है न उसका जुड़ान! अब एकत्व करना तो पर्याय का धर्म है, जिसे वो भूल गई है।

ज्ञानी से पूछा जाए कि संसार कितना? कि ये वर्तमान राग जितना। अनादि का? कि अनादि का कुछ नहीं है। अनादि का गया सब, समाप्त हो गया। अब कितना संसार है? कि वर्तमान राग जितना। ये वर्तमान का राग अगले क्षण में समाप्त हो जाए तो मैं मोक्ष चला जाऊँ! तो क्या कपड़े पहने चले जाओगे? मुनि नहीं बनोगे? तो बोले कि वो सब हो जाएगा, सब हो जाएगा। उसमें शंका करने की आवश्यकता नहीं है, पर संसार

इतना ही है। इसलिए ज्ञानियों के लिए संसार गाय के खुर के समान है और अज्ञानी के लिए महासागर है। जैसे गाय का खुर होता है न, गाय का पैर! उससे जो गड्ढा होता है उसमें पानी भर जाता है, तो उसे उल्लंघन करने में देर लगती है क्या? लेकिन अज्ञानी महासागर मानता है और ज्ञानी निर्भय रहता है कि जान लिया, संसार को जान लिया कि संसार क्या है। वह तो अनुभूति की एक फूँक में उड़ जाएगा, ज्ञानी ऐसा जानता है।

ज्ञानी निर्भार और निश्चिन्त होता है। बाहर से बोझल दिखाई देता है लेकिन भीतर हल्का-फुल्का रहता है। एकदम हल्का-फुल्का रहता है। अज्ञानी जैसी सभी क्रियायें दिखाई देती हैं, विकल्प भी दिखाई देते हैं, लेकिन असल में भीतर से बदल गया है न! अज्ञानी का भीतर-बाहर एक है - ज्ञानी बाहर से बोझल दिखाई देता है, लेकिन अज्ञानी उसका माप नहीं कर पाता है।

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 13

(6 फरवरी 1999)

***इस चर्चा में सामान्य विशेष उपयोग, अनुभूति का स्वरूप, ज्ञेयाकार ज्ञान आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।***

**मुमुक्षु :-** पूज्य बाबूजी! एक प्रश्न है – प्रतिभास...

**पूज्य बाबूजी :-** आप तो प्रश्न बोल दिया करो। पूज्य वगैरह की कहाँ जरूरत है?

**मुमुक्षु :-** ऐसा इसमें लिखा है। मेरा काम तो ये है कि जो लिखा है उसे पढ़े।

प्रतिभास माने सामान्य उपयोग! ये अपने मन में जो स्पष्टीकरण है पहले वो कहते हैं कि प्रतिभास माने सामान्य उपयोग। अब प्रश्न है क्या सामान्य उपयोग में जाननक्रिया और परिणमन – ये दोनों एक साथ होते हैं? दूसरा प्रश्न है कि जिस सामान्य उपयोग को समय कहते हैं, तो विशेष उपयोग किसे कहते हैं? क्या इसमें उत्पाद-व्यय सहित जाननक्रिया है अर्थात् यदि ये प्रमाण का विषय है तो फिर निरपेक्ष कैसे है? कृपया खुलासा करें।

## प्रतिभास का स्वरूप

**पूज्य बाबूजी :-** विचित्र प्रश्न है।

प्रतिभास माने सामान्य उपयोग – ऐसा नहीं है। प्रतिभास माने विशेष उपयोग। **उपयोग की जो विशेष ज्ञेयाकार जैसी दशा है उसका नाम**

**प्रतिभास है। और उस प्रतिभास को गौण करे तब सामान्य उपयोग होता है। ये प्रतिभास ज्ञान ही है – ये सामान्य हुआ।** केवलज्ञान में भी ऐसा ही होता है कि सारे प्रतिभास गौण हो जाते हैं और एकमात्र ज्ञान रहता है। अर्थात् वहाँ तो इतना विचार होता नहीं है। ये तो अंतर्मुख होने के लिए अपनी विचार-शृंखला है। वहाँ विचार नहीं होता, लेकिन वो सब गौण-कक्षा में ही रहते हैं, हेय-कक्षा में रहते हैं। इसलिए प्रतिभास, विशेष को कहते हैं। लेकिन वो जो विशेष है, वो सारा का सारा प्रतिभास अर्थात ज्ञान में जो ज्ञेय जैसा आकार है, वो सब ज्ञान ही है, ऐसा जाने तब सामान्य हुआ।

## सामान्य और विशेष उपयोग

अब दूसरा प्रश्न लें कि सामान्य उपयोग में जाननक्रिया और परिणमन – ये दो एक साथ होता है? एक साथ ही होता है। कल आई थी न सारी बात! एक साथ ही होता है। **सामान्य उपयोग माने जाननक्रिया उसी का नाम सामान्य उपयोग है; और परिणमन माने एक क्रिया से दूसरी क्रिया, दूसरी से तीसरी क्रिया। इस तरह क्रिया के बाद क्रिया होना उसका नाम परिणमन है।** प्रश्न है कि जिसे समय कहते हैं। हाँ! उसे समय कहते हैं। माने वो समय की जो पहली परिभाषा है न! जानना माने जाना और गमन करना। 'अय' धातु है, 'अय' क्रिया है एक। इसलिए जानना और परिणमन करना! तो आचार्य ने इसमें दोनों ही लिये हैं। एकत्वपूर्वक जानता और परिणमन करता हुआ। माने 'मैं ज्ञायक हूँ' – इस प्रकार परिणमन करता हुआ।

विशेष उपयोग किसे कहते हैं? विशेष उपयोग माने प्रतिभास। ज्ञेय जैसे आकार जो ज्ञान के द्वारा बनाए जाते हैं, अपनी स्व-शक्ति से, स्व-सामर्थ्य से, उसका नाम प्रतिभास है अर्थात् वो ज्ञान का विकल्प है।

वो प्रतिभास जाननक्रिया स्वरूप भी है अर्थात् वो सारा का सारा ज्ञान

का ही बना हुआ है इसलिए जिस समय हम उपयोग को सामान्य कर लेते हैं तो प्रतिभास का अभाव नहीं हो जाता और प्रतिभास को हम गौण कर देते हैं, क्योंकि प्रतिभास तो प्रतिसमय ही रहेगा। निगोद से लेकर केवलज्ञान तक ज्ञान में प्रतिभास तो प्रतिसमय होना ही है। इसलिए वो जो प्रतिभास है उसमें कोई विशेषता नहीं है। ज्ञान के अतिरिक्त उसमें कुछ नहीं है अर्थात् वो ज्ञान से अधिक कुछ नहीं है। ऐसा जो जाना तो वो पर्याय की सामान्य जाननक्रिया हो गई, और वो पर्याय का विशेष था। **विशेष-सामान्य में कोई भेद नहीं है, वो ज्ञान ही है, बस इतना समझ लो!**

प्रश्न में कहा है कि इसमें उत्पाद-व्यय सहित जाननक्रिया है माने ये प्रमाण का विषय है। प्रमाण का विषय नहीं है बल्कि सब कुछ निश्चय नयात्माक चल रहा है, क्योंकि प्रतिभास को ज्ञेयाकार कहते हैं। ज्ञेयाकार माने ज्ञेय का आकार,वो व्यवहार है। ज्ञेय जैसा आकार ज्ञान का ही है - ये हुआ निश्चय। और वो जो प्रतिभास है वो ज्ञान ही है - ये उसके बाद का निश्चय। और ये ज्ञान है सो मैं ही हूँ - ये परमशुद्ध निश्चय।

**मुमुक्षु :-** फिर से, फिर से बाबूजी! बहुत सुंदर!

**पूज्य बाबूजी :- जो प्रतिभास है वो सचमुच जाननक्रिया स्वरूप ही है। उसमें दो भेद नहीं हैं क्योंकि वो एक ही अखंड पर्याय है। प्रतिभासरूप एक ही पर्याय है। वो प्रतिभास ज्ञान का ही बना हुआ है इसलिए वो प्रतिभास जानता भी है।** जाननभाव स्वरूप भी है वो उसमें जाननक्रिया भी है और परिणमन भी है। माने अर्थात् प्रतिसमय ऐसा ही उत्पाद-व्यय होता है अर्थात् एक प्रतिभास का व्यय हुआ, दूसरा दूसरे ज्ञेय जैसा दूसरा प्रतिभास आया फिर उसका व्यय हुआ फिर तीसरा प्रतिभास! इस तरह से प्रतिभास प्रवाहरूप चला करता है, उसमें बराबर ये परिणमन होता है और वो जानन स्वभावरूप ही है। ऐसा जब जाना

तो उपयोग सामान्य हो गया तो प्रमाण का विषय नहीं हुआ। यहाँ निश्चय व्यवहार चल रहा है। अब वो सब ये व्यवहार हो गया। ये जो प्रतिभास है ये ज्ञान ही है – तो वो ज्ञान निश्चय हो गया तो वो व्यवहार हो गया। और ये ज्ञान है वो मैं ही हूँ तो वो व्यवहार हो गया और ये निश्चय हो गया। वो सब हेयकोटि में चले गए और ये मैं ज्ञायक चिन्मात्र हूँ – ये उपादेयकोटि में आ गया।

**मुमुक्षु :**– मैं ज्ञान हूँ – वो उपादेयकोटि नहीं है?

**पूज्य बाबूजी :**– वो नहीं है। वो हेय हो गया फिर, पर्याय है न! तो वो हेयकोटि में चली गई।

निरपेक्षता के बारे में पूछा है न! निरपेक्ष तो द्रव्य–गुण–पर्याय सभी हैं। इसमें तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। सब कुछ निरपेक्ष ही है। एक पदार्थ में जो कुछ भी परिणमन, गुण और द्रव्य – ये सारे के सारे निरपेक्ष ही हैं। सापेक्षता उसका नाम व्यवहार! सापेक्ष कहना माने भीतर ज्ञान में सापेक्षतारूप विकल्प होना, उसका नाम व्यवहारनय। भाई! आत्मा ऐसा है तो ऐसा जानना उसका नाम व्यवहारनय हुआ। हो गया न खुलासा?

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! कल एक भाई पूछ रहा था कि जो कल आपने ज्ञानत्व का अन्वय लिया था कि वो पर्याय का सामान्य है। ये बराबर है?

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञानत्व में अन्वय नहीं, अन्वय तो द्रव्य में होता है।

**मुमुक्षु :**– ज्ञेयाकार परिणति में नहीं होता?

**पूज्य बाबूजी :**– वो तो सब व्यतिरेक हैं। ये सारी की सारी पर्यायें हैं। वहाँ तक पर्याय है **'मैं ज्ञायक ही हूँ – चिन्मात्र' वहाँ तक पर्याय है। पर्याय है, लेकिन पर्याय द्रव्याकार है इसलिए अपने आपको द्रव्य घोषित करती है। चिन्मात्र–ज्ञायक घोषित करती है। वो स्वयं**

**अदृश्य हो जाती है। ये अभेदता की पराकाष्ठा है, मिलन की पराकाष्ठा!**

## श्रद्धा में अहं और ज्ञान में एकत्व

**मुमुक्षु :-** यही प्रश्न था कि दृष्टि के विषय में किस तरह सहायकभूत होता है?

**पूज्य बाबूजी :-** दृष्टि का विषय आ गया न वो। 'मैं चिन्मात्र ज्ञायक हूँ' ये दृष्टि का भी आ गया और ये ज्ञान का भी गया, दोनों आ गए। दोनों अहंरूप होते हैं। ज्ञान भी अहंरूप जानता हुआ और श्रद्धा भी अहंरूप प्रतीति करती हुई आ गई। श्रद्धा की प्रतीति माने अहम् और ज्ञान का जानना माने उसका एकत्व।

**मुमुक्षु :-** श्रद्धा की प्रतीति माने अहम् और ज्ञान का जानना माने एकत्व।

**पूज्य बाबूजी :-** इसलिए वो भी अहंरूप होता है। वो एकत्व भी अहंरूप होता है। वो जाननरूप अहम् है और ये प्रतीतिरूप अहम् अर्थात् श्रद्धारूप अहम्। दोनों अलग-अलग हैं क्योंकि उसमें space (खाली स्थान) नहीं रहना चाहिए। थोड़ा भी अंतर नहीं रहना चाहिए कि ये ज्ञान मैं ही हूँ - यहाँ space (खाली स्थान) है, इसलिये ये व्यवहार है।

श्रुतकेवली वाली गाथा में आया है न! कि ज्ञान है सो मैं ही हूँ, इसका नाम व्यवहार श्रुतकेवली है और सीधा आत्माभिमुख होकर आत्मदर्शन करना, आत्मा का अनुभव करना उसका नाम निश्चय श्रुतकेवली। ये ज्ञान है सो मैं ही हूँ, इसका नाम व्यवहार श्रुतकेवली। ऐसे तो द्वादशांग के ज्ञाता को श्रुतकेवली कहते हैं। लेकिन वो....कथन की ओर से है। वैसे सामान्य कथन में तो यही है क्योंकि हर एक द्वादशांग का ज्ञाता तो

होता नहीं है। फिर भी जहाँ निश्चय श्रुतकेवली है तो वहाँ व्यवहार श्रुतकेवली होना चाहिए। वो तो द्वादशांग का ज्ञाता नहीं है, तो भी 'तुष मास भिन्नम्' जैसे वो भी व्यवहार श्रुतकेवली और निश्चय श्रुतकेवली – दोनों हो गए। जब तक वो उसको रटते रहे तब तक व्यवहार और जब उतर गए तो निश्चय।

**मुमुक्षु :**– परिणमन हो गया, इसलिए अर्थात् एक जाननभावरूप अहम्।

**पूज्य बाबूजी :**– एक जाननभावरूप अहम् और एक प्रतीतिरूप अहम्, श्रद्धारूप अहम्।

**मुमुक्षु :**– ये क्या कहा है?

**पूज्य बाबूजी :**– श्रद्धा अहम् ही करती है और वो ज्ञान भी अहम् करता है क्योंकि उसमें जब तक थोड़ा भी भेद रहेगा कि ज्ञान है वो मैं ही हूँ – इसमें अंतर है ये space (गैप) है। इसलिए वो space (गैप) सिमटनी चाहिए, खतम होनी चाहिए कि मैं ज्ञायक ही हूँ – ये अभेद हो गया है चिन्मात्र।

**मुमुक्षु :**– ज्ञान और श्रद्धा का युगपत् परिणमन हुआ?

**पूज्य बाबूजी :**– युगपत् परिणमन और चारित्र का भी युगपद् परिणमन है। जितना चारित्र प्रगट हुआ उतना चारित्र का भी परिणमन और उतना ही सुख का परिणमन, आनंद का परिणमन। उस समय उपयोग जब स्वभाव की ओर हो तो उसका नाम आनंद और वो चले जाने के बाद अर्थात् ज्ञान जब बाह्य विषयों की ओर चला जाए, तब भी सुख और दुखरूप परिणमन मिश्ररूप से चलता है। तो जितनी अनुभूति हुई, उस समय चारित्र के फलस्वरूप सुख प्रगट हुआ, वो सुख और शेष जो अभी जितनी कषाय बाकी है, उतना दुख है। इस तरह चारित्र में,

सुख में इन सबमें मिश्र दशा चलती है। सिर्फ श्रद्धा और ज्ञान में नहीं चलती।

## भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबको अनुभव में कैसे आ रहा है?

ज्ञान में दो पर्याय नहीं होतीं कभी - 17-18 गाथा की टीका में आता है न! कि वो आबाल-गोपाल सबको जानने में आता हुआ...... तो जानने में आता है लेकिन आगे 'किन्तु' शब्द है - आबाल-गोपाल सबको जानने में आता हुआ, उसका बिल्कुल सामान्य अर्थ है। जानने में आता है - ऐसा नहीं। जानने में आता है तो अनुभूति हो जाए, फिर तो केवलज्ञान होने में सिर्फ अंतर्मुहूर्त चाहिये, इसलिए वो जानने में आता है - ऐसा नहीं है। उस समय जाननस्वभाव क्या है? 'मैं ज्ञायक हूँ' - ये ज्ञायक कौन है? और इसका जानना क्या है? इस बात का वो जब तक निश्चय नहीं करता, तब तक अज्ञानी ही रहता है और अन्य में प्रतिबद्ध रहता है, अन्य में ममत्वशील रहता है। अन्य में एकत्व करता हुआ परिणमन करता है, इसलिये वो अज्ञानी है। वो बात अज्ञानी की है, ज्ञानी की नहीं है। ज्ञानी की बात तो पहले आ चुकी है।

**मुमुक्षु :-** सबको अनुभव में आ रहा है ऐसा है न!

**पूज्य बाबूजी :-** अनुभव मतलब जानने में आ रहा है। अनुभव शब्द पर-पदार्थ के लिए भी आता है और अनुभव शब्द अचेतन में भी आता है। नमक को हमेशा लावण्य की, क्षार की अनुभूति होती है इसलिए उसके लिए भी अनुभव शब्द आता है। तो जहाँ जैसा हो वैसा समझना। अनुभूति होती है माने नमक क्षाररूप परिणमन करता है।

**मुमुक्षु :-** माने स्वभाव में परिणमन?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! क्षाररूप परिणमन होना।

**मुमुक्षु :**– तो बाबूजी मतलब ये हुआ कि 17–18वीं गाथा का जो भाव है, उसको सामान्य स्थिति में मत लेना कि ऐसा अनुभव में आ रहा है – ऐसा मत लेना ?

**पूज्य बाबूजी :**– नहीं नहीं ! ऐसा बिल्कुल नहीं है। वो जाननेवाला ही जानने में आता है उसका अर्थ ये नहीं है कि जानने में आता है। जानने वाला प्रतिसमय जानने में आता है अगर ऐसा हम मान लें, तो कहाँ लंबे टाइम की जरूरत है ? फिर तो आगम में केवलज्ञान होने का अंतर्मुहूर्त का नियम है। इसलिए ये जो श्रेणी होती है उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी – उपशम श्रेणी में तो 11वें गुणस्थान से आगे नहीं जाता और जो क्षपक श्रेणी होती है तो क्षय करता हुआ वो सीधा 10वें से 12वें में जाता है। 11वें में नहीं रहता है, 11वाँ से तो नियम से गिरता है और फिर जब क्षपक श्रेणी होती है तो वो सीधा 12वें में जाता है। अंतर्मुहूर्त में ये सब हो जाता है और फिर वो 12वें से 13वें में जाता है तो उसे अंतर्मुहूर्त में तो केवलज्ञान हो गया है। इसलिए उसे सही नहीं लेना कि वो ज्ञायक अनुभव में आ रहा है। अनुभव में आता हो तो फिर क्या है ? फिर तो आगम कह रहा है कि अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान होना चाहिए, उसमें तो मुनिदशा भी होगी – अंतर्मुहूर्त अगर होवे तो क्षपक श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान हो जायेगा, इसलिए जानने में नहीं आता है। उसका वास्तविक स्वरूप जानने में नहीं आता है। मैं जानता हूँ बस, इतना जानने में आता है। लेकिन जानना क्या होता है और जाननेवाला क्या होता है – इसका उसे पता नहीं है। इसका असली स्वरूप उसे पता नहीं है। वो असली स्वरूप पहले पेरे (पैराग्राफ) में कहा है। दूसरे पेरे (पैराग्राफ) में तो ये अज्ञानी की बात कही।

वो तो जीव को इतनी सरलता से इसलिये कहा है कि वो तो तुझे हर समय ही जानने में आ रहा है, तू ढूँढ़ने कहाँ जाता है ? यहाँ आचार्य

इतने सरल हो गए हैं। माने पहले जो प्रमत्त–अप्रमत्त कहा था न, तो उसमें थोड़ी कठिनाई लगी। यहाँ कहते हैं कि तेरे हर समय ही तो जानने में आ रहा है। तू कहाँ ढूँढ़ रहा है उसको ? ये जो ज्ञान है ये आत्मा ही तो है, बस इतना लेना। ये जो जाननक्रिया है ये आत्मा ही तो है, बस! ये लक्षण है न! तो लक्षण से लक्ष्य की प्रसिद्धि हो जाती है। तो ये लक्षण है, ये जाननक्रिया जो प्रतिसमय है, ये आत्मा ही है, बस हो गया! तब वास्तव में जानना हुआ। तब हुआ वास्तव में जानना!

लेकिन अज्ञानी जाननक्रिया के साथ और ज्ञायक के साथ दोनों में मिश्रण करता है, तो शुद्ध अनुभूति नहीं होती है बल्कि अशुद्ध अनुभूति होती है। प्रतिसमय जानने में आता है उसका अर्थ केवल इतना लेना कि मैं जानता हूँ – बस, ये हर जीव मानता है। हर जीव यह बात जानता और मानता है कि मैं जानता हूँ लेकिन वह जानने का स्वरूप नहीं जानता, ज्ञाता का स्वरूप नहीं जानता, ज्ञायक का स्वरूप नहीं जानता। वो मिश्रण करता है इसलिए पहले पैराग्राफ में मिश्रण हटाया है, तब वहाँ अनुभूति हुई है, और दूसरे में इतना सरल कर दिया कि ढूँढ़ रहे हो, ढूँढ़ रहे हो, कहाँ ढूँढ़ रहे हो ? ये है तो सही साक्षात् विद्यमान! जो जाननक्रिया हो रही है उसी का नाम अनुभूति है वहाँ। पर्याय की बात है। पर्याय से आचार्य स्वभाव पर ले गये हैं, ज्ञायक पर ले गये हैं। जानने की पर्याय से ज्ञायक पर ले गए हैं, जाननेवाले पर ले गये हैं। वो बात बहुत सरल है, आचार्य ने बहुत सरल किया है!

**मुमुक्षु :**– उसका हौसला बढ़ाने के लिए सरल किया।

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! इतना सरल कि तू ढूँढ़ता है, तुझे तो थोड़ा संकोच होना चाहिए कि ये जो जानना है न...कौन है ये ? ये जो जानना चल रहा है, ये कौन है ? कि ये आत्मा ही तो है। बस! हो गया और क्या ? लेकिन ये जानना सिर्फ इतना; जानना माने वो राग सहित नहीं।

ये राग का मिश्रण नहीं है कल्पना में जो राग का मिश्रण करता है, वो नहीं। सिर्फ जानना! जानना शुद्ध है, इतना मान ले वो। वो मिश्रण करता है तो वो अशुद्ध हो जाता है, मिथ्याज्ञान हो जाता है क्योंकि मिश्रण होता नहीं है लेकिन वो कल्पना करता है। तो कल्पना में अशुद्ध हो गया तो वो ज्ञान मिथ्या हो गया। उस गाथा के बारे में गड़बड़ी बहुत है।

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! ऐसा ही लगता था कि ये अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबको जानने में आ रहा है?

**पूज्य बाबूजी :- अनुभूतिस्वरूप माने ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वरूप माने जाननक्रियारूप।**

**मुमुक्षु :-** आबाल-गोपाल सबको जानने में आ रहा है। आ रहा है मतलब कि वर्तमान परिस्थिति में ऐसा हो रहा है?

**पूज्य बाबूजी :-** वहाँ fullstop (पूर्ण-विराम) क्यों कर दिया? वहाँ पूर्ण विराम क्यों कर दिया? 'किंतु' आगे क्या कहा? कि 'किन्तु' अर्थात् 'मैं जाननेवाला हूँ' - ऐसा वो जानता है। लेकिन जाननेवाला क्या होता है - ये नहीं जानता। और जानना क्या होता है - ये भी नहीं जानता।

**मुमुक्षु :-** इतना तो वो जानता है कि मैं जानता हूँ। पर जाननक्रिया क्या है और जानना क्या है ये दोनों ही बात नहीं जानता।

**पूज्य बाबूजी :-** वो दोनों ही नहीं जानता वो मिश्रण करता है तो पहले मिश्रण को हटाया है, पहले पैराग्राफ में और ज्ञान को शुद्ध किया - ये अनुभूति। ये बिल्कुल राग-द्वेष, पुण्य-पाप सबसे रहित राग-द्वेष-मोह से रहित सिर्फ जाननक्रिया.... हो गया बस! ये जाननक्रिया सो मैं हूँ - ऐसा तो पहले निर्णय करके चला ही है। पहले निर्णय नहीं किया हो तो वो जाएगा ही नहीं। वो यही करता रहेगा कि ये जाननक्रिया

मैं हूँ, जाननक्रिया मैं हूँ। वो तो विकल्पमूढ़ होकर मिथ्यादृष्टि ही रहेगा।

**मुमुक्षु :**– हर समय जीव ये तो जानता है कि मैं जानता हूँ ?

**पूज्य बाबूजी :**– जानता हूँ। ये तो निगोदिया भी जानता है। उसको दुख होता है कि नहीं ? तो दु:ख को जानता है कि नहीं ? तो हो गया बस ! दु:ख होता है तो जानता है न ! तो जानना तो साबित हो गया कि जानता हूँ। क्या जानता है ? कि दुखी हूँ – ये जानता है। बस हो गया अज्ञान। और क्या ? पर से प्रतिबद्ध हो गया वो, शरीर से प्रतिबद्ध हो गया। पर के साथ प्रतिबद्धता के कारण, साफ आया है न ! किन्तु पर के साथ प्रतिबद्धता के कारण दुखी रहता है।

**मुमुक्षु :**– पर के साथ प्रतिबद्ध होता नहीं है, लेकिन मिथ्या मान्यता से दुखी है, ये अज्ञान हो गया ?

**पूज्य बाबूजी :**– अज्ञान हो गया। असली स्वरूप जानने में नहीं आता, वास्तविक स्वरूप जानने में नहीं आता, जाननक्रिया क्या है ये ही नहीं जानता, पहले जाननक्रिया को तो जाने कि ये मिश्रण रहित है, सदा से मिश्रण रहित ही रही है। लेकिन इसके parallel (समानांतर) चलनेवाले जो राग–द्वेष हैं और उनका जो प्रतिभास ज्ञान में होता है, तो मैं उस प्रतिभास को ज्ञान न मानकर राग–द्वेष मानता हूँ। तो इस तरह ज्ञान को मिलावटवाला मानता रहा हूँ। बस ! यही अज्ञान है सदा से। अज्ञानी, मैं रागी–द्वेषी हूँ – ऐसा अनुभव करता है।

**मुमुक्षु :**– इसमें पहले कहा है कि ये जो अनुभूति है सो ही मैं हूँ – ऐसा भेदज्ञान उदित न होने से ! वो अनुभूति कौनसी है ?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ ! साफ आया न वो 'अनुभूति'। अनुभूति माने वो ज्ञान की पर्याय। ये प्रतिसमय चल रही है प्रतिभासरूप, पर में अहंरूप, लेकिन वो है तो शुद्ध, पर ये शुद्ध नहीं मान रहा। ये जो

अनुभूति है सिर्फ ज्ञान-ज्ञान, जानना-जानना-जानना, ये जानने में राग-द्वेष कहाँ से आया ? क्योंकि ज्ञान तो राग-द्वेष को तोड़ता हुआ उदित होता है और राग-द्वेष जोड़ते हुए आते हैं। वो पर के साथ संबंध जोड़ते हुए आते हैं और ये तोड़ता हुआ आता है क्योंकि ये वस्तु-व्यवस्था को जानता है कि वस्तु-व्यवस्था में सब टूटे हुए हैं। सब न्यारे-न्यारे अपने-अपने में संलग्न हैं, जगत के जड़-चेतन सारे पदार्थ अपने स्वरूप में बिल्कुल अवस्थित हैं। ये चीज तो जब ज्ञान का उदय होता है और वो ज्ञान जाननक्रिया को मिश्रण रहित जानता है, तो फिर वो शुद्ध हो जाता है, सम्यग्ज्ञान हो जाता है। ये अनुभूति है सो मैं ही हूँ। तो वहाँ जाननक्रिया को अनुभूति कहा है।

**अनुभूति शब्द कई अर्थों में आता है। अचेतन के अर्थ में भी आता है और चेतन के अर्थ में प्रतिसमय चलनेवाली ज्ञान की पर्याय के अर्थ में भी आता है और अनुभूति शब्द द्रव्य के अर्थ में, ज्ञायक के अर्थ में भी आता है।**

**मुमुक्षु :**- इसमें मेरा एक प्रश्न भी है। यदि जाननक्रिया को भी मैं हूँ, ऐसा लेंगे, तो उसमें पर्याय की बात नहीं आई ?

**पूज्य बाबूजी :**- नहीं आई। ये जाननक्रिया है सो मैं ही तो हूँ। मैं ही तो हूँ, तो वजन 'मैं' पर गया न! जाननक्रिया से छूट गया क्योंकि उससे अलग हो गया। दृष्टि अलग होकर ज्ञायक पर थम गई, क्योंकि अंतिम वही है इसलिए उसमें थम जाती है।

**मुमुक्षु :**- वहाँ से दृष्टि का विषय सीधा हाथ में आ जाता है।

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! दृष्टि का विषय हो गया। अनुभूति है सो मैं ही हूँ तो अनुभूति अर्थात् सिर्फ ज्ञान, सिर्फ ज्ञान; रागादिक नहीं। **रागादिक का प्रतिभास हो उसमें कुछ झगड़ा नहीं है, पर उस प्रतिभास को**

**ज्ञान मानेंगे।** इसलिए ज्ञान मिश्रण रहित हो गया न! तो बस! मिश्रण रहित जाना कि ये अनुभूति है सो मैं ही हूँ, हो गया सम्यग्ज्ञान!

**मुमुक्षु :-** अनुभूति का अर्थ द्रव्य स्वरूप है ये क्या कहा आपने?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! है न! द्रव्य स्वरूप है। देखो! समयसार का 90वाँ कलश है, नयों के विकल्पों से निकालने का। इसप्रकार जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठता है....बहुत विकल्प माने नय के विकल्प।

**मुमुक्षु :-** ऐसी बड़ी नयपक्षकक्षा को (नयपक्ष की भूमि को) उल्लंघन करके (तत्त्ववेत्ता) भीतर और बाहर समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को (स्वरूप को) प्राप्त करता है।

**पूज्य बाबूजी :-** ये द्रव्य के अर्थ में है और जगह भी आता है, 73वीं गाथा में आता है।

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! ये जाननभावरूप ये ज्ञान का शुद्ध स्वरूप है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! जाननभाव शुद्ध स्वरूप है। माने जाननक्रिया जो है वो लक्षण है, उपयोग जिसे कहते हैं। यहाँ पर उपयोग को अनुभूति कहा।

**मुमुक्षु :-** 73 गाथा टीका। मैं यह आत्मा — प्रत्यक्ष अखण्ड अनन्त चिन्मात्र ज्योति — अनादि-अनन्त नित्य-उदयरूप विज्ञानघनस्वभाव-भावत्व के कारण एक हूँ; (कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरणस्वरूप) सर्व कारकों की समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त जो निर्मल अनुभूति.....

**पूज्य बाबूजी :-** ये निर्मल अनुभूति ये है।

**मुमुक्षु :-** तो यहाँ निर्मल अनुभूति का अर्थ पर्याय-वाचक नहीं है ?

**पूज्य बाबूजी :-** पर्याय नहीं है। वो आ गया न! पर्याय आ गयी न सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, वो ज्ञायक है।

**मुमुक्षु :-** माने वो यहाँ त्रिकाल द्रव्य के अर्थ में में कहा गया है। उस अनुभूतिमात्रपने के कारण मैं शुद्ध हूँ; ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ ?

**पूज्य बाबूजी :-** पर्याय से थोड़ी ना शुद्ध मान रहा है। मैं शुद्ध हूँ - जो सम्यग्दर्शन का विषय है न, वो सम्यग्ज्ञान का विषय है।

**मुमुक्षु :-** अनुभूतिमात्रपना इस शब्द का अर्थ क्या है ?

**पूज्य बाबूजी :-** अनुभूतिमात्र माने जिसमें ज्ञान भरा हुआ है। जो ज्ञान से लदा हुआ है - ऐसा; लबालब भरा हुआ है, ऐसा अनुभूतिमात्र। जानन क्रिया नहीं! अनुभूति-स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनुभूतिमात्र, ज्ञानमात्र; ज्ञानमात्र माने आत्मा - ऐसा आया न!

**मुमुक्षु :-** द्रव्य सूचक है उसका अर्थ ?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! द्रव्यसूचक! क्योंकि विषय अनुभूति का चल रहा है। पर इस अनुभूति के अवलंबन से वो अनुभूति प्रगट होती है। उसका नाम पर्याय है।

**मुमुक्षु :-** जो निर्मल पार उतरी हुई जो अनुभूति है, उसके अवलंबन से वो पर्यायरूप अनुभूति प्रगट होती है।

**पूज्य बाबूजी :-** मैं तो सदा अनुभूतिमय हूँ। वो ही है न बात कि जब ये विचार करेगा कि मैं तो सदा ही अनुभूतिमय हूँ, मेरा ज्ञान कहाँ चला गया ? इसलिए सदा ही अनुभूतिमय हूँ। मुझे अनुभूति की

आवश्यकता नहीं है। इसलिए उस होने वाली अनुभूति को तो वो हेय समझता है – तब वो अनुभूति होती है। उसको हेय समझे तो वो अनुभूति होती है। उसका तिरस्कार न करे, निरादर न करे, राग-द्वेष न करे वो हेय है। हेय का अर्थ ऐसा कि मैं ये नहीं हूँ। उपादेय माने मैं और हेय माने 'मैं नहीं' हूँ – द्वेषवाचक का अर्थ तो यह हुआ कि आचार्य ने राग-द्वेष करना सिखाया है।

**मुमुक्षु :-** सीधा द्रव्य की बात आ गई बाबूजी!

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! पर के प्रति राग-द्वेष नहीं तो यहाँ कहाँ राग-द्वेष होगा?

**मुमुक्षु :-** जो अनुभूति प्रगट हुई वो षट्कारक की प्रक्रिया वाली है?

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं! नहीं! षट्कारक की प्रक्रिया से पार षट्कारक का जो परिणमन हो रहा है उससे पार...उससे तो वो अशुद्ध हो जाती है। उसको मिला दे तो अशुद्ध हो जाती है।

**मुमुक्षु :-** इनका प्रश्न था प्रगट जो हुई, वो अनुभूति तो पर्यायवाली हुई कि नहीं?

**पूज्य बाबूजी :-** वो प्रगट अनुभूति, उसमें तो षट्कारकों की प्रक्रिया है।

**मुमुक्षु :-** और जो अनुभूति सदा प्रगट है वो तो द्रव्य है?

**पूज्य बाबूजी :-** वो सदा ही प्रगट है। जिसमय ये अनुभूतिस्वरूप ज्ञायक सदा प्रगट है। वो 17-18 गाथा का अनुभूतिस्वरूप अलग रहा और ये अलग है। ये सीधा द्रव्य है और वो प्रतिसमय चलने वाली पर्याय है।

**मुमुक्षु :-** बराबर! माने ज्ञानी के हृदय में उनका अर्थ रहता है

बाबूजी ! अच्छा बताया आपने। अनुभूति में बस एक ही बात मान ली जाती है कि वो पर्याय की बात है।

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ ! पर्याय की मान लेते हैं। पर वो द्रव्य के अर्थ में आती है; और जगह भी आयी है।

**मुमुक्षु :**– इसका कोई दृष्टांत ?

**पूज्य बाबूजी :**– दृष्टांत दिया ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञायक हूँ।

**मुमुक्षु :**– (कृपया) लौकिक दृष्टांत से साबित करें, सिद्ध करें ? ......एक समय भले एक विद्या का उपयोग चले, परंतु स्वरूप तो सभी विद्याओं का पढ़ा है।

**पूज्य बाबूजी :**– पढ़ा है न ! ढीम–ढीम पढ़ा है। ढीम पढ़ा है। ज्ञान का ढ़ीम उसका नाम यहाँ अनुभूति।

**मुमुक्षु :**– मुझे अनुभूति लेनी कहाँ है ? पानी (प्राप्त करनी) कहाँ है ? मैं तो अनुभूतिस्वरूपी हूँ न सदैव !

**पूज्य बाबूजी :**– सदैव अनुभूतिस्वरूप ! उसमें तो बहुत पश्चाताप हुआ कि अभी तक अनुभूति नहीं हुई, अभी तक अनुभूति नहीं हुई। तुझे अनुभूति प्यारी है कि वो प्यारा है ? कौन प्यारा है तुझे ? भाई ! एक बार उसकी ओर देख ले तो अनुभूति हो जाती है। ये कहता है कि अनुभूति नहीं हुई, अनुभूति नहीं हुई। तो कैसे होगी अनुभूति ? तू अनुभूति में उलझा है, वो प्यारी है तुझे और उधर एक बार देखते ही अनुभूति हो जाती है। तो पहले इसको हेय समझे।

**मुमुक्षु :**– मैं–पना करने लायक नहीं है, उतना समझे।

**पूज्य बाबूजी :**– बस इतना समझे ! उतना माने बहुत बड़ी है बात है।

**मुमुक्षु :**- प्रभु! एक प्रश्न है 6वीं गाथा के बारे में....

**पूज्य बाबूजी :**- प्रभु क्यों कहते हो आप? मैं तो सामान्य आप लोगों जैसा ही मैं हूँ।

## ज्ञेयाकार में भी ज्ञायक प्रसिद्ध है

**मुमुक्षु :**- भगवान आत्मा ये छठवीं गाथा में आया है कि ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के साथ ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; तो ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव'.... 'भाव' शब्द लिखा गया है into inverted comma में।

**पूज्य बाबूजी :**- भाव माने ज्ञायक....पारिणामिकभाव, परम पारिणामिकभाव।

**मुमुक्षु :**- ज्ञेयाकार होनेसे उस 'भाव' के साथ ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; तो ये ज्ञेयाकार, उस 'भाव', ज्ञायकपना और प्रसिद्धि - इन सब शब्दों का थोड़ा सा विस्तार ज्यादा हो जाए?

**पूज्य बाबूजी :**- सीधा है वो! ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के साथ ज्ञायकता प्रसिद्ध है अर्थात् वो ज्ञेयाकार होता है.... ज्ञेयाकार माने ज्ञानाकार - अपन को वो लेना है। वे ज्ञानाकार ज्ञेय जैसे होते हैं। जैसे ज्ञेय होते हैं वैसा प्रतिभास होता है, इसलिए इस भाव को ज्ञायकता प्रसिद्ध है, इसलिए इसको ज्ञायक कहते हैं, उसका ऐसा सीधा अर्थ है। उसमें कोई बहुत गहराई नहीं है।

ज्ञेयाकार होने से माने जैसा जगत में ज्ञेय है पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और अन्य जीव, तो उनके आकाररूप होने से माने उनका प्रतिभास होने से इस भाव को ज्ञायक कहते हैं। इस आत्मा को ज्ञायक कहते हैं। इसके ऊपर जो आया है पहले कि ज्ञायक जो एक 'भाव' है

वो है असली चीज कि उसको भाव नहीं माना, इसलिए अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि रहा। ज्ञायक भाव को उसने माना ही नहीं; मैं तो वर्तमान में अशुद्ध हूँ, ऐसा माना।

ज्ञायक जो एक 'भाव' है ये बहुत वजनदार बात है कि जो ज्ञायक वो एक भाव अर्थात् वो अस्तित्वस्वरूप चीज है। वो तूने नहीं मानी। उसको केवल नश्वर पर्यायमात्र माना और वो है स्थाई। बहुत वजनी है वो बात!

ज्ञायक जो एक 'भाव' है अर्थात् वो अस्तिस्वरूप है। पर तूने अस्तित्व स्वरूप माना ही नहीं। आज ही इसी समय अस्ति स्वरूप मान ले तो इसी समय निहाल है। इसमें विशेष नहीं है। ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के साथ ज्ञायकता प्रसिद्ध है उसे, ठीक है। ज्ञेयाकार होने से उसे ज्ञायक कहा जाता है। लेकिन तो भी उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; वो अर्थात् जो ज्ञेयाकार बनाता है, ज्ञेय जैसे आकार बनाता है उसमें ज्ञेय का कोई अहसान नहीं है। उसमें कोई obligation (आभार) नहीं है ज्ञेय का! वो स्वयं अपने आकार बनाता है इसलिए ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है।

**मुमुक्षु :**- वो जाननभावरूप होता है इसलिए ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं होती है?

**पूज्य बाबूजी :**- वो निरपेक्ष है इसलिए उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है। ज्ञेय को कारण नहीं मानता, ज्ञेय से प्रभावित नहीं मानता। ज्ञेय का असर नहीं मानता, ज्ञेय का कोई सहयोग नहीं मानता लेकिन ज्ञेयाकार जैसी रचना स्वयं करता है। इसलिए उसको ज्ञायकता प्रसिद्ध है क्योंकि सारे लोकालोक को देखो अथवा इस एक पर्याय को देखो, हो गया!

सारे लोकालोक (को) देखो! अथवा केवलज्ञान की एक पर्याय

को देखो, वो एक ही बात है। फिर लोकालोक को देखने की तकलीफ क्यों करते हो? भाई! ये अपनी पर्याय ही देख लो न एक। इसमें सारे अपने गुण, अपना द्रव्य और सारा लोकालोक, वो सब उस एक पर्याय के वश है। कितने सुख की चीज़ है! कितने आराम की चीज है! लोकालोक को देखने जाओ और एक केवल अपनी पर्याय को देख लो। इसमें सब आ गया, ज्ञायकाकार आ गया, सारे गुण आ गये, सारी पर्यायें आ गईं और सारा लोकालोक आ गया।

**मुमुक्षु :-** जो ज्ञेयाकार हुआ है वर्तमान में उसी को ज्ञायक भाव कहा है न?

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं! नहीं! पर्याय में जो ज्ञेयाकार होता है, ज्ञेयाकार माने ज्ञानाकार। तो पर्याय में जो ज्ञेयाकार अर्थात् ज्ञानाकार होता है इसीलिए उसे ज्ञायक कहते हैं, लेकिन फिर भी उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है। अर्थात् ज्ञेयाकार होने से उसमें ज्ञेय का कुछ नहीं है - ये कहना चाहते हैं आचार्य! ज्ञेयाकार होते हुए भी उसमें ज्ञेय का कुछ नहीं है। वो सब ज्ञान ही ज्ञान है। बस अपन वहीं आते हैं - ज्ञेयकृत अशुद्धता बिल्कुल नहीं है। ज्ञेय कहाँ कारण था? ये तो स्वयं निरपेक्ष अलग बिल्कुल मौनभाव से चुपचाप अपनी रचना करता है; जैसे विद्यार्थी परीक्षा देता है। वो ज्ञेय जैसी रचना करता है इसलिए उसे ज्ञायक कहते हैं या उसे ज्ञायकता प्रसिद्ध है, इसलिए उसे ज्ञायक कहते हैं ये दोनों एक ही बात है।

**मुमुक्षु :-** भाव का अर्थ? माने परम पारिणामिकभाव?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! आया है न! भाव में परम पारिणामिकभाव आया न, इसीलिए यहाँ कहा कि वो एक भाव है। भाव माने अस्तित्व स्वरूप है - यहाँ ऐसा लेना। वो अस्तित्व स्वरूप है, क्योंकि ये ज्ञायक

को अस्तिस्वरूप नहीं मानता। इसने तो पर्यायमात्र को ही सारा ज्ञायक मान लिया था। संपूर्ण द्रव्य जो है वो पर्यायमात्र को ही माना था, तो इसने ज्ञायक का तो अभाव कर दिया था, चिन्मात्र आत्मा का तो अभाव ही कर दिया था, इसलिए कहता था वर्तमान में अशुद्ध हूँ, बस! इसलिए वो एक भाव है, बहुत वो चीज ही वजनदार है। इतना स्वीकार कर ले अभी इसी लाइन में कि ज्ञायक जो है, वो एक भाव है; एक भाव है माने अस्तिस्वरूप चीज है जो तूने अब तक स्वीकार नहीं की। ये अगर स्वीकार कर लेता तो यहाँ ही नहीं होता, सिद्धों में जा मिलता। वो एक भाव है – ऐसा वजन है उसमें।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! ज्ञेयाकार को देखते ही उसे ऐसा हो जाता है कि मैं एक ज्ञायकभाव हूँ?

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञेयाकार को देखते हुए कुछ नहीं। ज्ञेयाकार को तो देखता ही नहीं है।

**मुमुक्षु :**– मतलब उसका स्वरूप समझने से?

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञेयाकार तो ज्ञेय के पास है, ये तो अपने ज्ञानाकार को देखता है।

**मुमुक्षु :**– ज्ञेयाकार मतलब वो ज्ञेय नहीं, वो अपना ही ज्ञान है वो, तो उसको देखते ही, वो समझते ही मैं एक ज्ञायकभाव हूँ – ऐसी बात आती है।

**पूज्य बाबूजी :**– ऐसी बात आती है।

**मुमुक्षु :**– बस! वो ही कहना है।

**पूज्य बाबूजी :**– वो तो अभी आचार्य स्पष्टीकरण कर रहे हैं। आगे स्वरूपप्रकाशन की बात आएगी। अभी तो ये स्पष्टीकरण है।

**मुमुक्षु :**- अज्ञानी ने आज तक, अभी तक ये नहीं माना कि ये एक भाव है। हमेशा पर्याय दृष्टि.....

**पूज्य बाबूजी :**- ज्ञायक अस्ति स्वरूप है उसने ये नहीं माना और पर्याय को ही संपूर्ण आत्मा माना, इसलिए पर्याय के नाश में इसको तीव्र आकुलता हुई, अनंत आकुलता हुई। वरना पर्याय के नाश में आकुलता कि कहाँ जरूरत है? पर्याय तो अमर हो गई। जो पहले मौत-मौत करती थी, मौत का अनुभव करती थी, उस पर्याय ने जब ज्ञायक की ओर देखा तो अब वो ऐसा बोलती है कि मैं तो अमर हो गई; अब वो अमरता की अमराइयों में केली करती है, अब मौत का नाम ही नहीं लेती है कि मौत किसको? जीवन को मौत होती है क्या? मैं तो जीवन तत्त्व हूँ।

**मुमुक्षु :**- कार्य सम्पन्नता यहीं हो जाती है यदि ऐसी मान्यता हो जाए कि 'एक ज्ञायकभाव हूँ' - यहाँ से?

**पूज्य बाबूजी :**- वो तो हो जाता है, सफल हो जाता है। सफलता में क्या है? एक भाव स्वीकार कर लेता है तो उससे सब कुछ हो जाता है।

**मुमुक्षु :**- हमेशा उसने अपने स्वरूप को उत्पाद-व्ययरूप ही माना है?

**पूज्य बाबूजी :**- उत्पाद-व्ययरूप माना है। आत्मा को ही उत्पाद-व्ययरूप माना है न! श्रद्धा उत्पाद-व्ययरूप नहीं मानती। श्रद्धा तो जो है वो उसको ध्रुव ही मानती है, और श्रद्धा आत्मा के सिवाय दूसरा नाम देती ही नहीं है। चाहे वो पुद्गल हो, धर्म हो, अधर्म हो, आकाश हो या काल हो या अपनी राग-द्वेष वाली पर्याय हो, कुछ भी हो। वो तो बस आत्मा - मैं; इस मैं के सिवाय उसके पास कोई दूसरी बात भी नहीं है। इसलिए उसमें दूसरा पहलू नहीं होता, चाहे पर में हो या स्व में हो, किसी

में भी हो, उसमें दूसरा पहलू होता ही नहीं है। मैं, अर्थात् वो तो आत्मा ही मानती है, अहंरूप चलती है। वो सारे जगत को आत्मा ही मानती है। जो भी उसका विषय बनेगा वो 'मैं', बस!

और ज्ञान भी वही करेगा। मिथ्यादर्शन में भी वही करता है। ज्ञान का भी अहम् ऐसा ही होता है। पर ज्ञान में तो एक दूसरा विकल्प होता है मेरा। जो अपने से, जैसे शरीर से दूसरे हैं मकान-परिवार दुनिया, ये मेरे हैं - ज्ञान में ऐसा विकल्प हो जाता है, श्रद्धा में ऐसा नहीं होता। ज्ञान में ऐसा कर्ता-कर्म आ जाता है। कर्ता-कर्म अधिकार इसीलिए लिखा है।

ज्ञान की अज्ञानरूप एक और भी स्थिति होती है। वो कर्ता-कर्मरूप है कि मैं कर्ता और ये मेरे कर्म और दूसरी एक स्थिति जो पहले अधिकार में आ गई कि 'मैं'। जैसा श्रद्धा का अहम् है और वैसा ही ज्ञान का अहम् है। जैसे श्रद्धा का विषय शरीर हुआ तो उसने माना कि मैं आत्मा हूँ, तो उसी तरह ये ज्ञान भी आत्मा मानता है। ज्ञान भी शरीर को आत्मा मानता है। शरीर ही आत्मा है बस और क्या है? यदि इससे लंबा अर्थात् ज्यादा माने तो अनंत मानना पड़ेगा। तो ऐसा मानेगा तो दुख क्यों होगा? ये ठीक है! ये तो पर्याय की अमरता की करवट है। सम्यग्दृष्टि को तो प्रतिसमय ऐसा अनुभव होता है - अनुभव माने ऐसा प्रतिसमय पड़ा ही है।

## पर्याय की अमरता

**मुमुक्षु :**- पड़ा है। होता है नहीं?

**पूज्य बाबूजी :**- पड़ा है, होता है, अर्थात् वो (उपयोगरूप) अनुभूति जिसे कहते हैं, वो प्रतिसमय नहीं होती है न! जैसे बाह्य पदार्थों में उपयोग हो तो वो भी पड़ा है कि 'अमर हूँ मैं, मौत नहीं है मेरी'। मौत नहीं है ऐसा भीतर से लगता है। बाहर से अगर कोई किसी जानवर को

देख ले तो भाग जाये। कोई डरानेवाला आ जाए तो भाग जाए। सम्यग्दृष्टि को बाहर से तो ऐसा होता है और भीतर से निरंतर परिणमन चलता है कि मैं अमर हूँ, मेरी मौत नहीं है। मुझे मौत आती ही नहीं। जीवन तत्त्व को मौत कैसे आएगी ? जो अनादि-अनंत जीवन तत्त्व है, उसकी मौत कैसी ? तो ये पर्याय भी अमर हो जाती है जो कि मरने वाली है। जो अंतरूप है, प्रतिसमय व्ययरूप है, उत्पादरूप है, वो भी अमर हो जाती है। अमरता का अनुभव करने में ये भी अमर हो जाती है और बोलने लगती है कि मैं अमर हूँ। मैं अमर हूँ - ये बोलने लगती है, तो अब दुःख कैसे होगा ? दुःख नहीं होता है। वो जो दुःख होता हुआ दिखता है वो सब ऊपर ही ऊपर तैरनेवाली चीजें हैं। आया है न! सब ऊपरितरन्ति ऊपर ही ऊपर तैरते हैं। भाई! ज्ञायक के अतिरिक्त जितने भाव हैं वो सब ऊपर ही ऊपर तैरते हैं। पर्याय वाली अनुभूति भी बाहर निकल गई, वो भी बाहर है, वो भी बाहर निकल गई। सब अदृश्य हैं, एकमात्र ज्ञायक बस; अनुभव में ऐसा है। हैं सब पर्याय; सब पर्याय में ही हो रहा है, लेकिन वो पर्याय भी द्रव्याकार होकर द्रव्य बन गई। इसीलिए उसको प्रतिसमय अमरता का अनुभव है। अनादि-अनंत द्रव्य में क्या होना है ? और मैं तो वो हूँ।

**मुमुक्षु :-** अनादि अनंत द्रव्य में क्या होना है ? माने मौत तो होनी नहीं है।

**पूज्य बाबूजी :-** मौत तो होनी ही नहीं है। और मैं वही हूँ। मैं भी अमर हूँ। **ये प्रतिसमय मरनेवाली पर्याय अमर हो गई। प्रतिसमय अनुभूति बदलती है न! उत्पाद-व्यय प्रतिसमय है तो सही, पर वो तो सारा का सारा इसने निकाल दिया इसने और ज्ञायक को पसार दिया। वहाँ उत्पाद-व्यय का अनुभव थोड़ी ना होता है, वहाँ तो अनादि-अनंत का अनुभव होता है।**

**मुमुक्षु :**– जब ये स्वीकार किया कि ज्ञायक जो एक 'भाव' है 'है' तो उसने उत्पाद–व्यय से रहित स्वीकार कर लिया है।

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञायक एक भाव है माने वो अस्तिस्वरूप है। उसमें सब विशेषण पहले दे दिए न कि वो पुण्य–पाप में संक्रमित होता ही नहीं है, ऐसा अनादि–अनंत है। ये सारा पहले आ गया न! ऐसा ज्ञायक जो एक भाव है वो चीज जबरदस्त है।

**मुमुक्षु :**– और उत्पाद–व्ययरूप नहीं है।

**पूज्य बाबूजी :**– नहीं है। नहीं है, वो तो पहले ले लिया अनादि–अनंत।

**मुमुक्षु :**– उसका कारण स्वरूपप्रकाशन है?

**पूज्य बाबूजी :**– अपने को बार–बार पर्याय की ही याद आती है – **पर्याय को तो यूँ कह देना चाहिए कि यह तो द्रव्य ही बन गई है। अभी इसकी क्या बात करना? ये तो द्रव्य बन गई। माने इसका गोत्र ही बदल गया। पहले क्रिया थी मगर अब निष्क्रिय हो गई। पहले मौत थी अब अमर हो गई।**

**मुमुक्षु :**– पहले उत्पाद–व्यय थी अब त्रिकाल हो गई।

**पूज्य बाबूजी :**– अब त्रिकाल हो गई। त्रैकालिक हो गई।

**मुमुक्षु :**– उसके आगे कहा है कि क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ वह स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में भी....तो कारण क्या है?

**पूज्य बाबूजी :**– वो बहुत बढ़िया बात है कि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ अर्थात् ज्ञेयाकार अवस्था में अज्ञानी को तो वो ज्ञेयाकार लगता है माने उसे ज्ञेय का आकार ही लगता है। **वो ज्ञान**

**में ज्ञेय का अस्तित्व मानता है तो उसे ज्ञान ज्ञेयाकार लगता है। वो ज्ञेयाकार नहीं, पर उस ज्ञेयाकार अवस्था में भी ज्ञानी को वो ज्ञायक ही अनुभव में आता है।** वो जो आत्मा में ज्ञेय जैसी आकारवाली अवस्थायें हैं अर्थात् ज्ञानाकार हैं, ज्ञानी को उसमें ज्ञायक ही अनुभव में आता है। उसमें अर्थात् बाह्य पदार्थों के समय भी – आचार्य का उसमें यह कहना है।

**वह स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में भी 'भी' शब्द है यहाँ पर। इसका अर्थ ये है कि ये बात ऊपर ले जाती है कि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ .... कि जो ज्ञेयाकार अवस्था होती है उसमें भी वो अपने आप को ज्ञायक ही अनुभव करता है, तो स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में तो ज्ञायक हूँ – ये अनुभव साक्षात् कर ही रहा है। उसमें तो कर ही रहा है लेकिन उस ज्ञेयाकार अवस्था में भी अपने को ज्ञायक ही मान रहा है, क्योंकि उस समय तो बहिर्मुख है न! जिस समय यह ज्ञेयाकार अवस्था हो रही है उस समय तो उपयोग बहिर्मुख है, लेकिन उसमें भी ज्ञानी को ज्ञायक अनुभव में आता है। स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में भी ज्ञायक ही है। स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में मैं अनुभव कर रहा हूँ – ऐसा नहीं है। पर्याय नहीं पर ज्ञायक हूँ – ऐसा! और ज्ञेयाकार अवस्था में भी ज्ञायक ही हूँ। ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ इसमें लिखा है।**

**मुमुक्षु :–** हाँ! जानने में आया। जानता हूँ नहीं बल्कि जानने में आया!

**पूज्य बाबूजी :–** जानने में आया। ज्ञेयाकार अवस्था में भी ज्ञायकपने जानने में आया। अब इससे अधिक और क्या होगा? कि बहिर्मुख उपयोग में भी ज्ञानियों को प्रतिसमय ज्ञायक ही अनुभव में आता है। अर्थात् वो उसको हर समय माने बैठा है, उपयोग में चाहे कुछ भी हो!

**मुमुक्षु :-** माने ज्ञानी होने के बाद अपनी वर्तमान की परिस्थिति का वर्णन हो गया?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ हो गया न! पूरा हो गया। हर समय माने प्रतिसमय जो ज्ञानी है उसको तो ज्ञायक ही अनुभव में आता है। ज्ञायकपने जानने में आया माने उसने जब देखा कि ये ज्ञानाकार कौन है? कि ये तो ज्ञायक ही है, ये तो ज्ञायक ही है, तो स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में तो ज्ञायक है ही सही। वो तो प्रत्यक्ष ही ज्ञायक मान रहा है।

**मुमुक्षु :-** कर्ता-कर्म का अनन्यत्व ही तो....

**पूज्य बाबूजी :-** कर्ता-कर्म का अनन्यत्व हो गया न! वहाँ भी कर्ता-कर्म का अनन्यत्व है क्योंकि ज्ञायकपने जानने में आया न! तो वहाँ भी कर्ता-कर्म का अनन्यत्व है। स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में भी कर्ता-कर्म का अनन्यत्व होने से ज्ञायक ही है। तो कर्ता-कर्म का अनन्यत्व माने 'मैं ही ज्ञेय और मैं ही ज्ञायक' बस! ऐसा भेद भी समाप्त होकर 'मैं ज्ञायक'।

**मुमुक्षु :-** बहुत सुंदर! कर्ता-कर्म का अनन्यत्व मतलब 'मैं ही ज्ञेय और मैं ही ज्ञायक' - ऐसा अनन्यत्व (भी) समाप्त होकर मैं ही ज्ञायक बस!

**पूज्य बाबूजी :-** मैं ही ज्ञायक, मैं ज्ञायक।

**मुमुक्षु :-** मगर स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में तो ऐसा कोई भेद नहीं है। अभेद परिणमन ही है। फिर यहाँ कर्ता-कर्म का अनन्यत्व क्यों बोल रखा है?

**पूज्य बाबूजी :-** कर्ता-कर्म का अनन्यत्व....ये पहले अज्ञान अवस्था में अपने को तो (ज्ञायक) और ज्ञेय मेरे जानने में आनेवाले - ऐसा मानता था तो वो हुए इसके कर्म। लेकिन अब कर्म हो गया ज्ञानाकार।

**जब ज्ञानी हुआ तो जो प्रतिसमय ज्ञानाकार प्रतिभास है, वो प्रतिभास तो हो गया कर्म और ये हो गया ज्ञाता। है ये भी विकल्प, लेकिन ये ज्ञाता हो गया है और वो प्रतिभास इसका कर्म हो गया और अज्ञानी मानता था कि मैं ज्ञाता और ये जगत मेरा ज्ञेय, ये रागादिक मेरे ज्ञेय - वो ऐसा मानता था।**

**मुमुक्षु :-** बराबर! तो उसे परसन्मुखता ही थी 100 परसेंट?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! यहाँ 100 परसेंट माने सदा ही ज्ञायक है। सदा ही ज्ञायक है, चाहे पर को जाने....पर को जानना कहा जाए अथवा स्व को जाने, ज्ञायक ही है। प्रतिसमय ज्ञानी को ज्ञायक ही अनुभव में आता है। इसे ज्ञायक की अनुभूति कहते है ये सतत् है, लगातार है। वो ज्ञान तो बहिर्मुख है पर बहिर्मुख होने पर भी भीतर तो ये पड़ा है न कि 'मैं तो ज्ञायक ही हूँ'। ऐसी श्रद्धा की पर्याय चल रही है और ज्ञान की पर्याय ने भी एक बार उसको प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, इसलिये वो ज्ञान चेतना लब्धरूप में पड़ी है। उसको लब्धरूप ज्ञान-चेतना कहते हैं।

## ज्ञान चेतना की परिणति

**मुमुक्षु :-** ज्ञान-चेतना की परिणति किसको कहते हैं?

**पूज्य बाबूजी :-** ज्ञान-चेतना की परिणति स्वानुभूतिरूप है।

**मुमुक्षु :-** और वो स्वानुभूति आनंदरूप है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! आनंदरूप तो है ही सही। इसका फल आनंद होता है। ज्ञान-चेतना अर्थात् स्वानुभूति। ज्ञान में जो चेतता है अर्थात् आत्मा में चेतता है।

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! ये परिणति शब्द बहुत जगह आता है, परिणति का क्या मतलब है?

**पूज्य बाबूजी :-** परिणति अर्थात् क्या ? परिणति अर्थात् क्रिया; क्रिया। क्रिया-कर्म-कार्य कुछ भी नाम लो। एक पर्याय का व्यय होकर दूसरी पर्याय होना। बस!

**मुमुक्षु :-** एक छोटा सा last (अंतिम) प्रश्न है। सम्यग्दर्शन की प्रेक्टिस ज्ञानाकार-ज्ञान ज्ञायक के साथ ही स्वयं को अखंडरूप एकरूप अनुभव करे तो इस प्रकार होती है या दूसरे किसी तरीके से होती है ?

**पूज्य बाबूजी :-** यही रीति है। बस हो गया प्रश्न....अच्छा है सीधा अर्थ है। स्वयं ही उत्तर दे दिया है न उसमें ! अंतर्मुख होने की पद्धति यही है और कोई दूसरी पद्धति नहीं है। **पर-प्रकाशक माने, तो वो ज्ञान बाहर गए बिना रहेगा ही नहीं। उपयोग बाहर गए बिना रहेगा ही नहीं और जब स्व-प्रकाशक माने तब अनुभूति हुई तो फिर पर-प्रकाशकता व्यवहारनय का विषय हो गई और अगर अनुभूति नहीं हुई और पर-प्रकाशक माने तो उसका नाम मिथ्यादर्शन-अध्यवसान है।**

**मुमुक्षु :-** मतलब ये कि स्व-परप्रकाशक की बात तो अनुभव के बाद है।

**पूज्य बाबूजी :-** स्व-परप्रकाशक भी व्यवहारनय का विषय है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। स्व-परप्रकाशक भी व्यवहारनय का विषय है।

**मुमुक्षु :-** पर्याय का स्वरूप होने से व्यवहारनय का विषय है ?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! व्यवहारनय का विषय है। क्योंकि वो 'स्व' के साथ 'पर' भी आ गया न, तो उसको पर-प्रकाशक कहा न! और पर-प्रकाशकता का स्वरूप क्या है ? कि वो **स्व-प्रकाशकता ही पर-प्रकाशता कहलाती है और ये मानता है पर-प्रकाशक। ये पर-**

**प्रकाशक ही मानता है, तो उसको अपने में पर का अस्तित्व मानना पड़ता है, तो उसे अपने आपको पर से तन्मय मानना पड़ता है बस! ये हो गया अज्ञान और मिथ्यादर्शन!**

**मुमुक्षु :**– मानना पड़ता है।

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! मानना पड़ेगा न! जब पर का अस्तित्व अपने में होगा तो अपने को पररूप मानना ही पड़ेगा। तो वो मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान हो गया!

पर से तन्मय मानना पड़ेगा न! मेरे में पर का प्रकाशन होता है इसका सीधा अर्थ ये है कि वहाँ प्रकाशन तब होगा जब पर तेरी मान्यता के अनुसार पर तुझमें आयेगा और वो तो आता नहीं है लेकिन तू मान ही रहा है; मान रहा है तो आकुलता नहीं मिटेगी। होता नहीं है लेकिन मान रहा है इसलिए आकुलता मिटने वाली नहीं है क्योंकि पर मेरे भीतर आता है – यही तो आकुलता का कारण कहा है और ये मान ले कि मेरी तो वज्र की दीवारे हैं। मेरा तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ही वज्र का बना हुआ। Sealed सीमायें हैं; किसी का प्रवेश, माने अणु का भी प्रवेश नहीं हो सकता।

**मुमुक्षु :**– यहाँ ही बाबूजी स्व-पर का विभाग करना चाहिए, बस।

**पूज्य बाबूजी :**– बस! स्व-पर का विभाग, पर्याय तक का विभाग कर डालो। वो अपनी पर्याय तक का विभाग कर डाले। एकमात्र ज्ञायक को सिंहासन पर रखे न! सर्वोच्च सिंहासन पर एकमात्र, चिन्मात्र हो।

**मुमुक्षु :**– परप्रकाशक को माने और अनुभव के पहले पर-प्रकाशक माने तो वो मिथ्या है?

**पूज्य बाबूजी :**– मिथ्यादर्शन है, अध्यवसान है।

**मुमुक्षु :-** और अनुभव के बाद में है.....

**पूज्य बाबूजी :- अनुभव के बाद कहे, ऐसा विकल्प चले, ज्ञान में भी ऐसा ही विकल्प चले तो उसका नाम है व्यवहारनय है क्योंकि वो पर-प्रकाशन होता नहीं है, लेकिन परप्रकाशन मात्र कहा जा रहा है। कहा जा रहा है माने ज्ञान में भी विकल्प होते हैं।** ऐसा नहीं है कि वो मात्र वाणी का ही विषय हो। वाणी का विषय हो तो वो तो अचेतन है। पर भीतर व्यवहारनय जैसे विकल्प भी चलते हैं कि मेरे ज्ञान में ये दिखाई दे रहा है - ऐसा। तो वो व्यवहारनय है।

जैसा दिखाई नहीं दे रहा है, उसको दिखाई देनेवाला मानता है..... तो व्यवहारनय ये ही तो करता है। तो उसका निषेध किया जाए कि मेरे ज्ञान में पर प्रकाशित हो रहा है - इसका निषेध करो पहले, तब व्यवहारनय बनता है। वरना वो व्यवहारनय नहीं बनता है। वो तो व्यवहार भी निश्चय के स्थान पर हो जाता है। अज्ञानी को व्यवहार निश्चय के स्थान पर है।

**मुमुक्षु :-** मेरे में पर-प्रकाशन होता ही नहीं है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! पर-प्रकाशन नहीं होता है। मेरे में तो मैं ही प्रकाशित होता हूँ - पर-प्रकाशन कैसे होगा? मेरे में पर है ही नहीं तो प्रकाशित कैसे होगा? ये जाता नहीं और वो आता नहीं। ये तो एकदम 100 प्रतिशत सत्य बात है।

**मुमुक्षु :-** ये बात दोहराने से इतना अच्छा लग रहा है कि स्व-परप्रकाशक का जो स्वरूप है वो स्व-प्रकाशकरूप से एकदम स्पष्ट होता जाता है। एकदम सही बात है! पर-प्रकाशन माने स्व-प्रकाशन ही है।

**पूज्य बाबूजी :- स्व-प्रकाशन ही है। उसी को ज्ञेय की ओर से, ज्ञेयाकार की ओर से, माने कि ज्ञानाकार की ओर से पर-प्रकाशन**

**कहते हैं और कहना भी चाहिए। अवश्य कहना चाहिए वरना उधर वो सिद्धि नहीं होगी। अगर नहीं कहेंगे तो जगत का अभाव सिद्ध होता है, उसमें सर्वज्ञता का अभाव होता है। जगत का अभाव तो सर्वज्ञता का अभाव ठहरा।**

**मुमुक्षु :**- जगत की सिद्धि भी करता है जैनदर्शन और उससे बचकर भी चलते हैं।

**पूज्य बाबूजी :**- जगत से बचकर तो पूरी तरह चलता है।

**मुमुक्षु :**- है तो वो निरपेक्ष!

**पूज्य बाबूजी :**- निरपेक्ष है, एकदम निरपेक्ष। निरपेक्ष तो है ही अर्थात् सापेक्षता तो केवल कथन की बात है, उसका नाम व्यवहारनय है। निश्चय-व्यवहार के रूप बदलते जाते हैं असल में, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है।

**मुमुक्षु :**- और बस एक का रूप नहीं बदलता।

**पूज्य बाबूजी :**- एक का नहीं बदलता। वो अंतिम है - पराकाष्ठा है।

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 14

(7 फरवरी 1999)

***स्व-परप्रकाशक एवं ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की अद्‌भुत चर्चा बारम्बार पढ़ें।***

**मुमुक्षु :-** ज्ञेयों के आकार का प्रतिबिंब और सामान्य उपयोग में होते ज्ञेयों का प्रतिबिंब इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है या नहीं? कर्ता-कर्म संबंध तो नहीं है, क्योंकि ज्ञेय और ज्ञान दोनों ही निरपेक्ष हैं, परंतु ज्ञेयों का प्रतिबिंब ज्ञान में होता है इसलिये यदि निमित्त-नैमित्तिक संबंध माना जाए तो कर्ता-कर्म संबंध क्यों नहीं माना जाए?

## सामान्य उपयोग और प्रतिभास का स्वरूप

**पूज्य बाबूजी :-** प्रतिभास-प्रतिबिंब और सामान्य उपयोग में होनेवाला ज्ञेयों का प्रतिभास, दोनों में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है तो सही! पर वो प्रतिभास तो पर्याय ही है। उसमें कहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है? सामान्य ज्ञान है वही प्रतिसमय विशेषरूप हो रहा है। ये तो हमेशा याद रखने की पक्की बात है कि ज्ञान त्रिकाल ही प्रतिभास स्वरूप है,क्योंकि कोई न कोई ज्ञेय उसका विषय बनता है और ज्ञान उस जैसा प्रतिभास अपने भीतर बनाता है। तो प्रतिभास माने ज्ञेय जैसा आकार! वो जो ज्ञेय जैसा आकार हुआ, वह भी पूरी ज्ञान की पर्याय है। उसमें जाननेवाला कोई अलग और जानने में आनेवाला कोई अलग, ऐसा बिल्कुल भी नहीं है, इसलिए दोनों एक ही पर्याय है।

इसलिए जो पहला प्रश्न है वो सही नहीं है। पर उत्तर हो गया कि प्रतिबिंब तो कोई पड़ता नहीं है। प्रतिबिम्ब इसलिये कहा जाता है कि

जैसा ज्ञेय का आकार है, ठीक वैसा का वैसा ज्ञान का प्रतिभास है, ज्ञान का आकार है। इसलिए उसे प्रतिबिंब कहते हैं।

जैसे हम कहते हैं कि मैं दर्पण में अपना मुँह देखता हूँ, उसका नाम प्रतिभास! लेकिन मेरी कोई छाया दर्पण में पड़ती हो, मेरा कोई प्रभाव दर्पण में होता हो, तो ऐसा है? दर्पण और देखनेवाला इन दोनों का सानिध्य होता है, तो दर्पण में प्रतिबिंब हो जाता है। वहाँ से हट जाता है तो कोई दूसरा आ जाता है। माने कोई न कोई पदार्थ इस दर्पण के सामने रहता ही है।

इसी तरह एकेन्द्रिय का ज्ञान भी हमेशा प्रतिभासरूप होता है। एकेन्द्रिय भी मानता है न कि मैं दुखी हूँ। ये देह मेरी है – ऐसा तो वो भी मानता है। मानना-जानना बंद नहीं होता। जानना भले थोड़ा है। ये जानना भी थोड़ा ही है कि ये शरीर मेरा है। अब इसमें तो सिर्फ 'नहीं है' – इतना लगाना है सम्यग्ज्ञान बनने के लिए। वो लगा नहीं पाता है न कि 'नहीं है'।

वहाँ उसका उस शरीर का प्रतिभास अथवा होने वाले दु:ख का प्रतिभास! ये प्रतिभास वहाँ एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय सभी को होते हैं। माने वो जिस जिस पदार्थ को विषय करता है तो इसी प्रकार प्रतिभास.. प्रतिभास-प्रतिबिंब ये एकरूप ही हैं। लेकिन प्रतिबिंब में ऐसा लगता है कि जैसे उस ज्ञेय का उस ज्ञान में कुछ जा रहा हो, कोई प्रभाव ही हो रहा हो, असर ही हो रहा हो, लेकिन वो बिल्कुल नहीं होता है; क्योंकि निरपेक्षता स्वीकार कर लेने के बाद ये सारे के सारे निषिद्ध हो जाते हैं। इन सबसे इन्कार करना पड़ता है, क्योंकि वह प्रतिभास ज्ञेयों से निरपेक्ष है।

उधर ज्ञेय अपने में परिणमन करता हुआ निरपेक्ष है, इधर ज्ञान अपने प्रतिभास बनाता हुआ निरपेक्ष है और वो अपनी शक्ति से बनाता है।

अपनी सामर्थ्य से बनाता है तभी तो चतुराई है, वरना नकल में क्या अकल ? तो इसने नकल नहीं की है उसकी। हाँ! उसने तो चुपचाप अपने भीतर, अपने भीतर ही भीतर प्रदेशों में सारा आकार बना लिया है।

अब निमित्त-नैमित्तिक संबंध की बात! सचमुच तो पहले जो निरपेक्षता स्वीकार की, तो उसमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध का परिहार हो जाता है। परिहार हो जाता है, अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक संबंध रहता ही नहीं है। लेकिन **अब दूसरी जो व्यवहार व्यवस्था है, वो ज्ञान में जानने में आएगी। चाहे वो कैसी भी हो, चाहे वो दो पदार्थों के सहयोगवाली हो, लेकिन ज्ञान में तो वो आयेगी न!** जैसी ये निरपेक्षता ज्ञान में समझ में आई। उसने निश्चित किया कि निश्चितरूप में हर पदार्थ अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में निरपेक्ष है। इसी तरह मैं, मेरा ज्ञान, मेरे गुण और मेरी पर्याय - ये हर स्थिति में निरपेक्ष ही हैं। किसी अन्य से किसी प्रकार का मेरा संबंध नहीं है।

समयसार में आया है न ? **नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः** (समयसार कलश 200) अब इसमें क्या बच जाता है ? इनमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध का नाम व्यवहार है। तो उसका अर्थ ये है कि ये ज्ञान में जो प्रतिभास बना है, उसके संबंध में हमें प्रश्न पैदा हुआ कि भाई! ये चित्र-विचित्र लीला ये क्यों कर रहा है ? आखिर जगत में कोई होना तो चाहिए तो ये ऐसी लीला करे। जैसे राम हुए या कृष्ण हुए, तो उनका वर्तमान में हम नाटक करें तो एक बात है कि वो भूतकाल में हुए हैं, तो हम वर्तमान में नाटक करें। अब वो हुए ही नहीं तो उनका नाटक कैसे किया जा सके ? वैसा का वैसा कैसे किया जा सकेगा ?

**ज्ञान में होने वाला प्रतिभास ज्ञेयों की सत्ता सिद्ध करता है इसी तरह ज्ञेय पदार्थ होने तो चाहिए, तभी तो वहाँ पर ज्ञान में उनका प्रतिभास होता है। लेकिन वो ज्ञेय पदार्थ निमित्त कहलाते हैं,**

**उसका अर्थ ही ये हुआ कि कर्ता-कर्म भाव नहीं है।** निमित्त-नैमित्तिक का अर्थ ही ये हुआ, वरना हमने ये निमित्त-नैमित्तिक क्यों पैदा किया, अगर कर्ता-कर्म है? इसलिए निमित्त-नैमित्तिक का अर्थ ये है कि जब ज्ञान जाननेरूप प्रवृत्त होता है तब वहाँ जो परपदार्थ या कोई पर विषय होता है, तो वो निमित्त कहलाता है और ज्ञान की पर्याय नैमित्तिक कहलाती है। ज्ञान का प्रतिभास नैमित्तिक कहलाता है बस! कहलाता है ऐसा कहना भी व्यवहार है। व्यवहार है अर्थात् ये बात नहीं होते हुए भी, संबंध बिल्कुल नहीं होते हुए भी हम ये बात कहते हैं और भीतर ज्ञान में भी इस प्रकार का विकल्प होता है कि मेरा मुँह दिखाई देता है, क्योंकि दर्पण है न! और इधर मैं हूँ तो दर्पण में मुँह दिखाई देता है।

इस तरह की कई बातें उस व्यवहार में की जा सकती हैं, माने उसमें कोई दिक्कत नहीं है। लेकिन निरपेक्षता पहले स्वीकार कर ली जाए कि निरपेक्षता अपनी जगह से हिलती नहीं है और ये जो संबंधों की बकवास है, वो चला करती है। **जबकि संबंध हैं ही नहीं, फिर भी वो स्थिति बनती है कि बाहर जो ज्ञेय होते हैं, भीतर ज्ञान में उनका प्रतिभास होता है, इस स्थिति को भी ज्ञान जानेगा कि नहीं जानेगा? कि भाई! ये मेरे ज्ञान में ये जो हो रहा है, तो ज्ञान स्वयं तर्क करेगा कि ये मेरे ज्ञान में क्यों हो रहा है ? क्योंकि बाहर इस प्रकार के कोई पदार्थ विद्यमान हैं, तो वे ज्ञान में दर्पण की तरह नजर आते हैं।** इसीलिए निमित्त-नैमित्तिक संबंध अगर हमने स्वीकार कर लिया तो वहाँ पर कर्ता-कर्म संबंध का संपूर्ण परिहार हो गया। ज्ञान और ज्ञेय में अगर कर्ता-कर्म संबंध मान लिया जाए तो दो पदार्थों में संबंध बन गया। आत्मा हो गया कर्ता और वो ज्ञेय पदार्थ हो गए कर्म। और कर्ता और कर्म अनन्य होते हैं। वो अलग-अलग जगह नहीं रहते। एक ही पदार्थ में होते हैं, इसलिए ये दोनों एक हो गए, माने आत्मा जड़ हो गया। इसमें इतने दोष आते हैं।

तो ये जहाँ भी संबंध की बात आवे, बस तुरंत आँख बंद करके ये स्वीकार कर लेना कि ये संबंध जो है, ये केवल व्यवहार है, कहने मात्र की बात है। कहने मात्र की बात है अर्थात इसमें जरा भी सच्चाई नहीं है। **वास्तव में निमित्त-नैमित्तिक संबंध में भी सच्चाई नहीं है, क्योंकि वे जब कुछ करते ही नहीं हैं और आप अपना-अपना करते हैं तो इसमें सच्चाई क्या है? फिर संबंध कहाँ बैठा? ज्ञेय अपने परिणमन में, ज्ञान अपने प्रतिभासरूप परिणमन में निरपेक्ष भाव से रहा, तो बीच में संबंध कहाँ रह गया? तो संबंध की रेखा कहाँ रह गई?**

ज्ञेय अपनी शक्ति से अपने में और ज्ञान अपने परिणमन में, अपने प्रतिभास में। तो बीच में हम दोनों को जोड़ने की कौन सी रेखा लगायेंगे या क्या लगायेंगे? और वो होगा नहीं। संभव ही नहीं है क्योंकि यह कुदरत का नियम है। अगर ऐसा करेगा तो कुदरत तो दंड देगी। इसलिए ये सब सम्बन्ध की बातें आत्मदर्शन के बाद की बातें हैं। पहले विकल्प दशा में भले हम इनको जानें तो वो निर्णय के लिए बहुत अच्छा है। लेकिन ये सब आत्मदर्शन के बाद! निमित्त-नैमित्तिक संबंध, एकक्षेत्रावगाह संबंध, संयोग संबंध इत्यादि-इत्यादि अथवा तो तादात्म्य संबंध! ये संबंधों के नाम से जितना भी पुकारते हैं तो वो सारा का सारा व्यवहार है, क्योंकि संबंध मात्र नहीं है।

**तादात्म्य संबंध में भी क्या है? वो तो एकमेक हैं। एक ही हैं, एक ही पदार्थ के हैं, उसी को तादात्म्य संबंध कहते हैं। पर संबंध क्या है? कहीं बाहर से आया है? बाहर से तो कोई चीज आई नहीं है, फिर ये क्या संबंध है? स्वयं का स्वयं के अनन्त गुणो के साथ त्रिकाल संबंध बना हुआ है।**

**मुमुक्षु :-** वाह वाह वाह! अद्भुत! स्वयं का स्वयं के साथ संबंध!

**पूज्य बाबूजी :–** त्रिकाल अनंत गुणों का संबंध और अनंत पर्यायों का संबंध बना हुआ है, जैसा बना है वैसा। उसमें किसी का हाथ, किसी का हिस्सा, किसी की partnership (साझेदारी) बिल्कुल नहीं है। सारी की सारी कुदरत ही निरपेक्ष है न! तो वहाँ से स्वीकार कर लेने पर तो स्वयं हमारा ज्ञान ही फिर आगे बढ़ चलता है कि मैं निरपेक्ष स्वीकार कर चुका हूँ उसको स्थापित रखकर अब ये विचार करना।

जैसे – हमारे मामा के घर से कोई मेहतरानी आवे, तो हम उसे मौसी कहते हैं। अब वो कितनी मौसी है? उसको बुलाओ चौके में! तो वो कहने की है या है वास्तव में है? और अगर नहीं कहे, उसको मेहतरानी कहे, तो तू ज्यादा चढ़ गया दिखता है। तेरा दिमाग ज्यादा चढ़ गया दिखता है। **पहले मौसी-मौसी कहता था और अब मेहतरानी कहने लग गया, तो ये व्यवहार बिगड़ जाएगा। इसलिए उसे मौसी कहना चाहिए, लेकिन मानना बिल्कुल अधर्म है, और नहीं कहे तो वस्तु-व्यवस्था समझ में नहीं आती।**

**मुमुक्षु :–** बाबूजी! भावमन में उत्पन्न हुआ राग का प्रतिबिम्ब, वो ज्ञान में सामान्य उपयोग में प्रतिबिम्बित होता है न? तो दो पर्याय होगी कि एक ही पर्याय होगी?

**पूज्य बाबूजी :–** एक पर्याय है। वो तो हमेशा प्रतिभासरूप ही होता है। वो पर्याय सदा पूरी की पूरी प्रतिभासरूप है। उसमें कुछ अलग से थोड़ा सा अंश नहीं पड़ा है जो कि उसको अलग जाने। वो प्रतिभास जाननभाव स्वरूप है।

वो प्रतिभास ज्ञान का बना हुआ है, शांतिभाई! प्रतिभास ज्ञान का बना हुआ है, तो जानना कहाँ चला जाएगा? ज्ञान तो जाननस्वरूप हमेशा ही रहता है। अब यदि उसका आकार बदला, तो उससे ज्ञान में क्या फर्क पड़ गया?

**मुमुक्षु :**- अगर राग का उत्पाद-व्यय हुआ तो पहले से उसका ज्ञान हो जाता है?

**पूज्य बाबूजी :**- पहले से क्यों होगा? प्रतिभास और ज्ञान एक ही साथ है। वो प्रतिभास तो ज्ञान ही है न! उसी समय का है। आगे-पीछे का भी हो सकता है, क्या दिक्कत है उसमें? जो पर्यायें बीत गईं हैं वो भी याद आ सकती हैं। उनका भी प्रतिभास हो सकता है। आगे की पर्यायें जितनी भी श्रुतज्ञान में आ सकती हैं, उनका भी हो सकता है। वहाँ कहाँ दिक्कत है? अपन वैसे ही लगाते हैं कि जैसे आज इतवार (रविवार) है। अब इतवार (रविवार) कितने दिन बाद आनेवाला है? कि सात दिन के बाद! ये हो गया ज्ञान! अगले इतवार (रविवार) का प्रतिभास हो गया, नहीं है तो भी हो गया।

**मुमुक्षु :**- इसी तरह भूतकाल का भी हो जाता है?

**पूज्य बाबूजी :**- क्योंकि वो जाननामात्र है। सीधा ऐसा समझना कि वो जो प्रतिभास है सब जाननामात्र है। लेकिन प्रतिभास हमेशा रहनेवाला है अनादिकाल से अनंतकाल तक। केवलज्ञान में भी अनंतानंतकाल तक रहने वाला है। ज्ञान, प्रतिभास से शून्य होनेवाला नहीं है।

**मुमुक्षु :**- और अपने जाननभाव से भी शून्य हो नहीं सकता।

**पूज्य बाबूजी :- नहीं! वो जाननभाव ही है। वो जाननभाव स्वरूप है, वो स्वयं जान ही रहा है। वो ही जान रहा है और वो ही जानने में आ रहा है। इसलिए ज्ञान, ज्ञान की पर्याय को ही जानता है - ऐसा गुरुदेव के व्याख्यान में कई बार आया है न! ज्ञान ज्ञान की पर्याय को ही जानता है। अभी तो उससे आगे चलना है। पर अभी इतना तो जाने!**

## ज्ञान पर्याय से ज्ञायक तक

**मुमुक्षु :-** हाँ! फिर आगे क्या है?

**पूज्य बाबूजी :-** आगे क्या है? मैं ज्ञान की पर्याय को जानता हूँ, इसमें भी क्या रखा है? मैं ज्ञान ही हूँ बस! ज्ञान ही हूँ, और ज्ञान ही हूँ माने बस ज्ञायक हूँ, चिन्मात्र हूँ बस!

**मुमुक्षु :-** माने ज्ञान की पर्याय ज्ञान की पर्याय को जानती है, उससे आगे ये बात है कि मैं ज्ञान ही हूँ? और ज्ञान हूँ माने मैं ही हूँ?

**पूज्य बाबूजी :-** मैं ही हूँ, मैं ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ। क्योंकि ये हमेशा याद रखना है, ये निर्णय पहले हो चुका है कि तुझे किसके पास जाना है? मुझे ज्ञायक के पास जाना है, इसलिए वो यहाँ इन व्यवहारों में नहीं रुकेगा। ये सारे कथन व्यवहार हो गए। ज्ञान ज्ञान की पर्याय को जानता है, मैं ज्ञान ही हूँ - ये सब व्यवहार हो गया। और परम निश्चय वो हो गया कि अरे! **मैं तो ज्ञायक हूँ। यदि ये निर्णय पहले नहीं हो तो वो यहाँ अटक जाएगा और वो मिथ्यादृष्टि, पर्यायमूढ़ ही बना रहेगा। अपने ज्ञान की पर्याय को ही जानता हूँ और मैं ज्ञान ही हूँ, अगर वो इससे आगे नहीं बढ़ता है और ये आत्मा के विकल्पों में अटक जाता है तो वो वहाँ तक पर्यायमूढ़ अज्ञानी है। वो उसको तोड़ना नहीं चाहता है। यहाँ तो अपने में भी लिहाज नहीं है, पर को जानने की बात तो बहुत दूर रह गई।**

**मुमुक्षु :-** अपने में भी लिहाज नहीं है इसका क्या मतलब?

**पूज्य बाबूजी :-** यदि लिहाज है कि मैं ज्ञान ही हूँ, तो वो ज्ञान नहीं तू आत्मा बोल! वो सिर्फ ज्ञान बोल रहा है, अभी ज्ञान की पर्याय में ही अटका है। इसलिए 'ज्ञायक हूँ' - ऐसा बोल। वो नहीं बोलता है और वो तो इसे साधन मान लेता है कि मैं ज्ञान ही हूँ, मैं ज्ञान ही

हूँ, ऐसा करते-करते ये ज्ञायक अनुभव में आ जाएगा। तो हो गया खतम, बस! व्यवहार को निश्चय मान लिया। वो था व्यवहार और उसको निश्चय का साधन मान लिया, तो हो गया मिथ्यादर्शन, अज्ञान हो गया।

**मुमुक्षु :**- माने वो निज स्वरूप के विकल्पों में ही अटका रहता है ?

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! वो तो विकल्पों में अटक गया, क्योंकि विकल्पमूढ़ है। इसको विकल्पों में से आनंद आता है। इसने अभी निर्विकल्प देखा नहीं है, यदि निर्विकल्प का आनंद आ जाए तब तो ये विकल्पों को तो बिल्कुल मिट्टी कर दे। लेकिन अभी देखा नहीं है। देखने की पद्धति ये है। तो इस पद्धति में बीच में रुकाव नहीं है। ज्ञायक के पास जाकर पूर्ण विराम है। उससे आगे तीन लोक तीन काल में कोई नहीं है।

**मुमुक्षु :**- अर्थात् ज्ञायक के गुण-भेद में भी विराम होने की कोई गुंजाईश नहीं है।

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! बिल्कुल नहीं है, बिल्कुल नहीं है। गुण भेद तो क्या करेगा ? एक-एक गुण को लेकर क्या करेगा ?

जैसे हमने दस चीजों की ठंडाई बनाई। अब उसकी जगह अपन ठंडाई नहीं बनाएँ, अलग-अलग खाएँ, तो शकर-शकर ही खायें कोरी तो क्या स्वाद आएगा ? फिर उसमें इलायची खावें तो क्या स्वाद आएगा ? फिर केशर खा लें तो क्या स्वाद आएगा ? अरे ! वो तो सबका जो निचोड़ है उसका नाम आनंद है। **इसलिए अनंत पर्यायों के निचोड़ का नाम उपयोगात्मक आनंद, शुद्धता का आनंद!**

**मुमुक्षु :**- अनंत पर्यायों के निचोड़ का आनंद उसका नाम उपयोगात्मक आनंद...।

## ज्ञानी निश्चिन्त हो गये हैं

**पूज्य बाबूजी :-** उपयोगात्मक आनंद और दूसरा तो परिणति में रहता है न! जब उपयोग बाहर चला जाएगा तब भी सुख गुण की वो शुद्ध पर्याय तो रहेगी क्योंकि उतना दुख तो कम हो ही गया है, अनंतानुबंधी जितना तो वो कम हो गया माने क्या है? दु:ख की तो जड़ ही खत्म हो गई, जड़ समाप्त हो गई, इसलिए अब उसको फिकर नहीं रही, माने ज्ञानी भीतर से बिल्कुल निश्चिन्त है कि कुछ हुआ ही नहीं है, न कुछ हो रहा है और न अनंतकाल में कुछ होना है। ये सब मेरी मिथ्या कल्पनायें थीं कि मेरे भीतर कुछ हुआ है, क्योंकि मैं तो अनहोना तत्त्व हूँ। जो होता है वो पर्याय में होता है और उससे मैं बिल्कुल अनासक्त हो गया हूँ।

होनी तो पर्याय है। इसलिए होना जो है वो सब पर्याय का धर्म है। होना मेरा धर्म नहीं है क्योंकि मैं तो अनहोना तत्त्व हूँ। होना तो घटना को कहते हैं। कुछ हुआ इसका नाम तो घटना है न ? आत्मा में कौनसी घटना घटी है आज तक ? यदि कोई घटना घटी होती तो अवश्य विकृत हो गया होता, टुकड़े हो गए होते, आधा रह गया होता, नष्ट हो गया होता।

उसकी वज्र दीवार को तो कोई छूता ही नहीं। उसकी वज्र दीवार पर सारा विश्व मिलकर भी आक्रमण करे तो एक निशान भी नहीं होनेवाला है। इतना सुंदर तत्त्व मेरे पास है, अर्थात् ऐसा तत्त्व मैं हूँ तो उल्लास नहीं आएगा ? यदि किसी ऋषि का वरदान मिल जाए तो उसमें कितना उल्लसित रहता है कि अपने को मरना ही नहीं है; कहीं चलो, कहीं भी। भले किसी भी विपत्ति में धस जाओ, तो भी ऋषि का वरदान है कि मरना नहीं है। यहाँ भी कुंदकुंद ऋषि का वरदान है।

**मुमुक्षु :-** होनी तो पर्याय में होनी है।

**पूज्य बाबूजी :**– होना तो पर्याय में होता है।

**पतझड़ में पेड़ के पत्ते खिर जाते हैं**
**और आती बरसातें तो बदन भर जाते हैं।**
**पुण्य और पाप ये तो मौसमी हवाएँ हैं रे!**
**तू बेमौसम है, मौसम बदल जाते हैं।**

**मुमुक्षु :**– तू बेमौसम है, मौसम बदल जाते हैं। पुण्य पाप मौसम हैं। वाह रे वाह!

**पूज्य बाबूजी :**– पतझड़ में पेड़ के पत्ते खिर जाते हैं। आती बरसातें तो बदन भर जाते हैं। पुण्य और पाप ये तो मौसमी हवाएँ हैं रे! तू बेमौसम है, मौसम बदल जाते हैं। ये चतुष्पद है।

**मुमुक्षु :**– आस्रव को कहाँ डाल दिया?

**पूज्य बाबूजी :**– ये सब मौसम हैं, पुण्य और पाप तो बदला करते हैं।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! मतलब अपनी पर्याय जो प्रगट हुई, वो ही घटना हो गई न?

**पूज्य बाबूजी :– वो ही घटना हुई, तो उसको बाहर निकाल दिया। निकाल दिया न बाहर? अपनी पर्याय में अनुभूतिरूप जो पर्याय है, तो उस अनुभूतिरूप पर्याय को भी बाहर निकाल दिया न! वो भी वहाँ तो अदृश्य हो गई न, वहाँ तो दृश्यमान एक मात्र ज्ञायक है,और पर्याय स्वयं ज्ञायक बन गई है, द्रव्य बन गई है।**

**मुमुक्षु :**– वहाँ एक मात्र ज्ञायक है और पर्याय ज्ञायक बन गई है?

**पूज्य बाबूजी :**– द्रव्य बन गई है, तभी तो द्रव्य के स्वर में बोलती

है न! पहले तो वो Faminine Gender (स्त्रीलिंग) अब तो Masculine (पुल्लिंग) हो गया न? थी, वो था हो गया। सिर्फ एक बार वास्तव में ज्ञान के स्वरूप को समझ लेना चाहिए, बाकी उसके ऊपर अटकना नहीं चाहिए।

ज्ञान में समझ ही है और ज्ञान को ज्ञान ही समझना है। बस! और ज्ञान माने आत्मा ही है ये निश्चय कर लेना चाहिए। ज्ञान को ही ज्ञान समझना है। और ज्ञान समझ लेने के बाद ये ज्ञान आत्मा ही है बस, इतना कर लेना है।

## स्व-पर प्रकाशक शक्ति में नय विवक्षा :
## स्व प्रकाशन ही पर प्रकाशन है

**मुमुक्षु :-** एक प्रश्न है! स्व-परप्रकाशक शक्ति स्वयं निश्चय है या व्यवहार?

**पूज्य बाबूजी :-** स्व-परप्रकाशक शक्ति का परिणमन निश्चय है; शक्ति निश्चय नहीं होती।

**मुमुक्षु :-** उसमें क्या फर्क रहा बाबूजी?

**पूज्य बाबूजी :-** निश्चयनय-व्यवहारनय पर्याय में होते हैं न! तो उनका विषय कोई भी हो सकता है। यहाँ तो स्व-परप्रकाशक शक्ति का जो परिणमन है वो निश्चय है क्योंकि वो शुद्धरूप से आत्मा की ही पर्याय है। **स्व-प्रकाशकता को ही पर-प्रकाशकता कहते हैं। पर-प्रकाशकता अलग से कुछ होती ही नहीं है। एक ही पर्याय में हैं न! ज्ञान में एक पर्याय हुई, हम उसको स्व-परप्रकाशक कहते हैं। वो पर-प्रकाशकता भी तो स्व-प्रकाशकता की ही पर्याय हुई न! क्योंकि वो एक अखंड पर्याय है और नाम उसके दो हैं। दो नाम इसलिये हैं कि वो ज्ञेय की ओर से प्रतिभास होते हैं तो उनका उनसे**

**मिलान करके ये बताने के लिए कि इस समय ज्ञान का विषय कौन सा है। ये सारा व्यवहार है, क्योंकि व्यवहार के बिना समझा नहीं जा सकता न?**

अपनी बात आई थी न? कि निश्चय से तो हम एक ही जवाब देंगे। उसके पास जवाब ही एक है। एक तो व्यवहार का निषेध और एक Positive (अस्ति से) मैं ज्ञायक हूँ क्योंकि उसके पास बात ही दो हैं। व्यवहार जहाँ भी आवे तो वो कहता है 'नेती' 'नेती' 'नेती'। जहाँ भी व्यवहार बोलता है, जो भी, जगत का कोई भी व्यवहार, किसी भी तरह का, तो निश्चयनय कहता है 'नेती'। 'नेती' माने 'नथी' (नहीं)। व्यवहार कुछ भी बोले कि - ज्ञान ज्ञान को जानता है, तो भी कहे कि 'नेति'।

**मुमुक्षु :-** हाँ! ज्ञान ज्ञान को जानता है, एम नथी (ऐसा नहीं)।

**पूज्य बाबूजी :-** 'नेति'। तुझे अभी पीने का रस नहीं लगा है, अभी तुझे भूख नहीं है! वरना ऐसा करते हुए तुरन्त पहुँच जाता! वो तो तेरे पास ही पड़ा है।

**मुमुक्षु :-** ये तो डाँटने वाली बात हो गई बाबूजी।

**पूज्य बाबूजी :-** तो डाँट भी लगे तो..।

**मुमुक्षु :-** अच्छा है! लगे तो। एक छन्द आता है बाबूजी! इसका थोडा स्पष्टीकरण कीजिये!

**स्व-पर प्रकासक सकति हमारी।**
**तातैं वचन भेद भ्रम भारी।।**
**ज्ञेय दशा दुविधा परगासी।**
**निजरूपा पररूपा भासी।। 46।।**

- (नाटक समयसार, साध्य-साधक द्वार)

**बाबूजी :**– स्व पर–प्रकाशक हमारी शक्ति है, इसलिए वचन भेद में भारी भ्रम पैदा होता है। जब हम वचन से स्व–परप्रकाशक कहते हैं तो भारी भ्रम पैदा होता है क्योंकि वास्तव में स्वप्रकाशक है। और पर–प्रकाशक कहा तो इस वचन–भेद से हमें भारी भ्रम होता है और ज्ञान शक्ति दुविधा परगासी। निजरूपा पररूपा भासी।

ज्ञान शक्ति का जो विवेचन है वो दो प्रकार से हुआ है – एक निजरूप और एक पररूप। **हाँ! ज्ञान शक्ति दुविधा परगासी। निजरूपा पररूपा भासी। तो पररूपा माने व्यवहार। बस! व्यवहार को भी शक्ति कहते हैं, तो इसको भी शक्ति कहते हैं।**

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! शक्ति व्यवहारनय कैसे हुई ?

**पूज्य बाबूजी :**– व्यवहार से..अपने आया है। जैसे निमित्त–नैमित्तिक संबंध है न! आचार्य समंतभद्र ने भी कहा है कि **बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ॥60॥** ऐसा है। बाह्य माने बाहर के पदार्थ और अभ्यंतर माने अपना आत्मा; माने अपनी आत्मा की पर्याय और बाहर के पदार्थों की पर्याय। तो इन दोनों का निकट होना, इन दोनों का ऐसा एक बनाव बनना कि उपादान में काम हो।

तो बाह्येतरोपाधिसमग्र बाह्य और अभ्यंतर उपाधि की समग्रता, ये कार्य के होने में हे भगवन्! आपके मत में द्रव्यगत स्वभाव है। स्वभाव कहा न उसको! **अब निमित्त स्वभाव है क्या ? लेकिन निमित्त का होना और कार्य का होना दोनों एक साथ हैं। कार्य का होना और वहाँ किसी अनुकूल पदार्थ का होना, तो उसका नाम निमित्त–नैमित्तिक! ये द्रव्यगत स्वभाव है, ये किसी ने बनाया नहीं है। हाँ! कोई अपने स्वभाव को जाग्रत करने के लिए, अपनी पर्याय की रचना करने के लिए निमित्तों को ढूँढ़ता फिरे, उनकी व्यग्रता करे,**

**तो वो निमित्त मिलने वाला नहीं है।** ये तो जिसमें उपादान जागता है और कार्यरूप परिणत होता है, तो निमित्त स्वयं वहाँ होता ही है – ऐसी तीन लोक और तीन काल की व्यवस्था है। उस पदार्थ को निमित्त संज्ञा ही तब है कि जब कार्य होता है, वरना निमित्त संज्ञा ही नहीं है। सचमुच असली बात तो ये है कि जगत में निमित्त–नैमित्तिक नाम की चीज ही नहीं है, क्योंकि वो बात तो संबंध पैदा करती है। द्रव्य–गुण–पर्याय के अतिरिक्त जगत में और क्या है?

**मुमुक्षु :**– माने स्व–परप्रकाशक में भ्रम हो गया है।

**पूज्य बाबूजी :**– भ्रम हो जाए तो यहाँ लोक में तो अपन एकदम भ्रम मिटा देते हैं और यहाँ मिटाना नहीं चाहते हैं। वो भ्रम मिट तो रहा है, क्योंकि इसके सामने तर्क और युक्तियाँ तो इतनी हैं कि वो मिट रहा है, मिटना चाहता है और फिर भी हम मिटाना नहीं चाहते हैं। और लोक में झट मिटा देते हैं कि – अरे! ये तो मैंने गलत काम कर लिया।

**मुमुक्षु :**– स्व और पर कहा, तो पर में क्या लेना?

**पूज्य बाबूजी :**– पर माने ज्ञेय पदार्थ।

प्रतिभास को गौण करके, अदृश्य करके और ये ज्ञान ही है – ऐसा जब निर्णय किया न! कि ज्ञान ही है तो सामान्य का आविर्भाव हो गया और उसका अनुभव होने लग गया। सारे प्रतिभासों को ज्ञान कर देना (उन्हें ज्ञानरूप में ही मानना) उनको वहीं का वहीं रखकर ज्ञान कर देना। वो प्रतिभास जाएगा नहीं, वहीं रहेगा लेकिन एक क्षण के लिए तो उन सबको सिर्फ ज्ञान कर देना। ये सब ज्ञान ही है इसके अलावा और कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त मैंने माना और मिथ्यादर्शन वापस प्रविष्ट हुआ। इसके अतिरिक्त थोड़ा भी अगर ये लाए कि एक जरा सी भी space अगर मैंने रखी, तो मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान वापस आ गया।

## ज्ञेयाकार का ज्ञान स्वरूप

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! हमें तो ऐसा लगता है कि जब आप ज्ञेयाकार कहते हैं तो ज्ञान में ज्ञेयों की लकीरें कैसे भासित होती होंगी? आप तो ये कह रहे हैं कि ज्ञान जाननभाव से ज्ञेयाकार होता है। और हमें ऐसा लग रहा है कि जैसे दर्पण में अग्नि की लकीरें दिखती हैं?

**पूज्य बाबूजी :-** अब ज्ञान में लकीर कैसे खिंची? जैसे हवा में लकीर खींचो कोई, आकाश में खींचो, प्रकाश में खींचो, तो ऐसे ज्ञान में लकीरें खिंचती ही नहीं है, होती ही नहीं हैं। वहाँ तो सिर्फ इतना जाना है कि पदार्थ ये ऐसा है। ये घड़ा है - ऐसा, ज्ञान में जानने में आया।

ये घड़ा है इस पर्याय को अगर अपन ज्ञान की ओर से देखें तो ये ज्ञान है, घड़ा नहीं है। ठीक है? और घड़े की ओर से देखें तो ज्ञान का विषय बताने के लिए घड़ा जानने में आ रहा है, ऐसा कहने में आएगा ही सही - ज्ञान में ये विकल्प आया कि ये घड़ा है। अब देखने की पद्धति दो तरह से हुई न! उसमें से फिर निश्चय करना कि सत्य कौन है? सत्य ये है कि वो ज्ञान की पर्याय है, क्योंकि वहाँ घड़ा नहीं है, वहाँ घट जैसा आकार है, सब कुछ द्रव्य-गुण-पर्याय है,लेकिन वहाँ घड़ा नहीं है। घड़ा नहीं है तो कौन है? कि वहाँ ज्ञान है। इसलिए ये ज्ञान ही है। ज्ञान में जो घड़ा है, वो ज्ञान ही है।

**मुमुक्षु :-** राग संबंधी ज्ञान तो होता है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! वो ज्ञान ही है। ज्ञान में राग आ जाए तो ज्ञान मिट्टी हो जाए, क्योंकि ये दोनों तो विपरीत हैं। घड़ा और ज्ञान ये तो भिन्न हैं मगर विपरीत नहीं है, पर राग और ज्ञान तो विपरीत तत्त्व हैं। विपरीत तो उसका नाश ही कर देगा। घड़ा तो ज्ञान से विपरीत नहीं है, वो भिन्न है और राग विपरीत है, वो आत्मा का तिरस्कारी भाव है।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! सामान्यरूप से जब अंतर्मुख होने के लिये ज्ञेयाकार सोचते हैं, तो प्रतिभास में तो स्व और पर का विभाग, विश्व का जो विभाग है उससे छूटना ही मुश्किल था। अब छूटकर थोड़े हल्के बने तो ऐसा लगता है कि ज्ञेयों का प्रतिभास होने से उसी प्रकार की लकीरें जब ज्ञान में ज्ञात होती हैं, तो वो इधर ज्ञान में दिखता है न? तो इस समय पर किस तरह भेदज्ञान की प्रवृत्ति की जाए? क्योंकि पहले तो स्वीकार कर लिया कि कर्ता–कर्म से या स्व–स्वामी संबंध से जगत से कोई नाता नहीं है क्योंकि यह विश्व स्व–पर के विभाग पूर्वक रचा हुआ है। पर इतना सोचने के बाद, स्वीकृत करने के बाद भी जब ज्ञेयों का प्रतिभास अनिवार्य है, उसको तो रोका नहीं जाना है..अब जब उन्हीं की लकीरें हमारे ज्ञान में ज्ञात होती हैं, तो ज्ञान भी उसी प्रकार की लकीरों वाला दिखता है या कुछ और दिखता है?

**पूज्य बाबूजी :**– स्व–स्वामी संबंध से इन्कार कर देने के बाद ये बात तो बहुत स्थूल हो गई कि ज्ञान में लकीरें दिखती हैं। ज्ञान में तो सिर्फ ये है कि ये राग है।

**मुमुक्षु :**– माने इसका मतलब ये हो गया कि ज्ञान का परिणमन जाननभावरूप होता है और ज्ञेयों का परिणमन ज्ञेयभावरूप होता है।

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञेयभावरूप होता है। वो जैसे हैं वैसा होता है। ज्ञान तो सिर्फ जाननरूप ही होता है। राग का जो स्वरूप ज्ञान ने जाना तो वो बोलता है कि मैं राग को जानता हूँ। राग के स्वरूप को जानता हूँ। पर राग के स्वरूप को जानता हूँ ऐसा जो ज्ञान बोला, वो ज्ञान ही है। उसमें राग की कारणता बिल्कुल नहीं है। राग की कारणता भी नहीं है अर्थात् उधर राग चल रहा है, इसलिए ज्ञान में प्रतिबिंबित हो रहा है – ये गलत है, बिल्कुल झूठ कहते हैं; ये बिल्कुल झूठ है। ज्ञान तो ऐसा चितेरा है, कि वह ऐसा कलात्मक चित्रण करता है कि उसे किसी की ओर देखने

की जरूरत ही नहीं है। वो तो स्वतः ही अपने आप चित्रण कर लेता है। अपन उसकी महिमा तो देखें कि सारे लोकालोक का जो चित्रण है वो ज्ञान चुपचाप, मौन रहकर अपने भीतर बैठकर बना लेता है।

**मुमुक्षु :-** ज्ञान अपने आप में मौन रहकर चुपचाप बैठकर बना लेता है ?

**पूज्य बाबूजी :-** उनको देखे बिना। उनको देखे बिना और अपने में उनके आए बिना। माने वो नकल भी नहीं करता है, copy नहीं करता है। copy करनेवाला तो पकड़ लिया जाता है। ज्ञान और ज्ञेय की ऐसी निरपेक्षता स्पष्ट समझ में आ जाना चाहिए। ज्ञान की सामर्थ्य इतनी अजब-गजब है, ऐसा मैं हूँ। ऐसी गजब सामर्थ्य वाला है।

एक footpath (फुटपाथ) में चलता हुआ ज्योतिषी कुछ कह जाए तो उसकी तो हमको धुन लग जाती है। कोई चिंता की बात हो या मरने की बात कह दे तो वो चिंता मिटती ही नहीं और कुछ नोटों के आने की बात कह जाए तो भले वो एक बार झूठ ही बोल गया, पर उल्लास तो हो ही जाता है।

वो इतनी सी बात कह जाए, और यहाँ ज्ञान ऐसा कि तीन लोक और तीन काल अनंतानंत, उसको एक समय में अपने भीतर ठीक वैसा का वैसा बना लेता है।

Lens है न camera का ? उसमें आदमी कारण नहीं है, यदि आदमी कारण हो तो फिर साधारण पत्थर के सामने आदमी को खड़े कर दो, तो वहाँ चित्र आना चाहिए। तो फिर हर जगह उसका चित्र दिखाई देगा। इसलिए आदमी कारण नहीं है। वो lens की ताकत है कि वो वैसा का वैसा बना लेता है।

**मुमुक्षु :-** ज्ञेय कारणभूत नहीं है ?

**पूज्य बाबूजी :-** ये ज्ञान lens की ताकत है।

**मुमुक्षु :-** तो जो ज्ञान, विशेष के आविर्भाव में अनुभव में आता है वही ज्ञान, सामान्य के आविर्भाव में कैसे अनुभव में आता है? क्योंकि वह तो ज्ञेयाकार ज्ञान है न! - ये प्रश्न है।

**पूज्य बाबूजी :-** हो गया न! ज्ञेयाकार जो है वो ज्ञान है। स्वयं प्रश्न में है ये बात कि वो तो ज्ञेयाकार ज्ञान है न! तो जो ज्ञेयाकार है उसको ज्ञान माना कि नहीं माना हमने? तो ज्ञेयाकार को ज्ञान मान लिया ये सामान्य का आविर्भाव हो गया।

## मनःपर्यय ज्ञान भी ज्ञेयाकार ज्ञान है

**मुमुक्षु :-** मन:पर्यय ज्ञान की प्रवृत्ति कैसे होती है?

**पूज्य बाबूजी :-** मन:पर्यय ज्ञान की भी रचना इसी तरह बनती है। नाम उसका मन:पर्यय है लेकिन वो मन की पर्याय नहीं है। वो मन की पर्याय को जानता है। दूसरे के मन की पर्याय को वो जान लेता है..... तो ये व्यवहार की बात है, माने अपन व्यवहार से बोल रहे हैं। दूसरे के मन की बात को जान लेते हैं इसलिए उस विषय की अपेक्षा उस ज्ञान का नाम मन:पर्यय रखा, है वो प्रत्यक्ष ज्ञान! माने जो शुद्ध ज्ञान है, सचमुच तो वो उसकी पर्याय है अर्थात् विकल-प्रत्यक्ष है! केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है और ये विकल-प्रत्यक्ष है, अर्थात् ये दूसरे के मन में जो रूपी पदार्थों का ज्ञान हो रहा है, रूपी पदार्थों का विचार चल रहा है तो ये मन:पर्ययज्ञान उसको जान लेता है। इसलिए उसकी तरफ से नाम इसका मन:पर्ययज्ञान रखा लेकिन ये मन की पर्याय नहीं है।

ये मन की पर्याय नहीं है अर्थात् ये स्वयं उस मन:पर्यय ज्ञानी के मन की पर्याय भी नहीं है। हाँ! क्योंकि मन की पर्याय तो परोक्ष होती है। इसलिए ये प्रत्यक्ष ज्ञान है, ये विकल-प्रत्यक्ष। तो उसने मन:पर्ययज्ञान ने

स्वयं अपनी सामर्थ्य से उसके मन की बात जानी। अगर मन उसका कारण हो तो हम भी जान लेंगे उसकी पर्याय को। लेकिन मनःपर्ययज्ञान की सामर्थ्य ऐसी है कि वो चाहे जैसा, चाहे उल्टा सोचे, सीधा सोचे, कैसा भी सोचे। कोई सीधा सोचता है या सीधा प्रश्न करता है कि गुरुदेव मेरे मन में क्या है? और कोई जो है उल्टा सोचता है। उल्टा सोचता है माने एक बात सोची फिर उसको पलट दिया, फिर सोचा फिर उसको पलट दिया। तो वो वक्र सोचने को भी वो दूसरा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जान लेता है। ये ऋजुमति है कि जिसका सीधा सोचना हो तो ये उसे जान लेता है। जो विपुलमति है, वो कैसा भी सोचे वो सबको जान लेता है। लेकिन जानता अपनी सामर्थ्य से है, क्योंकि इतना क्षयोपशम खिल गया है। क्षयोपशम में उसकी सामर्थ्य है उससे जानता है। विषय की अपेक्षा से उसका नाम मनःपर्यय रखा। ज्ञान का जो नाम है वो हमेशा ज्ञेय की ओर से होता है – ये हमेशा याद रखने की बात है। नाम की बात है, भाव की बात नहीं।

## ज्ञान का नाम ज्ञेयों की ओर से

**मुमुक्षु :-** ये point note किया जाए!

**पूज्य बाबूजी :-** हमेशा किसको जानते हो? कि दीवार को जान रहा हूँ। दीवार दिख रही है। किसको जान रहे हो? कि camera दिख रहा है, Tape-recorder दिख रहा है, light दिख रही है, पँखा दिख रहा है, आदमी दिख रहा है। बस! यही कहना होगा।

जो ज्ञान है, वो किसका ज्ञान है? क्या दीवार का ज्ञान है? इस समय तुमको किसका ज्ञान हो रहा है? कि दीवार का? इस समय किसका ज्ञान है? कि भोजन का? तो ज्ञान भोजन का होता है या दीवार का होता है? लेकिन विषय बताने के लिए उसको ज्ञेय की ओर से कहा जाता है।

उसका नाम ही ज्ञेय की ओर से दिया जाता है। अब दिनभर अपन ऐसा ही बोलते हैं। इस समय किसका ज्ञान हो रहा तुमको? तो वो ज्ञेय की तरफ से जवाब देगा।

**मुमुक्षु :**– एकदम सही बात है!

**पूज्य बाबूजी :**– लेकिन ऐसा मानने का नहीं है, मानने का बिल्कुल नहीं है। मानने में तो बिल्कुल निषेध है कि उसका ज्ञान नहीं हो रहा है, ज्ञान का ही ज्ञान हो रहा है।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! और ज्ञेयों के वर्णन के समय वो ज्ञान का ही वर्णन है?

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञान का ही है। हाँ! वर्णन अर्थात् उसका चिंतन।

**मुमुक्षु :**– तो आप कह रहे हैं कि ज्ञान का ही ज्ञान हो रहा है और ज्ञेय की ओर से ज्ञान का नाम दिया जाता है?

**पूज्य बाबूजी :**– विषय बताने के लिए, प्रतिभासता बताने के लिए कि प्रतिभास हो रहा है तो प्रतिभास कौन से पदार्थ जैसा है। जगत में अनंत पदार्थ हैं, तो ये जो वर्तमान में प्रतिभास है....और पदार्थ अनंत हैं और कई एक से भी हैं। तो उन एक से पदार्थों में से भी ये किनका प्रतिभास है? जैसे 50 घड़े रखे हुए हैं और उनमें से एक घड़े को हमने देखा। अब उस एक घड़े का प्रतिभास हुआ। तो अब ये कहना पड़ेगा न कि ये इस घड़े का ज्ञान है।

**मुमुक्षु :**– बराबर! पर बाबूजी क्या होता है कि झूठ बात एक बार 100 बार 50 बार कह दी जाती है तो भूल जाते हैं कि ज्ञान का ज्ञान हो रहा है।

**पूज्य बाबूजी :**– वो तो सौ बार कहा जाए तो भी एक बार निश्चय

कर चुका है। जो अपने परिवार में अपने पिता, अपनी माँ, अपने भाई इनका हम एक बार निश्चय कर चुके हैं। अब दिनभर बाजार में जाकर किसी को भाई साहब, किसी को ताऊजी, किसी को चाचाजी, किसी को काकाजी किसी को पिताजी – ऐसा दिन भर बोलते ही रहेंगे, तो कोई झगड़ा नहीं पड़ने वाला है। वो निर्णय स्थिर है, स्थायी भाव है।

**मुमुक्षु :**– बराबर! तो एक बार निर्णय स्थायी हो जाना चाहिए?

**पूज्य बाबूजी :**– घर का निर्णय है कि नहीं! भाई, पिता, माता, बहन ये तो सब वहीं हैं। अब यहाँ दिन भर बोलेगा बाजार में कि आइये भाई साहब! आइये बैठिये! आइये! घर पर भी भाई साहब और ये भी भाई साहब। एक बार सही निर्णय कर लिया फिर गलती नहीं होती। फिर नहीं हिलता है। फिर तो वो सारा व्यवहारनय में जाता है।

**मुमुक्षु :**– इसका ज्ञान, इसका ज्ञान, सबेरे से उठकर ही इसका ज्ञान, शास्त्र का ज्ञान....।

ये विचार भी आ जाता है, फिर भी ज्ञान का ज्ञान ही ज्ञात होता है?

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञान का ज्ञान ही ज्ञात होता है। उसमें फर्क नहीं पड़ता। वो तो अटल है माने त्रिकाल अटल सिद्धांत है। उसमें अंतर नहीं पड़ता।

**मुमुक्षु :**– और ये ज्ञान का ज्ञान ही ज्ञात होता है, वो भी व्यवहार है?

**पूज्य बाबूजी :**– वो व्यवहार है और मैं ज्ञायक हूँ वो निश्चय है।

## अनुभूति भाव ( आनंद ) की होती है, नाम की नहीं

**मुमुक्षु :**– ये तो बड़ा लम्बा सफर लगता है बाबूजी?

**पूज्य बाबूजी :**– मैं ज्ञायक हूँ – अनुभूति में इतना लम्बा भी नहीं होता है। अनुभूति में तो चिन्मात्र भाव जो निश्चय किया, ठीक वैसा का

वैसा भासमान होता है। माने चिन्मात्र नाम भी नहीं आता – जैसा निश्चय किया है, ठीक वैसा का वैसा भासमान होता है। वहाँ नाम नहीं आता है, अनुभव नाम से नहीं होता।

**मुमुक्षु :–** तो अनुभूति के समय क्या चिन्मात्र नाम भूल जाता है?

**पूज्य बाबूजी :–** भूल नहीं जाता है, ये तो साक्षात् हो रहा है। प्रयोग हो रहा है, practical–प्रयोग हो रहा है। भूल नहीं जाता है, नाम भूल जाता है। नाम याद नहीं करता है। नाम भी कितने हैं! नाम कितने हैं! चिन्मात्र है, ज्ञायक है, जीवास्तिकाय है, जीव पदार्थ है, जीव तत्त्व है, परम तत्त्व है, परम ज्योति है। अब अपन कितने नामों से याद करेंगे?

**रसगुल्ले खाते समय ज्ञान में रसगुल्ले का आकार नहीं आता, जिस समय उसका असली एकाग्रता से उसका स्वाद आता है उस समय रसगुल्ले का आकार, उसकी मिठास और सफेदी – ये सब कुछ नहीं आते हैं। केवल अकेले उसमें निमग्न सम्पूर्ण और उसका स्वाद, वो जानने में आ जाता है। दृष्टि रसगुल्ले पर रहती है, स्वाद पर भी नहीं रहती; स्वाद पर चला जाएगा तो गया रसगुल्ले का रस, फालतू गया वो इतना..... इतना चबाना भी बेकार गया। अनुभूति में भाव आता है, इसका ये अर्थ है।**

वो गोल है, वो कैसा है – ये कुछ नहीं आता है। रोज ही करके देख लो न! उसमें क्या है, practical है ये तो। रोज खाकर देख लो। पर उसकी ओर दृष्टि रहे कि ये कोई ऐसी अद्भुत चीज है बस! तो वहाँ पर आकार–प्रकार और उसकी पर्यायें और उनके गुण, उनका कोई ख्याल नहीं आएगा। और उसका जो भाव है, वो आनंद। बस! उसका अनुभव हो जाएगा।

जैसे नाम के बिना समझाया नहीं जा सकता न! इसलिए ये सारे

व्यवहार का प्रयोग करना पड़ता है। माने एक बार निश्चय का तो निश्चय हो जाता है। उसके बाद अनुभूति के अलावा सारी प्रवृत्ति व्यवहार में है!

## धर्म युगलों द्वारा वस्तु की रचना!

**मुमुक्षु :-** अस्ति-नास्ति आदि धर्म युगल, वस्तु की रचना कैसे करते हैं?

**पूज्य बाबूजी :-** वो इस तरह करते हैं कि जैसे मैं स्वयं अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप हूँ, तो अन्य का जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है वो मेरे में प्रवेश नहीं करता। मेरे में प्रवेश कर जाए तो मैं अचेतन हो जाऊँ, जड़ हो जाऊँ। इसलिए साथ में नास्ति धर्म पड़ा है। वो नास्ति धर्म उसका नहीं, दूसरे पदार्थ का नहीं बल्कि उसका नास्ति धर्म उसके पास है।

अस्ति धर्म तो स्वचतुष्टय को सुरक्षित रखता है और नास्ति धर्म जो है वो अन्य कोई प्रवेश न करे इसके लिए नास्ति धर्म है। पर झगड़ा नहीं होता कभी कि कोई प्रवेश करे और नास्ति धर्म धक्का दे, ऐसा नहीं होता है। पर पदार्थ आता ही नहीं है। इस तरह द्रव्य की, वस्तु की रचना होती है क्योंकि वस्तु में अगर कोई दूसरा प्रवेश कर जाए तो वो वस्तु अशुद्ध हो गई और विकारी हो गई। बल्कि अचेतन हो गई, जड़ हो गई, कोई चेतन में अगर अचेतन ने प्रवेश कर लिया तो! इसलिए नास्ति धर्म जो है वो वस्तु के भीतर रहता है, बाहर नहीं रहता है और ये वस्तु के भीतर की ही व्यवस्था है।

इस तरह से वो वस्तु की रचना नहीं हुई है, माने कोई नई बनाई गई - ऐसा नहीं। लेकिन वस्तु की रचना माने ये धर्म वस्तु की रक्षा करते हैं। उसकी रचना करते हैं माने वो बनी रहती है। तो इस तरह बनी रहती है

कि वो स्वयं से तो अस्तिरूप हो, माने उसका जितना कुछ है, वो तो उसके पास हो और दूसरे का उसके पास कुछ न हो थोड़ा भी, तो अपने धर्मों को लेकर सुरक्षित रही – ऐसा।

**मुमुक्षु :**– और अपना कुछ भी बिखर न जाए!

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! अपना तो कुछ बिखरेगा ही नहीं। वो तो अस्ति धर्म ने संगठित कर लिया है और नास्ति धर्म में दूसरे का अणुमात्र भी अंदर नहीं आया।

एक प्रहरी होता है न, राजदरबार का। राजा का महल है। तो वहाँ नीचे दरवाजे पर वो प्रहरी खड़ा रहता है। वो प्रहरी रहता तो दरवाजे के भीतर है। लेकिन उसका काम क्या है? कि कोई नहीं आने पावे। और भीतर के जो होते हैं काम करनेवाले, वो भीतर उसके अंतरंग का, अंत:पुर का काम करते हैं। तो वो भीतर के अस्तिरूप और ये बाहर का नास्तिरूप। **नास्तिरूप है लेकिन काम अस्ति का कर रहा है। अस्तिस्वरूप है अपने भीतर। नास्ति धर्म हर पदार्थ के भीतर अस्ति स्वरूप है।**

**मुमुक्षु :**– अद्‌भुत! अद्‌भुत! नास्ति धर्म हर पदार्थ के भीतर अस्ति स्वरूप है!

**पूज्य बाबूजी :**– अस्ति स्वरूप है और इस तरह काम करता है। वो प्रहरी खड़ा रहता है सिर्फ। कोई उसमें धक्का–धुक्की नहीं होती। वो जानते हैं कि नहीं! भीतर अंत:पुर में जाता नहीं, तो वो नास्ति धर्म हो गया। और भीतर जो रहते हैं, अंत:पुर का काम करनेवाले, वो अस्ति धर्म हो गया।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! इसमें ऐसा बोल सकते हैं कि नास्ति में पात्रता तैयार होती है और अस्ति में अनुभव होता है?

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं वो नहीं। वो कुछ नहीं, वैसा नहीं। वो निषेध है। ये तो अस्तिरूप धर्म है, अंतरंग धर्म है।

## धर्म और गुणों में अंतर

**मुमुक्षु :-** धर्म और गुणों में क्या अंतर है?

**पूज्य बाबूजी :-** धर्म और गुण में अंतर है। धर्म की पर्याय नहीं होती और गुणों की पर्याय होती है, इसलिए धर्म जो है वो दृष्टि के विषय में नहीं आते।

**मुमुक्षु :-** तो बाबूजी! धर्म को जानने का प्रयोजन क्या है?

**पूज्य बाबूजी :-** धर्म को नहीं जाने तो पदार्थ का स्वरूप ही पता नहीं लगे! वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए ये जो परस्पर विरुद्ध दो धर्म हैं अनेकांतस्वरूप, उनका जानना जरूरी है। एक पदार्थ में ऐसे अनंत युगल, अनंत जोड़े रहते हैं। वो सब वस्तु की रचना करते हैं। विरुद्ध-अविरुद्ध शक्ति। अविरुद्ध शक्ति माने अस्ति और विरुद्ध शक्ति माने नास्ति। इस तरह वस्तु की रचना होती है।

अगर कोई अन्य वस्तु उसमें आने लग जाए, जैसे अस्ति धर्म है केवल और नास्ति धर्म नहीं है। तो उसका अर्थ ये हुआ कि वो तो अस्तिरूप अपना काम करेगा। अब नास्ति का तो कोई वहाँ पर निषेध नहीं है न! वहाँ पर कोई व्यवस्था नहीं है, इसलिए दरवाजा खुला रहेगा। तो बाहर के पदार्थ प्रवेश करके उसे अचेतन बना देंगे। इसलिए उसकी आवश्यकता है। जैसे प्रहरी नहीं हो तो फिर क्या होगा? जो अंत:पुर है, वो तो साधारण झोपड़ी हो जाएगी। राजा-रानी का जो अंत:पुर है, वो तो साधारण झोपड़ी हो जाएगी न! कोई भी अंदर जा सकेगा।

**मुमुक्षु :-** धर्म की पर्याय हो तो क्या बाधा है?

**पूज्य बाबूजी :-** धर्म की पर्याय हो तो वस्तु का नाश हो जाए। क्योंकि जैसे अस्ति धर्म है। अब वो अस्ति धर्म की पर्याय होगी तो नास्तिरूप होगी क्योंकि उसमें विकार की भी संभावना है न! पर्याय में ये जरूरी नहीं है कि विकार हो। जैसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल की पर्याय में विकार नहीं होता। लेकिन पर्याय में विकार की संभावना रहती है। वो पुद्गल और आत्मा में होती है। पुद्गल में भी विकार होता है और आत्मा की पर्याय में भी विकार होता है।

यदि हम अस्ति धर्म की पर्याय मानें तो उसकी विकारी और विरुद्ध पर्याय क्या होगी ? नास्ति! तो नास्ति माने आत्मा का नाश हो जाएगा।

**मुमुक्षु :-** अस्ति धर्म है लेकिन उसकी पर्याय विकारीरूप होगी, तो विकार तो नास्ति है ?

**पूज्य बाबूजी :-** तो पदार्थ का नाश हो जाएगा। इसलिए इनको पदार्थ की रचना करने वाले लिखा है।

**मुमुक्षु :-** पदार्थ का नाश करने वाला नहीं ?

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं! वे पदार्थ की रचना करनेवाले हैं। वस्तु में वस्तुत्व की रचना करने वाले है ऐसा लिखा है। अस्ति नास्ति आदि **वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वय प्रकाशनमनेकान्तः।** (समयसार आत्मख्याति टीका) - ऐसा लिखा है परस्पर विरुद्ध; परस्पर विरुद्ध हैं लेकिन लड़ते नहीं हैं। दोनों धर्म ही काम तो उस वस्तु की रचना का ही करते हैं। नास्ति भी वस्तु की रचना का काम कर रहा और अस्ति भी वस्तु की रचना का काम कर रहा है।

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 15

(8 फरवरी 1999)

***इस चर्चा में ज्ञान और राग में प्रदेश भिन्नता, ज्ञान के प्रयोग, अनुभूति के पहले ज्ञान धारा, राग का पौद्गलिक स्वरूप एवं द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप और निरपेक्षता आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।***

## ज्ञान और राग में प्रदेश भिन्नता

**पूज्य बाबूजी :-** आत्मा जानन-क्रिया में बसता है और क्रोध पुद्गल में बसता है। क्रोध पुद्गल में बसता है, इसलिए दोनों में आधार-आधेय संबंध नहीं है। क्रोध, ज्ञान का आधार नहीं है, वह ज्ञान के आधार से नहीं रहता और ज्ञान क्रोध के आधार से नहीं रहता। ज्ञान अर्थात् आत्मा, वो जानन-क्रिया के आधार से रहता है। जानन-क्रिया में आत्मा है और क्रोध पुद्गल का है, विकारी है, अचेतन है, इसलिए वो पुद्गल में रहता है। इस प्रकार आधार-आधेय संबंध का अभाव होने के कारण दोनों बिल्कुल न्यारे-न्यारे हैं। दोनों में प्रदेश भेद बताया है।

द्रव्य, काल और भाव, ये तीन से तो न्यारा है ही सही। लेकिन प्रदेश-भेद में थोड़ी दिक्कत आती है। प्रदेश-भेद में हम लोग भी प्रश्न कर बैठते हैं कि क्रोध और आत्मा के प्रदेश अलग-अलग कैसे हो सकते हैं? कि वो तो अत्यंत स्वाभाविक है। ज्ञान तो जाननेवाला है और क्रोध नहीं जाननेवाला भाव है और वो ज्ञान से विपरीत है क्योंकि ज्ञान तो संपूर्ण विश्व को दो विभागों में देखता है और क्रोध एक विभाग में देखता है, इसलिए क्रोध में ज्ञान नहीं है और ज्ञान में क्रोध नहीं है। दोनों

में आधार-आधेय संबंध नहीं होने से दोनों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। प्रदेश माने रहने की जगह, दोनों की जगह भिन्न-भिन्न हैं।

यद्यपि दोनों एक ही साथ मिले हुए देखे जाते हैं। जहाँ ज्ञान है वहीं क्रोध है, लेकिन दोनों के बीच में एक संधि है। और उस संधि का दर्शन अज्ञानी को नहीं होता क्योंकि ज्ञान में जो क्रोध भासित हुआ तो वो क्रोध और ज्ञान दोनों को एक मानकर, एकसा अनुभव करता है। इसलिये आत्मा की अशुद्ध अनुभूति होती है और ज्ञानी ने क्रोध और ज्ञान दोनों की संधि को देख लिया है, क्योंकि क्रोध का कार्य न्यारे प्रकार का है। उसका कार्य संबंध बनाना है, इष्ट-अनिष्ट की कल्पनायें करना है। इष्ट-अनिष्ट की कल्पना माने इष्ट-अनिष्ट जानना भी और इष्ट-अनिष्ट का अनुभव भी करना। अर्थात् ये अच्छा है, ये बुरा है - इस प्रकार इष्ट-अनिष्ट के विकल्प करना। इष्ट-अनिष्ट के विकल्प करना ये तो क्रोध का काम है और ज्ञान के कोष में इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं। उसमें इष्ट-अनिष्ट का ही अभाव है क्योंकि जगत् में एक तो मैं और दूसरी ओर एक ही line पंक्ति में सारा जगत है और मेरे लिए कोई इष्ट और अनिष्ट नहीं है। हर पदार्थ के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का अपना अपना विभाग है। इसलिए मैं न्यारा और जगत न्यारा। तो मैं ज्ञान के आधार से रहता हूँ और क्रोध अचेतन होने से अचेतन के आधार से रहता है इसलिए ज्ञान और क्रोध दोनों प्रदेश से भी न्यारे-न्यारे हैं क्योंकि दोनों की रहने की जगह अलग-अलग हो गई न! तो इसलिए न्यारे-न्यारे हैं।

उसमें एक और हेतु यह है कि चूँकि दो विपरीत भाव हैं इसलिए वो दो द्रव्य हैं, दो सत् हैं। इसलिये प्रत्येक भाव का अपना-अपना रहने का क्षेत्र अलग है इसलिए ज्ञान, क्रोध से विपरीत भाव है और क्रोध ज्ञान से विपरीत भाव है। इसलिए ज्ञान के रहने की जगह पर क्रोध नहीं हो सकता। अगर ऐसा हो जाए तो दोनों एकमेक होकर के फिर चेतन का

नाश हो जायेगा या चेतन जो है वो जड़ बन जायेगा।

इस प्रकार दोनों के दरवाज़े न्यारे-न्यारे हैं और रहने का स्थान न्यारा-न्यारा है क्योंकि जो दो भाव न्यारे-न्यारे हैं तो उनका सब कुछ अलग-अलग है..द्रव्य अलग, क्षेत्र अलग, काल अलग और भाव अलग। तीन तो अपनी समझ में आ जाते हैं। लेकिन क्षेत्र की अपेक्षा हम उसमें प्रश्न कर बैठते हैं कि क्षेत्र तो, जिस क्षेत्र में ज्ञान है उसी क्षेत्र में क्रोध है, वो दोनों एक ही क्षेत्र में हैं। क्षेत्र-भेद कैसे हो सकता है? ये तो आचार्य ने निश्चयनय से कहा है - इस प्रकार हम उसमें अपनी बुद्धि लगाते हैं और आचार्य को चुनौती देते हैं। उनको challenge करते हैं कि - ये निश्चयनय की बात है। है तो एक ही क्षेत्र, लेकिन निश्चयनय से ऐसा-ऐसा कहा है कि दोनों का न्यारा-न्यारा क्षेत्र है। लेकिन वास्तविकता क्या है? कि दोनों के क्षेत्र न्यारे-न्यारे हैं - इसका नाम निश्चयनय है। **निश्चयनय से नहीं कहा क्योंकि निश्चयनय से वस्तु-व्यवस्था बनती नहीं है। निश्चयनय तो वस्तु-व्यवस्था को जैसी है वैसी जानता है। इसलिए क्रोध और ज्ञान दोनों के दोनों न्यारे हैं, उनका क्षेत्र भी न्यारा है; क्योंकि दो भाव हैं तो दो भावों का सर्वस्व न्यारा-न्यारा है। एक नहीं हैं, वो दोनों न्यारे-न्यारे हैं।**

अब यदि हम ये माने कि क्षेत्र से अगर एक मान लिया जाये तो क्या दिक्कत है? क्योंकि जहाँ ज्ञान रहता है उसी स्थान पर क्रोध रहता है। क्योंकि ज्ञान की पर्याय है - जानन-क्रिया, और क्रोध की पर्याय भी आत्मा में ही होती है। **ज्ञान की पर्याय भी सारे आत्मा में, संपूर्ण आत्म-प्रदेशों में होती है; उधर क्रोध की पर्याय भी न्यारी होती है, लेकिन वो संपूर्ण आत्म-प्रदेशों में ही दिखाई देती है। सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों में ही होती है - ऐसा बोल दें हम एक बार तो कोई दिक्कत नहीं है।** लेकिन ये जो न्यारापन है इसमें कभी भी अनुपात और

percentage नहीं होता। ये सूत्र याद रखने लायक है कि जो दो भाव न्यारे हैं, तो उनमें कभी भी एकता का कोई percentage (प्रतिशत) नहीं हो सकता है अर्थात् एकता या तो पूरी होगी या ये बिल्कुल भिन्न-भिन्न होंगे। इसलिए अगर हमने प्रदेश की अपेक्षा दोनों को थोड़ा भी एकत्व दिया और एक माना, तो वे द्रव्य की अपेक्षा भी एक हो जायेंगे, काल की अपेक्षा भी एक हो जायेंगे और भाव की अपेक्षा भी एक हो जायेंगे। इसलिए कोई अपेक्षा उसमें नहीं लगेगी, क्योंकि जो एकत्व और भिन्नत्व है, उसमें कभी percentage (प्रतिशत) नहीं होता। प्रतिशत नहीं होता कि पचास प्रतिशत ज्ञान और पचास प्रतिशत क्रोध, हम ऐसा मान लें? कि ऐसा मान लेंगे तो फिर यहाँ से उन दोनों का एकत्व शुरु हो गया। एकत्व कभी शुरू और अंत नहीं होता है। पर एकत्व एक ही बार में पूरा होता है या फिर बिल्कुल नहीं होता है, इसलिए क्षेत्र की अपेक्षा भी एकत्व नहीं है।

और वहाँ ऐसा विचार करना बहुत बड़ा पाप है कि आचार्य ने इस अपेक्षा से मात्र कह दिया है, मगर वास्तव में तो दोनों के प्रदेश एक हैं, क्योंकि दोनों एक ही जगह रहते हैं; जबकि मानने का और बोलने का तरीका ये होना चाहिए कि वास्तव में तो दोनों के प्रदेश न्यारे-न्यारे हैं लेकिन व्यवहार से एक कह दिए गए हैं। वास्तव में तो न्यारे-न्यारे हैं और वो वास्तविकता ही आचार्य ने उस गाथा में दर्शाई है - ये प्रयोजन है आचार्य का।

**मुमुक्षु :-** तो जानन-क्रिया के आधार से, जानन-स्वभाव के..! (आधार से आत्मा है?)

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! यहाँ ऐसा कहा है कि आत्मा जानन-क्रिया में रहता है। वरना हम आत्मा को कहाँ बताएँगे? आत्मा तो द्रव्य है न? तो कहते हैं कि रहता कहाँ है, ये बताओ पहले! तो कहेंगे कि वो उसकी

जानन-क्रिया में रहता है, जाननभाव में रहता है। और क्रोध कहाँ रहता है ? कि क्रोध के जो साथी हैं वो उनके साथ रहता है। क्रोध का साथी अचेतन-जड़ है, तो वो उनके साथ रहता है। इसलिए दोनों न्यारे-न्यारे हुए, बिल्कुल न्यारे-न्यारे हुए।

इसलिए प्रदेश की अपेक्षा अगर एकत्व मानते हैं तो संपूर्ण एकत्व हो जायेगा, क्योंकि एकत्व में कभी विभाजन या कभी प्रतिशत नहीं हुआ करता, उसमें कभी अनुपात नहीं होता। अनुपात नहीं है, इसलिए दोनों बिल्कुल न्यारे-न्यारे हैं। ऐसा जब जानता है तो क्रोध से आसक्ति तोड़कर मैं क्रोध ही हूँ; पहले ऐसा मानता था किन्तु अब ऐसा मानने की बजाय, अब मैं तो ज्ञानस्वरूप चैतन्य हूँ - ऐसा मानता हुआ स्वरूप की अनुभूति कर लेता है, ज्ञायक की अनुभूति कर लेता है और उधर संवर और निर्जरा एक साथ प्रगट हो जाते हैं।

संवर अधिकार है न! अधिकार देखना चाहिए कि आचार्य ने क्या तरीका बताया है। संवर के उत्पन्न होने की विधि क्या है ? विधि ये कि सबसे पहले तुम्हारे भीतर तुम्हें ये जो क्रोध-मान-माया-लोभ आदि राग-द्वेष आदि आत्मा के साथ एकमेक दिखाई देते हैं; ये आत्मा के साथ एकमेक कभी हुए नहीं और न कभी होने वाले हैं। ये न्यारे-न्यारे ही रहे हैं, इसलिए इनको न्यारा-न्यारा देखो। पहले इनके स्वरूप को जानो। क्रोध का जो स्वभाव है, वो तो जड़ है और ज्ञान का जो स्वभाव है, वो चिद्रूपता है। ऐसा आया है न कि - चिद्रूपता को धारण करने वाला ज्ञान और जड़रूपता को धारण करने वाला राग, इनका प्रज्ञा के द्वारा दारुण-विदारण करना चाहिए। दारुण-विदारण अर्थात् उनको भिन्न-भिन्न करने में दया नहीं करना चाहिये कि चोट जरा धीरे मारो, नहीं तो इनको लग जायेगी - ऐसा नहीं। दारुण-विदारण! दारुण माने निर्दयता से, निर्दयता से दोनों को न्यारा-न्यारा जानना चाहिए। कर देना चाहिए

माने ? जानना चाहिए। करना तो है नहीं क्योंकि ये न्यारे-न्यारे ही हैं। इस तरह प्रदेश की अपेक्षा भी निश्चयनय से अर्थात् वास्तव में वे दोनों न्यारे-न्यारे हैं, व्यवहार से एक कहे जाते हैं।

**मुमुक्षु :-** बराबर! निश्चय से न्यारे हैं, व्यवहार से एक हैं।

**पूज्य बाबूजी :-** वरना वहाँ कुंदकुंद को challenge करना तो अनंत तीर्थंकरों को challenge करना बनता है। हमारी बुद्धि जो जटिल है न! वर्तमान में जो हमारा स्वरूप बताया है वो तो ऐसा है कि बुद्धि हमारी बहुत जटिल है; दुर्मेध हैं हम, माने सत्य बात बड़ी मुश्किल से प्रवेश करती है और श्रुतियों का अंत नहीं है। **श्रुतियाँ बहुत हैं, उनके कथन विविध प्रकार के हैं। इसलिए जल्दी से वो काम कर लेना चाहिए जिससे जन्म और मरण का क्षय हो। इसलिए ज्यादा श्रुतियों का पढ़ना, ज्यादा शास्त्रों को पढ़ना, उससे अपने को रोकना चाहिए क्योंकि बुद्धि दुर्मेध है। बुद्धि नहीं है हमारे पास इतनी और वो भी दुर्बुद्धि है माने बुरी तरफ, बुरे काम की तरफ़ जल्दी जाती है।** विषयों की ओर जल्दी जाती है। इसलिए वहाँ से हटाकर ज्ञान और राग का भेद जानकर और शुद्धात्मा में पहुँच जाना चाहिए।

**मुमुक्षु :-** यहाँ ऐसा कहा है कि द्रव्य अपने परिणाम में है?

**पूज्य बाबूजी :-** द्रव्य परिणाम में है, ज्ञान में है।

**मुमुक्षु :-** ज्ञान में, माने कोई भी द्रव्य अपने परिणाम में है। तो द्रव्य की उपस्थिति तो परिणाम में बता दी। अब परिणाम के अंदर देखें तो आत्मा तो परिणाम से रहित दिखता है।

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं! यहाँ वो प्रकरण नहीं है। वो आ जाये न! वो ही आया माने प्रकरण तो वो ही आया कि आत्मा ज्ञान में रहता है, ज्ञान-क्रिया में रहता है। ज्ञान-क्रिया में रहता है अर्थात् वो ज्ञान ही है। **जो**

**जिसमें रहता है वो वही होता है।** जो जिसका होता है वो वही होता है; आत्मा में ज्ञान-क्रिया होती है तो आत्मा ज्ञान ही है और जो ज्ञान है वो आत्मा ही है। इस प्रकार जानता हुआ अनुभूति कर लेता है। उस अनुभूति का नाम संवर और उस अनुभूति का नाम निर्जरा है।

**मुमुक्षु :-** माने ये दोनों की अभिन्नता बताई थी।

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! दोनों की अभिन्नता बताकर आचार्य को वहाँ पहुँचाना है। माने क्रोध से तो इसको एकदम ही अलग किया कि क्रोध तो तेरा है ही नहीं, तू उस पर अब विचार करना ही मत। वो तो न्यारा-न्यारा ही है, ऐसा एक बार जान ले। और अब उस पर विचार मत करना। अब तो तू ज्ञान है, सिर्फ ज्ञान-क्रिया में रहनेवाला है। तो ज्ञान-क्रिया में जो रहेगा वो ज्ञान का ही होगा और वो ज्ञानमय ही होगा। इसलिए तू ज्ञानमय है, माने मैं ज्ञानमय हूँ अर्थात् मैं तो ज्ञायक हूँ। बस! इस तरह वो वहाँ पहुँच जाता है।

**मुमुक्षु :-** बहुत सुंदर! ज्ञान-क्रिया में रहनेवाला तो ज्ञान ही होता है और ज्ञान होता है माने मैं ज्ञानमय हूँ।

**पूज्य बाबूजी :-** मैं ज्ञानमयी हूँ अर्थात् क्रोध नाम का द्रव्य अलग है। द्रव्य है वो भी, सत् है और जो आत्मा नाम का चैतन्य द्रव्य है, वो न्यारा है। दोनों न्यारे हैं। रहते कहाँ हैं? तुम्हारा निवास-स्थान कौनसा है? मैं तो ज्ञान में रहता हूँ, तो वो कहता है कि मैं तो मेरे साथियों के साथ रहता हूँ। इसलिए इसमें बुद्धि को कतई लगाना नहीं चाहिए। इस गाथा के साथ ऐसा अन्याय बहुत होता है।

अन्याय बहुत होता है कि ये तो निश्चयनय से कह दिया है, वरना वास्तव में तो ये एक हैं। यदि वास्तव में एक हैं तो फिर निश्चयनय कहाँ रहा? निश्चयनय अलग-अलग बता रहा है और तुम कहते हो कि ये

हैं तो एक – तो इसका अर्थ ये हुआ कि तुमने कुंदकुंद को ठुकराया है।

**मुमुक्षु :–** बाबूजी! यहाँ जो उपयोग में उपयोग लिया है, वो सामान्य उपयोग की ही बात है न?

**पूज्य बाबूजी :–** उपयोग माने आत्मा! उपयोग में उपयोग है। तो उपयोग में माने ये जानन–क्रिया, जानने वाली पर्याय और उपयोग माने आत्मा। ये ज्ञानमय आत्मा, बस! ये लेना। पहला उपयोग जो है वो जानन–क्रिया और दूसरा उपयोग द्रव्य है।

**मुमुक्षु :–** पहला उपयोग है वो जानन–क्रिया और दूसरा उपयोग है, वो आत्मद्रव्य अर्थात् ज्ञानमय भाव?

**पूज्य बाबूजी :–** हाँ! जानन–क्रिया माने ज्ञानभाव और वो उपयोग माने ज्ञानमय भाव। जो द्रव्यात्मक उपयोग है वो ज्ञानमय अर्थात् अनंत गुणात्मक है; तो यहाँ ज्ञान से लेना, क्योंकि ज्ञान तो सबको represent करता है। वो तो सबका प्रतिनिधि है।

**मुमुक्षु :–** ज्ञानमय बोलने से दृष्टि का विषय आ गया न?

**पूज्य बाबूजी :–** ज्ञानमयी हूँ माने मैं ज्ञान ही हूँ, क्योंकि जो ज्ञान है वो आत्मा ही है और आत्मा के अर्थ में ही उसका प्रयोग होता है कि तुम तो हमेशा इस ज्ञान तत्त्व को ही भजो। ज्ञान तत्त्व को भजो माने वो ज्ञानमय जो ज्ञायक है, उसको भजो। उसकी निरंतर भावना करो, उसका निरंतर अनुभव करो। इसलिए हर तरह से वो आत्मा ही आता है। जानन–क्रिया कहकर आचार्य ने पर्याय दृष्टि पैदा नहीं की है।

वो गाथा बहुत सुंदर है, बहुत ही बढ़िया गाथा है। बहुत ही अच्छी! लेकिन जब तक गुरु से नहीं मिले तब तक उसका अर्थ हो ही नहीं सकता, **क्योंकि हम तो पर्याय को आत्मा के आश्रित बोलते हैं और शास्त्र भी आत्मा के आश्रित बोलते आए हैं। भगवान तीर्थंकर भी**

**गुण और पर्याय को आत्माश्रित बोलते हैं। यहाँ आत्मा को पर्याय आश्रित बताया है। आत्मा पर्याय में, ज्ञान पर्याय में रहता है। वरना कहाँ बतायेंगे निवास? बताओ आत्मा का निवास क्या है? तो उत्तर तो ये होगा कि आत्मा तो आत्मा में ही रहता है मगर इससे संतोष नहीं होगा। इसलिए उसका स्वरूप बताया है कि वो तो अपने स्वरूप में रहता है। ज्ञान में रहता है, जानन-क्रिया में रहता है।**

**मुमुक्षु :-** और जानन-क्रिया और आत्मा में कोई भेद नहीं है, तो वो ज्ञायक ही है।

**पूज्य बाबूजी :-** जानन-क्रिया और आत्मा में भेद नहीं है, बस! क्योंकि उसको तो अभेदता करना है न! यह तो संवर अधिकार है न! संवर अधिकार माने स्वरूप की अनुभूति! वो करना है। तो स्वरूप की अनुभूति की जो विधि है उससे कैसे चूक जायेगा? ये जानन-क्रिया में कैसे अटक जायेगा? अटकेगा ही नहीं। पहले ही निर्णय कर चुका है कि पर्याय मात्र जो है उस पर मेरा बल है ही नहीं और होना ही नहीं चाहिए। जानन-क्रिया भी तो पर्याय है न! तो उस पर बल नहीं होगा। उस पर बल नहीं है। जानन-क्रिया में आत्मा रहता है - ये कहा है। वो आत्मा तो है ही नहीं, शुद्ध ध्रुव उससे न्यारी चीज है।

**मुमुक्षु :-** जानन-क्रिया में आत्मा रहता है। पर्याय के आधार से आत्मा दिखाया है, आहाहा!

**पूज्य बाबूजी :-** बताना पड़ता है न! नहीं तो आत्मा आत्मा में रहता है, बस एक ही उत्तर होता। एक ही उत्तर होता तो वो तो logic (तर्क) नहीं बैठता है। इसलिए बताओ! आप तो घर बताओ इसका कि ये हमेशा कहाँ रहता है? ये हमेशा ज्ञान में ही रहता है, ज्ञान-क्रिया में ही रहता है।

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! ये गाथा सुनने से दृष्टि दूसरी ओर से हट जाती है कि ज्ञानमयी भगवान आत्मा, वो मैं हूँ।

**पूज्य बाबूजी :-** बस! मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, तो हो गया। ज्ञायक आ गया और हमको वही चाहिए था। निर्णय के समय से लेकर हमको वही चाहिए। उसके बाद चिंतन में भी और अनुभूति में भी वही चाहिए। चिंतन में भी वही ज्ञायक चिन्मात्र और अनुभूति में भी वही चिन्मात्र! इतना निर्णय तो पहले द्रव्य-गुण-पर्याय का कर ही लिया है। उसमें से उसको select (चयन) किया है न! तो फिर ये selection बदल जायेगा क्या? कि आचार्य हमें क्या पर्याय में उलझा रहे हैं? या पर्याय का आविर्भाव कर रहे हैं और द्रव्य का तिरोभाव कर रहे हैं - मगर ऐसा तो संभव नहीं है। जैनदर्शन में ऐसा पूर्वापर विरोध कहीं भी नहीं है, किसी भी स्थान पर नहीं है - पूर्वापर विरोध रहित है इसलिए तो इसकी विजय होती है।

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! इतनी-इतनी बात कहने पर 181 गाथा में ये भाव क्यों रखा? बहुत सारी बातें आ गईं फिर भी आचार्य ने....

**पूज्य बाबूजी :-** अधिकार के अनुसार रखा। पहले बहुत बातें आ गईं। ज्ञायक की बात पहले नहीं आयी क्या? आयी, सब में ही आयी। आस्रव अधिकार, बंध अधिकार सब में आयी। उनका स्वरूप बताते हुए उनसे न्यारा चैतन्य है, उनसे न्यारा परम पारिणामिकभाव है - ये बात सबमें आयी। सबमें आयी, पर यहाँ संवर की विधि बताना है कि संवर कैसे होता है? सबसे पहले ये मानो कि आत्मा ज्ञान में रहता है अर्थात् ज्ञान ही है और ज्ञान है अर्थात् वो चैतन्य, ज्ञायक ही है बस। क्योंकि ये तो हमारा पूर्व का ही निर्णय है। उसमें अभी कैसे अटका जा सकता है? पर्याय में या गुण में अटका कैसे जा सकता है? वरना निर्णय ही स्वच्छ नहीं हुआ, तो फिर ये ज्ञानधारा आगे नहीं

चलेगी, कभी नहीं चलेगी! फिर वो तो क्रोध को मिलाती हुई ही चलेगी।

## जो विश्व को जानता है वो आत्मा को जानता है

**मुमुक्षु :–** प्रश्न है बाबूजी! जो आत्मा को जानता है वो विश्व को जानता है और जो विश्व को जानता है वो आत्मा को जानता है। साधक अवस्था में ये कैसे होता है? कृपा करके स्पष्ट कीजिये।

**पूज्य बाबूजी :– जिसने आत्मा को जाना तो उसने ये देखा कि उसकी जो ज्ञान पर्याय है, उस ज्ञान पर्याय में सारा विश्व झलकता है। सारा विश्व अपने प्रतिभासों को ज्ञान को समर्पित कर देता है। ज्ञेयाकार जितने भी हैं, उनके जो प्रतिभास हैं वो सारे के सारे ज्ञानात्मक हैं, अर्थात् वो सब ज्ञानस्वरूप हैं। तो ऐसा लगता है कि सारे विश्व ने उस ज्ञान को आत्म-समर्पण कर दिया हो!**

**मुमुक्षु :–** आहाहा! माने सारे विश्व ने उस ज्ञान को आत्मसमर्पण कर दिया हो। ओहोहो!

**पूज्य बाबूजी :–** आत्म समर्पण कर दिया है और उस ज्ञान पर्याय को देखने पर ये लगता है कि सारा विश्व जो है वो मानो मेरे में आ गया है, ऐसा लगता है। तो इसलिए ज्ञान पर्याय को देख लेने से सारा विश्व और सारे विश्व को देखने से आत्मा क्योंकि आत्मा उन-मय है, उन प्रतिभासों सहित है। इसलिए वो आत्मा अर्थात् स्व और पर का प्रतिभास! तो दोनों ही उसमें एक साथ दिखाई देते हैं न! **तो ज्ञान में स्व और पर का, परज्ञेयों का, अनंत ज्ञेयों का प्रतिभास वो एक ही साथ हुआ है। इसलिए केवल सिर्फ ज्ञान पर्याय को देखने से स्व और पर दोनों का विभाग जानने में आ जाता है कि ये जितने प्रतिभास हैं, ज्ञेय जैसे प्रतिभास! ये तो सारे के सारे अन्य हैं, मेरे से न्यारे हैं। न्यारे ही**

**हैं। हैं ज्ञान, पर ज्ञान होने पर भी इनसे मेरे को क्या मतलब है?** इस तरह न्यारे हैं, और उनके आकार ठीक ज्ञेयों जैसे हैं। इसलिए वो जान लेता है कि ये सारे के सारे विश्व से संबंधित आकार हैं। तो इनसे भी मेरा वास्तव में कोई संबंध नहीं है। इस तरह जानता हुआ मैं तो.. जैसे कि प्रतिभास ज्ञान है, उसी तरह संपूर्ण आत्मा ज्ञान ही है – ऐसा जानता हुआ, साधक जीव ज्ञानमय आत्मा का अनुभव कर लेता है।

एक सिर्फ ज्ञान की पर्याय को देखा, एक सिर्फ केवलज्ञान की एक पर्याय। उसमें सारे अपने अनंत गुण आ गये, उसमें ज्ञायकाकार अपना आत्मा आ गया और जगत के सारे प्रतिभास आ गये। जगत के सारे द्रव्य–गुण–पर्यायरूप आकार, माने वो प्रतिभास अर्थात् उसका आकार! उसको आकार के नाम से बोलते हैं, द्रव्य–गुण–पर्याय को.. तो वो सबके सब इसमें आ गये और वे सारे प्रतिभास एक ही पर्याय होने पर भी न्यारे–न्यारे हैं, अर्थात् केवलज्ञान में बिल्कुल न्यारे–न्यारे दिखते हैं, क्योंकि सृष्टि में हर एक का स्वरूप न्यारा–न्यारा है, इसलिए बिल्कुल न्यारे–न्यारे दिखाई देते हैं। न्यारे–न्यारे दिखाई देने पर भी जो प्रतिभास है, महाप्रतिभास, वो एक है। अर्थात् वो एक ही ज्ञान की पर्याय है। केवलज्ञान की एक पर्याय अनंत प्रतिभासमय होकर भी अनंत नहीं हो जाती। अनंत खंडों में नहीं बँट जाती, पर वो एक रहती है। इस प्रकार मैं एक हूँ, मैं शुद्ध हूँ। इस तरह अनुभव कर लेता है।

**अनंत प्रतिभासों को देखना चाहिए कि जो अनंत प्रतिभास हैं, वो सबके सब ज्ञान हैं और ज्ञान है अर्थात् वो सब एक ज्ञान पर्याय में ही हैं। यह ज्ञान पर्याय, एक अखंड ज्ञान पर्याय है तो अनंत को क्या देखना? ये सब अनंत ही तो हैं। वे अनंत प्रतिभास केवलज्ञान की एक पर्याय में मिलकर उस शुद्धात्मानुभूति के साथ आत्मा में डूब जाते हैं।**

## अखण्ड ज्ञान पर्याय आत्मानुभूति करती है

**मुमुक्षु :-** उस शुद्धात्मानुभूति के साथ आत्मा में डूब जाते हैं!

**पूज्य बाबूजी :-** ऐसा नहीं है कि अनुभूति करनेवाली वो पर्याय शुद्धात्मा का कोई थोड़ा सा अंश होगी, और उन ज्ञेय जैसे प्रतिभासों को देखनेवाला ज्ञान बाकी और होगा! इस तरह नहीं है। लेकिन स्व-पर का प्रतिभास करनेवाली जो एक अखंड पर्याय है, वो कुल मिलाकर निरंतर आत्मा में डूबी रहती है, आत्मा में लवलीन रहती है, उसका नाम केवलज्ञान है अर्थात् अनंत प्रतिभास उनका नाम सिर्फ एक ज्ञान, एक अखंड ज्ञान! एकरूप ज्ञान, और वो मैं हूँ।

**मुमुक्षु :-** प्रतिभास भले ही अनंत हों पर ज्ञान की पर्याय खंड-खंड नहीं होती!

**पूज्य बाबूजी :-** अनंत प्रतिभास, शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं क्योंकि वो ज्ञान हैं। वे एक ही ज्ञान की पर्याय हैं - वो ज्ञान की पर्याय का अनुभव श्रुतज्ञान है, उस श्रुतज्ञान पर्याय का कोई अंश शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता और इसी तरह केवलज्ञान की पर्याय का कोई अंश आत्मा का अनुभव नहीं करता, अपितु जितने प्रतिभास हैं वो सब के सब ज्ञान होने के कारण वो सारे प्रतिभास शुद्धात्मा में डूब जाते हैं और आत्मा का अनुभव भी करते हैं। इसलिए उन प्रतिभासों को गौण कर देता है कि इनसे मुझे क्या मतलब है? ये तो सचमुच देखा जाये तो पराये हैं, मुझे इनसे क्या मतलब है? इस तरह साधक जीव आगे बढ़ जाता है।

इसमें प्रतिभास को बताया हैं न! गाथा बहुत सुंदर आयी है। महा सामान्य! आत्मा जो है वो एक प्रतिभासरूप महासामान्य है। महासामान्य का अर्थ ये है कि वो सब उस पर्याय में आ जाते हैं, और अलग-अलग होने पर भी वो सबके सब ज्ञान की ओर से देखा जाये तो एक ज्ञान है,

ज्ञान की एक पर्याय है। ज्ञायकाकार और ज्ञेयाकार, वो सब एक ही पर्याय है और वो एक ही पूरी पर्याय आत्मा का अनुभव करती है, उसका कोई अंश नहीं अर्थात् प्रतिभास तो ज्ञेय के हैं, वो तो अलग पड़े रहे और ज्ञान की एक पर्याय, ज्ञान के एक अंश ने, पर्याय के एक अंश ने आत्मा का अनुभव किया – ऐसा नहीं है। वो सारे ही प्रतिभास भी आत्मा का अनुभव करते हैं, क्योंकि वो ज्ञान ही हैं।

**मुमुक्षु :–** ये सही बात है कि वो सारे प्रतिभास आत्मा का अनुभव करते हैं क्योंकि पर्याय में ऐसा..( भेद नहीं है)

**पूज्य बाबूजी :– वो पर्याय एक है, अखंड है। वो अखंड पर्याय आत्मा में डूबती है। यहाँ श्रुतज्ञान की भी सारी पर्याय आत्मा में डूबती है न! तो यहाँ अन्य का प्रतिभास नहीं होता और केवलज्ञान में अन्य का प्रतिभास होता है तो वहाँ केवलज्ञान के दो टुकड़े नहीं हो जाते कि एक आत्मा का अनुभव करनेवाला और एक जगत को देखने वाला, ऐसे दो टुकड़े नहीं होते ? क्योंकि वो सब ज्ञान है।**

**मुमुक्षु :–** और इसीलिए मैं एक अखंड प्रत्यक्ष प्रतिभासमय हूँ ?

**पूज्य बाबूजी :–** हाँ ऐसा ! अखंड प्रत्यक्ष प्रतिभासमय। यहाँ पर्याय की अखंडता बताई है – वहाँ प्रतिभास मे जो अखंड प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है, वो द्रव्य की अखंडता है क्योंकि द्रव्य भी प्रतिभासात्मक है। कहाँ से निकल रहे हैं प्रतिभास ? वो द्रव्य ही तो है सारा का सारा ! उनका दल है, उनका कोष है।

वो अखंड प्रतिभासस्वरूप द्रव्य है और ये प्रतिभास पर्याय है, लेकिन पर्याय होने पर भी वह एक ज्ञान है बस ! इस तरह संपूर्ण एक केवलज्ञान की पर्याय, वो प्रतिभासों सहित संपूर्ण डूबकर...प्रतिभास मिट नहीं जाते क्योंकि वो प्रतिभास तो चलते ही रहते हैं। केवली को तो अनंतकाल

तक अनुभव करना है। इसलिये एक समय में जो प्रतिभास है वो दूसरे समय में दूसरा हो गया क्योंकि वो जो पहले समय का वर्तमान था वो भूत हो गया, अब दूसरे समय का भविष्य है वो वर्तमान बन जाता है। इस तरह से हर समय संपूर्ण विश्व के प्रतिभास और वे सब प्रतिभास एक ज्ञान, स्व और पर का एक ज्ञान और वो सारा मिलकर आत्मा का अनुभव करता है।

लगता ऐसा है जैसे वो प्रतिभास तो न्यारे ही रहते होंगे, अलग-अलग, क्योंकि अलग-अलग पदार्थों के हैं। तो अलग-अलग पदार्थों के तो हैं, लेकिन उससे वजनीय बात ये है कि उस ज्ञान में है क्या ? उस ज्ञान में घड़े का जो आकार है, उसमें घड़ा थोड़ी न है। जितने भी आकार हों, लेकिन ज्ञान को तो कोई सकड़ाई (संकीर्णता) है ही नहीं। इसलिए जितने भी अनंत लोकालोक हों, तो भी उस ज्ञान में थोड़ा भी संकोच नहीं है। वो इनकार करने वाला है ही नहीं क्योंकि मेरा कुछ बिगड़ता ही नहीं है क्योंकि ये ज्ञान में तो आते ही नहीं हैं। ये कहाँ मेरे ज्ञान में आते हैं कि मेरा कुछ बिगाड़ हो ? ये ज्ञान में आवें; एक अणु भी आ जाये तो आत्मा की हत्या हो जाये। वह नष्ट हो जाये, अचेतन बन जाये। एक अणु भी मेरे पास नहीं आता है और जो सारे के सारे पदार्थ हैं वो जैसे मेरे को समर्पण दे रहे हों, मेरी पूजा कर रहे हों। इस तरह सारे ज्ञेय मेरी एक ज्ञान पर्याय को अपना आत्म-समर्पण कर देते हैं और ज्ञान की पर्याय को करते हैं तो वो सब ज्ञान बन जाता है क्योंकि वो ज्ञान ही है सारा और ज्ञेय बिल्कुल आता नहीं है, वो अपने स्थान पर रहता है। वरना दो ज्ञेय हो गये या तो वो ज्ञेय इधर आ गया या फिर उस ज्ञेय का अगर कोई प्रतिबिंब पड़ता है, तो ज्ञेय का प्रतिबिंब भी ज्ञेय ही है इसलिए वो इस रूप में आ गया। वो तो बिल्कुल न्यारा निरपेक्ष है न ! इसलिए केवलज्ञान की एक-एक पर्याय सारे ज्ञेयों से निरपेक्ष अपने आकार स्वत: बनाती

हुई और उनको प्रतिसमय बिगाड़ती हुई और नये आकारों को धारण करती है। इस तरह अनंतकाल तक चला करती है।

अपन ऐसा प्रश्न करें न! कि जैसे हिमालय है। अब हिमालय को आत्मा ने जाना – अपन ऐसा एक सामान्य वचन बोलते हैं। कैसे जाना? कोई भी आत्मा, किसी भी आत्मा की अवगाहना अधिक से अधिक सवा पाँचसौ धनुष होती है और कम से कम साढ़े तीन हाथ। अब वो इतना बड़ा सोलह सौ मील का हिमालय वो आत्मा में कैसे आया? कैसे जाना गया? ऐसा प्रश्न होना चाहिए कि नहीं? तो कैसे जानने में आया? क्योंकि इतना बड़ा हिमालय तो आ ही नहीं सकता तो ये कैसे जाना गया? कि कुछ नहीं है, सोलह सौ मील है, बस हो गया। और जितना कुछ उसका कठोर पाषाण और जो भी चीज है, वो उन सब सहित सोलह सौ माईल है। बस! हो गया। जान तो लिया और क्या?

ये श्रुतज्ञान की एक पर्याय आत्मा की सम्पूर्ण पर्याय है। ऐसे ही केवलज्ञान भी आत्मा की संपूर्ण पर्याय है।

**मुमुक्षु :**– नहीं तो बेचारे ज्ञान को सोलह सौ मील का लंबा सफर हो जाएगा!

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञान में कितना सफर! वो आता ही नहीं है न! आत्मा इतना बड़ा कहाँ है? तो हिमालय, जितना बड़ा आत्मा है उतना सा आकर के रह जाता और बाकी तो टुकड़े हो जाते।

**मुमुक्षु :**– और ज्ञात भी नहीं होते?

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञात भी नहीं होते।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! इसी बात से ज्ञायक का सामर्थ्य कितना बढ़ता है, एक समय की इतनी ताकत है, देखो तो सही!

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञायक का सामर्थ्य इतना है, तो वह सामर्थ्य हमारे

चिंतन और अनुभूति में बढ़ना चाहिए। अनुभूति में सारा सामर्थ्य ज्ञात हो जाता है।

अनुभूति किसे कहते हैं? अनुभूति – जो कि संपूर्ण आत्मा को अपनी गोदी में समेट लेती है, उसका नाम अनुभूति है। अब आत्मा में जो कुछ भी है वो सब कुछ आ गया! सारे गुणों का स्वाद आ गया। अनुभूति का स्वाद माने कोई अजब-गजब चीज है। इसलिये ज्ञानी बार-बार उधर.. जैसे हमारा मन चलता है कि fridge में कोई चीज रखी हो और वो खा ली एक बार। अब दिनभर मन चलता है। इस तरह ज्ञानी का मन निरंतर अनुभूति में चलता है, क्योंकि उसका स्वाद ही विलक्षण था। सारे ज्ञायक को जिसने गोदी में उतार लिया अब और क्या चाहिए? उससे अधिक और सामर्थ्य क्या होगी? और ये पर्याय की सामर्थ्य है।

**मुमुक्षु :-** वो सामर्थ्य आपके पास रहने से ज्यादा बढ़ रहा है और फिर हम भूल जाते हैं!

**पूज्य बाबूजी :-** मेरे पास तो आप जैसी ही है। लेकिन concept clear होना चाहिये। लगता तो ऐसा है न कि जैसे सारे के सारे ज्ञेय न्यारे-न्यारे हैं; जैसे कि दीवार पर हमने छोटे-बड़े सब तरह के चित्र बना दिये हों; इस तरह तो वे न्यारे-न्यारे हैं। केवलज्ञान की दीवार में लगते तो वो सब वैसे ही हैं, लेकिन ये सपाट एक दीवार है। वे चित्र भी दिवार ही हैं। वो कोई आदमी नहीं है।

इनको शास्त्र में आलेखाकार कहा है – सारे आलेखाकार जैसे भूत के, भविष्य के सारे आलेखाकार हम जानते हैं कि नहीं जानते? वे सारे आलेखाकार आत्मा में प्रतिबिंबित हो जाते हैं, भासमान हो जाते हैं, ज्ञानरूप और जाननरूप प्रतिभासित हो जाते हैं – **ज्ञान के बने हुये वे प्रतिभास अर्थात् आकार जाननभावरूप रहते हैं। वे स्वयं जाननेवाले**

**हैं, इसलिए वे ही जान रहे हैं और वे ही जानने में आ रहे हैं अर्थात् वो आत्मा जानने में आ रहा है, शुद्धात्मा जानने में आ रहा है क्योंकि उस स्वरूप वो आत्मा ही है। उन सबके रूपवाला वो आत्मा ही है, इसलिए अनुभूति में आत्मा ही जानने में आ रहा है।**

**मुमुक्षु :**- वे ही जानते हैं और वे ही जानने में आ रहे हैं!

**पूज्य बाबूजी :**- वो ही जानने में आते हैं वरना तो ज्ञेय दूसरा टटोलना पड़ेगा फिर और वो हो नहीं सकता है।

**मुमुक्षु :**- माने ये कहना है कि वहाँ ज्ञेयों के आकारों से ज्ञेय परिणमित होता है और यहाँ जाननभावरूप ज्ञान अपने ही ज्ञान से ज्ञात होता हुआ चलता है?

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! अपने ही सामर्थ्य से वो ठीक वैसे का वैसा जानता हुआ परिणमित होता है। वैसा का वैसा जानना माने आकार। क्योंकि वैसा का वैसा आकार आ जाता है न! अपन किसी तीर्थ पर गए हों और उसको यहाँ याद करें! सम्मेदशिखर गये हों, गिरनार गये हों और उसे अपन याद करें तो वो तो यहाँ आया नहीं और अपने भीतर ठीक वैसे का वैसा आकार बनता हैं कि नहीं बनता?

**मुमुक्षु :**- Exact (हू-ब-हू) बनता है?

पूज्य बाबूजी :- Exact बनता है, वो तो आकार की बात हुई।

अब उसमें ये सब होता है कि ये पदार्थ इतना ठोस है, इतना कठोर है, इतना गरम है, इतना शीतल है इत्यादि। बर्फवाला है, बिना बर्फवाला है। ये सारी बात उसी तरह आ जाती है जैसे कि वो आकार आता है उसी तरह। इस तरह सब कुछ आ जाता है, उसका नाम आकार है।

**मुमुक्षु :**- उसमें चट्टानों की कठोरता भी महसूस हो जाती है?

**पूज्य बाबूजी :**- सब कुछ साफ दिखता है, वो तो श्रुतज्ञान की बात है।

**मुमुक्षु :**- बराबर! तो केवलज्ञान की तो बात ही क्या है!

**पूज्य बाबूजी :**- वो तो अद्भुत है।

## ज्ञेयाकार ज्ञान के प्रयोग

**मुमुक्षु :**- बाबूजी! आज एक प्रयोग की बात करें कि आज मैंने बोला कि ये बाबूजी हैं, तो बाबूजी आगम और अध्यात्म पद्धति से इसमें कौनसी गलती हुई? तो वास्तव में ज्ञान में बाबूजी तो नहीं हैं, वो तो मेरा ज्ञान है न!

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! तो ऐसा कहने के बाद वो विभाग करे कि ये कोई वस्तु है - ऐसा परिणमन जो ज्ञान में हुआ वो ज्ञान का ही परिणमन है। ज्ञान के भीतर उस व्यक्ति का परिणमन नहीं है। व्यक्ति का परिणमन तो ज्ञान से बाहर है, लेकिन वो ज्ञान आत्मा में है। ज्ञान की वो ही प्रक्रिया है। ज्ञान है माने आत्मा ही है। ऐसा जो शब्द बोला उसमें ज्ञान का विषय तो वो व्यक्ति है। विषय है, लेकिन विषय का प्रवेश ज्ञान में नहीं है। ज्ञायक प्रसिद्ध नहीं होता है, ज्ञेय प्रकाशता नहीं होती है अर्थात् उसका प्रवेश उसमें नहीं होता। इसलिए ये analysis (विश्लेषण) करे। सब लोग मात्र बोलकर रह जाते हैं, लेकिन तब तक तो अज्ञान ही रहता है, मिथ्यादर्शन ही रहता है। उसी का नाम अध्यवसान कहा कि उसको ठीक ऐसा ही लगता है कि मेरे भीतर वो व्यक्ति दिखाई दे रहा है। वो व्यक्ति ज्ञाने के भीतर ही आ गया है।

**मुमुक्षु :**- तो मान्यता में वैसा रहना चाहिए कि ये ज्ञान है?

**पूज्य बाबूजी :**- मान्यता में ऐसा रहना चाहिये! ज्ञेय तो हमेशा बाहर ही रहता है लेकिन ये मान्यता में ये मानता है कि ये मेरे भीतर आ

जाता है। यहाँ से ही सारे दुखों की जड़ है। संपूर्ण दुख यहाँ से शुरू होता है। रागादिक.. (भी ज्ञान से बाहर हैं) शरीर है वो तो राग से दूर है लेकिन राग-द्वेष-मोह भी इधर अपने रास्ते पर चलते हैं। उनका भी अपना मार्ग है। इधर ज्ञान-क्रिया अर्थात् जानने वाली पर्याय का अपना मार्ग है और वो रागादि निकट चलते हैं - चैत्य-चेतक संबंध की निकटता से, ऐसा आया है न! चैत्य माने तो वो राग-द्वेष-मोह और चेतक माने ये आत्मा अर्थात् ज्ञान की पर्याय। ये ज्ञान की पर्याय में उनका स्वरूप दिखाई देता है - ये राग है। राग को जानता हुआ ये ज्ञान प्रवाहित हो रहा है। यह राग है - ऐसा जाना, तो ये राग मेरे भीतर आया - ऐसा नहीं जानता है। यह ज्ञान की ओर जाने वाला, अनुभूति की ओर बढ़ने वाला है। ये जो ज्ञान है, ज्ञान की पर्याय है। ये सारी की सारी ज्ञान की पर्याय है क्योंकि वो तो जानन-क्रिया कर रही है न! जानन-क्रिया में यह राग है तो वो राग के स्वरूप को जान रही है, राग को नहीं जान रही है। अपने भीतर राग को नहीं जान रही है। राग अपनी जगह पर है।

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! राग को जानना और राग के स्वरूप को जानना उसमें कौनसा अंतर है?

**पूज्य बाबूजी :- राग के स्वरूप को जान रही है न! राग का स्वरूप तो राग के पास रहा। लेकिन फिर भी यह राग है - ऐसा ज्ञानमय होकर उसके स्वरूप को ज्ञानमय होकर जानता है - वो सारा का सारा ज्ञान का बना हुआ है।** चाहे किसी भी ज्ञेय के संबंध में हम कहें....तीन लोक तीन काल के संबंध में हम कहें कि केवलज्ञान तीन लोक तीन काल को जानता है, ऐसा हम अपनी तरफ़ से बोलेंगे, केवलज्ञान तो बोलता नहीं है। केवलज्ञान तीन लोक तीन काल को जानता है अब ये जो वचन हमने बोला, तो उसमें समझ ये होना चाहिए कि ये तीन लोक तीन काल को जानता है - ऐसा उस स्वरूप को जानता

हुआ ये ज्ञान है मेरा। पदार्थों के स्वरूप को जानना भी ज्ञान है। माने उसका स्वरूप भी यहाँ आकर भी ज्ञान बन गया। उसका स्वरूप नहीं आया है यहाँ पर, उसका स्वरूप भी ज्ञान बन गया है। इस तरह संपूर्णरूप से ज्ञान ही है अर्थात् मैं संपूर्णरूप से ज्ञान ही हूँ अर्थात् ज्ञायक ही हूँ – ये अनुभूति का मार्ग है।

**मुमुक्षु :– जो कुछ झलकता ज्ञान में, वह ज्ञेय नहीं बस ज्ञान है।**
**नहीं ज्ञेयकृत किंचित् मलिनता सहज स्वच्छ सुज्ञान है॥**

**पूज्य बाबूजी :–** बिल्कुल सही है वो तो प्रेक्टिकल है न! मान्यता में भीतर जो भ्रम है वो बहुत ही दुखद होता है। किसी को जैसे कह दिया जाये न कि ये व्यक्ति तुम्हारे साथ बहुत शत्रुता रखता है और ये बहुत भयंकर है लेकिन वो तो बहुत अच्छा, सच्चरित्र है लेकिन हमको तो डर बैठ गया। तो अब जब भी वो व्यक्ति दिखाई देगा हम भीतर से कंपेंगे। B.P. भी बढ़ जायेगा। अब है कुछ नहीं! और किसी ने कह दिया कि चिंता मत करो, कुछ भी नहीं है। वो तो बहुत भला आदमी है। उस ही समय से खतम! डर समाप्त हो गया।

**मुमुक्षु :–** गुरु ने बोल दिया कि ज्ञान है बस! तो भ्रमणा कहाँ रही?

**पूज्य बाबूजी :–** हाँ! वो ज्ञान है और कुछ नहीं है। तू चिंता मत कर! तेरे भीतर कुछ आने वाला है ही नहीं। ये तेरी जो सीमायें हैं वो तो इतनी मंत्रित हैं, मंत्रित.... मंत्र से मंत्रित हैं कि इस ज्ञान की रेखा के भीतर कोई प्रवेश करेगा तो जल जायेगा, उसकी सत्ता ही समाप्त हो जायेगी।

**मुमुक्षु :–** तो बोलो ऐसा, लेकिन मानने में तो भीतर में तो ज्ञान ही है, ऐसा मानकर चलें?

**पूज्य बाबूजी :–** जो बोला गया है न! उसका जो विषय है object

है, वो ज्ञान है। बोला गया, ये तो अपन समझने के लिए प्रयोग करते हैं। लेकिन जो बोला गया है वो सारा का सारा दूसरे पदार्थ के संबंध में बोला जाने पर भी, वो सचमुच ज्ञान ही है और ज्ञान के संबंध में ही बोला जा रहा है – इतना होना चाहिए। इतना समझना चाहिए!

**मुमुक्षु :**– जो कुछ दूसरे के संबंध में बोला जाता है, वो ज्ञान ही है और अपने संबंध में भी ज्ञान है?

**पूज्य बाबूजी :**– वो कथन ज्ञान के संबंध में है, वो ज्ञान की ही घोषणा कर रहा है।

**मुमुक्षु :**– जो कुछ दूसरे के संबंध में बोला जाता है वो ज्ञान ही है?

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञान के संबंध में ही बोल रहा है। मैं तो ज्ञान हूँ। दूसरा जो चरण होगा वो ये होगा न कि ये जो वो बोला न उस वस्तु के संबंध में, तो ये ज्ञान वो वस्तु बिलकुल नहीं है। लेकिन ये तो ज्ञान अर्थात् मैं हूँ।

## अनुभूति के पहले वाली ज्ञान धारा

**मुमुक्षु :**– वाह रे वाह! मैं हूँ और मेरे संबंध में भी मैं ही हूँ, जो स्वानुभूति की तरफ बढ़ता है वो उस ज्ञान को ही विषय मानता है?

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञान विषय है ही, क्योंकि वही उसका कर्म है। कर्म वही है, ज्ञेय वही है और जाननेवाला भी वही है। दोनों वही हैं। इस प्रकार ज्ञाता-ज्ञेय दोनों एक हैं – ऐसा जानता हुआ मैं तो मात्र ज्ञान हूँ, तो ज्ञायक की ओर बढ़ जाता है। **ज्ञायक हूँ – ऐसा बोलने में निर्णय करने के बाद जो ये धारा चलती है ये भी एक तरह से ज्ञानधारा है, क्योंकि वो कर्मधारा से पृथक् हो गई है। यद्यपि अभी अनुभूति नहीं हुई है, पर अनुभूति नहीं होने पर भी ये तो निश्चित है कि वो अनुभूति में परिणत होगी। इसलिए इसको अज्ञान कहने में आचार्य**

**भी जरा संकोच करते हैं, अभी अज्ञान और मिथ्यादर्शन है, लेकिन उनको संकोच है।**

अपना बच्चा हो न जैसे, पहले बहुत कुसंग में बुरे संग में रहता था। अब उसको समझाया तो उसने कह दिया कि अच्छा पापा! अब मैं बाहर नहीं जाऊँगा, घर पर ही रहूँगा। लेकिन हमने उसको घर पर रहने के लिए नहीं कहा था क्योंकि वो तो वयस्क है, पढ़ा-लिखा है, पढ़ चुका है। हमने तो उसको ऑफिस में बैठने के लिए बोला है। उसको ऑफिस में बिठाना है, लेकिन वो घर पर बैठने लग गया तो क्या हम कहते हैं कि अब ये बहुत अच्छा हो गया? इस तरह ज्ञान की पर्याय जो ज्ञान के संबंध में बोलने लगी कि यह तो ज्ञान ही है, वो मैं ही हूँ... तो अंत में वो ऑफिस में बैठने जैसा हो गया। ऑफिस में माने ज्ञायक में बैठ गया।

**मुमुक्षु :-** तो वो बहुत अच्छा हो गया। अद्भुत बाबूजी! प्रयोग पद्धति अद्भुत बताई आपने। आहाहा! पूरी निर्भयता आ जाती है!

**पूज्य बाबूजी :-** पूरी निर्भयता आती है न! पूरी निर्भयता अर्थात् एक सामान्य आदमी हमारे लिए कुछ कह जाये तो भी निर्भयता आ जाती है कि तुम जो है वो बिल्कुल सौ बरस के होकर के तुम्हारा ....(मरण) होगा और तुम्हें कभी भी कोई खटका नहीं होगा; अगर हो तो मुझे याद कर लेना, तो वो तो निर्भय हो जाता है। यहाँ तो कुंदकुंद ऋषि कह रहे हैं, कोई खटका नहीं है। तेरे भीतर कभी कोई घटना घटी ही नहीं, अब तू क्या ये बहकीं-बहकीं बातें करता है? कौनसी बातें करता है? पागलखाने में जाना है क्या? पागलखाने में ही रहा है हमेशा!

तू अनहोना है। जो होना है वो तो पर्याय है और पर्याय जो है वो पागलपन कर बैठती है, तो तुझे तो तू सारा का सारा ऐसा ही दिखाई देता है जैसे कि मैं ही पागल हूँ।

**मुमुक्षु :–** तुझे तू सारा का सारा ऐसा ही दिखाई देता है कि जैसे मैं पागल हूँ और पागलपन तो पर्याय में है!

**पूज्य बाबूजी :–** भाई! पागल कहाँ दो भाग करता है? वो तो कहता है कि मैं तो पागल हो गया। असल में इसके दो हिस्से हैं कि एक तो पूरा समझ वाला। लेकिन समझ थोड़े समय के लिए बिखरी है, आदमी थोड़ी ना बिगड़ गया है।

जब वो पागलपन थोड़ा कम होगा तो उसमें विचार शक्ति पैदा होगी। और विचार शक्ति पैदा होगी तब वो समझने लगेगा कि – अरे! मैं तो इतना चतुर, इतना योग्य, इतना पढ़ा–लिखा। ये ऐसा क्यों हो रहा है? ये लोग कौन हैं? मेरे संबंध में क्या कहते हैं? वो तुरंत चेत जाता है और फिर उसका पागलपन मिट जाता है।

हमारे यहाँ कोटा में एक बार उज्जैन से एक वक्ता नागरजी बुलाये गये थे, वो योग साधन चिकित्सा करते हैं। उनके साथ एक पागल था क्योंकि वो तो पागलों की चिकित्सा ही ज्यादा करते थे, क्योंकि वो सारा का सारा मानसिक है। वो व्यक्ति बहुत पढ़ा–लिखा था। महावीर जयंती का समय था। जब सबने नागरजी से कहा कि – साहब! कल आपका भाषण है। वो भी उन्हीं के पास बैठा था। तो उन्होंने उससे कहा कि कल आपका भी भाषण है। तो वो कहता है कि मेरा भाषण? मगर मैं तो पागल हूँ, मेरा भाषण कैसे? अरे! तुम्हें पागल कौन बोलता है? तो वो बोला दूसरे दिन (भाषण दिया)। तुम्हें कौन बोलता है पागल? बस! इतना ही तो बदलना है। ज्ञान जबरदस्ती पागल हो रहा है।

**मुमुक्षु :–** ज्ञान राग के संबंध में बोले तो पागल और ज्ञान के संबंध में बोले तो चतुर है!

**पूज्य बाबूजी :–** बिल्कुल शाना और एकदम चतुर! ज्ञान में परपदार्थ

आयेगा कैसे ? क्योंकि राग तो परद्रव्य है, पुद्गल है। उसको तो एकदम पुदगल कहा है। पुद्गल इसलिए कहा, क्योंकि उसमें आत्मा का कोई गुण-धर्म नहीं है। भाई ! जैसे ये शरीर है, तो इसमें प्रोटीन, विटामिन, ये सारे तत्त्व होने चाहिए न ? लेकिन अब वो मल-मूत्र में प्रोटीन-विटामिन ढूँढ़ने लगे तो कहाँ से मिलेगा ? भाई ! ये राग और पुण्य पाप तो मल-मूत्र जैसे हैं, तो इनमें आत्मा के प्रोटीन-विटामिन कहाँ से मिलेंगे ?

उनमें आत्मा का कोई गुण-धर्म नहीं है, इसलिए वे आत्मा से surplus (आधिक्य) हैं, क्योंकि उनका पूरा नाश हो जाने पर भी आत्मा उतना का उतना रहता है। इसलिए आत्मा के साथ अगर कुछ जोड़ दिया जाए तो वो आत्मा कैसे बन गया ? ये कपड़े शरीर के कैसे हो गये ? और जो व्यक्ती पागल है वो ये मानता है कि ये मेरे सूट-बूट यदि अच्छे नहीं हों, तो मैं ठीक नहीं दिखूँगा। मैं सही नहीं दिखूँगा। वो अपने को कपड़े सहित मानता है। ये लौकिक पागलपन है। अरे ! ये शरीर के कपड़े हैं ही नहीं, साथ में लाया ही नहीं था और वो उन्हें लेकर भी नहीं जाएगा; लेकिन वो तो ये मानता है कि साड़ी हो तो ऐसी हो। क्यों हो ? क्यों हो ऐसी ? तेरा तो साड़ी से कोई संबंध ही नहीं है। और शरीर से भी सूट-बूट का संबंध नहीं है, लेकिन वो उसको ही अपनी personality (व्यक्तित्व) मानता है कि मेरी personality ऐसी है। अरे ! तेरी personality कपड़ों को उतारने पर है। ये तेरी असली personality है। राज-राजेश्वर सबके मुकुट आदि सब उतर जाते हैं, वे सब उपाधियाँ थीं न !

## राग को पुद्गल क्यों कहा ?

**मुमुक्षु :-** बाबूजी एक प्रश्न होता है कि - राग को पुद्गल कहा, लेकिन पुद्गल का स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तो इसमें आता नहीं है। तो किस अपेक्षा से पुद्गल कहा ?

**पूज्य बाबूजी :**– अपेक्षा आ गई न! भाई! वो हमारी जाति का नहीं है। वो शूद्र है – उसमें आत्मा का कुछ भी तो नहीं मिलता न! आत्मा चैतन्य है तो चैतन्य का कुछ तो कोई गुण धर्म उसमें मिलना चाहिए! कुछ चीज तो मिलना चाहिए, एक अणुमात्र तो मिलना चाहिए न! राग–द्वेष पुण्य–पाप क्रोध–मान–माया–लोभ, इनमें और योग की विकारी क्रिया, उनमें आत्मा अणु मात्र भी नहीं मिलता। आत्मा की कोई चीज नहीं मिलती, तो वो राग कौन हुआ? कि आत्मा तो नहीं है। तो फिर कौन है? कि अनात्मा है। अनात्मा है माने अचेतन है। तो अचेतन में कौन है? तो पुद्‌गल है क्योंकि पुद्‌गल के साथ रहता है और पुद्‌गल के साथ चला जाता है।

ये झाँकता ही उस तरफ है। राग और द्वेष इत्यादि ये कभी आत्मा की अनुभूति कर ही नहीं पाते हैं न! क्योंकि वो कभी आत्मा के भीतर आ ही नहीं सकते। और आत्मा की अनुभूति करनेवाला तो आत्मा के भीतर ही चाहिए न! वो ज्ञान ही है।

**मुमुक्षु :**– चौदहवीं गाथा में शिष्य का प्रश्न है न! प्रभु आप कहते हो उस प्रकार के आत्मा की अनुभूति कैसे होती है। तो आचार्य बोले कि वो आत्मा में नहीं हैं इसलिए हो सकती है।

**पूज्य बाबूजी :**– बस! इसलिए हो पाती है, क्योंकि उनका स्वरूप न्यारा है।

ये अनोखी बातें हैं, प्रसन्न करनेवाली बातें है! एक बार तो जो उदास हो जाए, वो भी प्रसन्न हो जाए। लौकिक दृष्टि से बहुत खो दिया हो और एक बार इस चर्चा को याद कर ले, इस बात को याद कर ले तो कहते हैं कि कुछ खोया नहीं है। था क्या मेरे पास जो खोया? एक बात में उत्तर हो जाता है कि मेरा कुछ था ही नहीं तो खोया कैसे?

तेरा सर दर्द करता है। तो मुझे ये तो बताओ कि तेरा सिर है क्या? नहीं! तो दर्द करेगा? जिनके सिर ही नहीं है तो दर्द कैसे करेगा?

चर्चा में तो और अच्छी गहरी बातें होती हैं ! खुलासा बहुत होता हैं – प्रतिभासों के संबंध में भ्रम बहुत है।

## भेदज्ञान का प्रारंभ

**मुमुक्षु :–** भेदज्ञान की शुरुआत कैसे होती है?

**पूज्य बाबूजी :–** ये भेदज्ञान ही है न! हो गया बस! कल्याण ही है बस एक बार अगर ये भेदज्ञान हो जाये तो!

मुख्य तो ये ही है न! कि स्व–पर का विभाग है, उसको जानने वाला ज्ञान है। और ज्ञान भूला, तो स्व और पर दोनों को एक किया। तो बस अभेद हो गया। जो भेदरूप थे, जो बिल्कुल न्यारे थे, बिल्कुल अंतरवाले थे, उनको एक करके जाना। यहाँ से अभेद मिथ्यात्व शुरू हो गया। मिथ्यात्व की अभेदता और मिथ्याज्ञान की अभेदता, **यहाँ से शुरू हो गई। और वास्तविक अभेदता जो है वो जाती रही, समाप्त हो गई। जो वास्तविक अभेदता है....क्योंकि ज्ञान ही अभेद होनेवाला है लेकिन ये दूसरे के साथ लग गया, तो कौन अनुभव करेगा?**

**मुमुक्षु :–** भेदज्ञान की शुरुआत प्रतिभास को स्वीकार करके चलती है?

**पूज्य बाबूजी :–** वहाँ से शुरू होती है। प्रतिभास माने ज्ञान, ज्ञान माने मैं। बस! हो गया। प्रतिभास माने ज्ञेय जैसा आकार अर्थात् ज्ञानाकार। ज्ञानाकार माने ज्ञान और ज्ञान माने मैं।

**मुमुक्षु :–** प्रतिभास माने ज्ञान और ज्ञान माने मैं!

**पूज्य बाबूजी :-** प्रतिभास माने ज्ञेय जैसा आकार और ज्ञेय जैसा आकार माने ज्ञान का आकार। ज्ञान का आकार माने ज्ञान और ज्ञान माने मैं, ज्ञायक।

## पर्याय में अशुद्धता कैसे हुई ?

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध तो पर्याय में अशुद्ध परिणमन, ऐसा क्यों ?

**पूज्य बाबूजी :-** वो भी सत् है। वो तीन स्वतंत्र निरपेक्ष सत् एक ही पदार्थ में हैं। एक ही पदार्थ में ये जो तीन हैं, वो निरपेक्ष सत् हैं। इसलिए द्रव्य, गुण और पर्याय में द्रव्य जो है वो गुण के आश्रित नहीं है। **गुण जो है द्रव्य के आश्रित कहे जाते हैं पर वास्तव में आश्रित नहीं है, क्योंकि गुणों का बना हुआ द्रव्य नहीं है। द्रव्य एक सत्ता है और उस सत्ता के आश्रित ये गुण रहते हैं। गुण रहते हैं लेकिन ये भी निरपेक्ष हैं, क्योंकि ये अनेक हैं। अगर ये निरपेक्ष न हों तो सब मिलकर एक हो जायेंगे और ये हो नहीं सकता।** इसी तरह पर्याय..कि वो पर्याय में द्रव्य है, जो अनंत गुणात्मक द्रव्य है वो शुद्ध है। और पर्याय जो है उसको शुद्ध स्वीकार करती नहीं है, वह अनादिकाल से कहती है कि मेरी मर्जी, नहीं करती हूँ। उसमें क्या है ? नहीं करती हूँ।

विवाह हुआ और पत्नी आई। उसमें एक एब (दोष) है कि वो कहना नहीं मानती है। उसमें और तो सब योग्यता है – बोलना, मीठास वग़ैरह, सब ढंग-ढाँग सब अच्छे हैं, लेकिन वो कहना नहीं मानती है। तो तुम्हारे वहाँ तो वचन ठहरे थे कि तू कहना मानेगी। तो वो कहती है कि वो टाइम गया, अब हो गया। नहीं मानती हूँ मैं, मेरी मर्जी। तुमको नहीं जचती हूँ तो छोड़ दो। मैं छोड़ देती हूँ। पर्याय का इतना सत् है। वो पर्याय भी निरपेक्ष है। लेकिन समझाने से समझ जाती है।

## द्रव्य और गुणों की निरपेक्षता

**मुमुक्षु :**– गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं – ये परिभाषा निश्चय है या व्यवहार ?

**पूज्य बाबूजी :**– ये परिभाषा व्यवहार से है। गुणों का समुदाय द्रव्य थोड़े ही है। द्रव्य तो एक सत्ता है, स्वयं existence (अस्ति) उसके आश्रित अनंत गुण रहते हैं। द्रव्य के आश्रित अनंत गुण और अनंत पर्यायें रहती हैं। लेकिन व्यवहार के बिना बात समझ ही नहीं आती है न! इसलिए व्यवहार का उपयोग करना पड़ता है, लेकिन मानना नहीं पड़ता। यदी मानते हैं तो मान्यता बदल दे और क्या है ? द्रव्य एक स्वतंत्र सत्ता है, पूरी existential। चैतन्य सत्ता, चिन्मात्र और उसके आश्रित अनंत गुण रहते हैं। आश्रित ही कहा जाता है लेकिन वास्तव में आश्रित नहीं है क्योंकि आश्रित हो जाएँ तो पूरी सापेक्षता हो जाये और या तो द्रव्य अनंत हो जायेगा या गुण जो हैं वो एक हो जायेंगे।

**मुमुक्षु :**– गुणों के समूह को छोड़कर द्रव्य कुछ विशेष भी है ?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! द्रव्य गुणों के समूह से एक अलग सत्ता है। गुणों का समूह कहने से ऐसा लगता है जैसे अनेक मिलकर एक बन गया हो। ऐसे तो विश्व-व्यवस्था हो जाएगी! अनेक मिलकर एक बनते हैं क्या ? वो तो फिर झाड़ू जैसा हो गया कि अनेक सींक मिलकर एक झाड़ू बन गया।

**मुमुक्षु :**– ऐसा नहीं है,फिर कैसा है ?

**पूज्य बाबूजी :**– अनंत गुण उसके आश्रित हैं, वो एक सत्ता है। ये शरीर है न! उसके आश्रित इतने सारे अंग हैं कि नहीं ? और हर अंग का कार्य भी न्यारा-न्यारा है। एक-एक अँगुली का काम न्यारा-न्यारा। वो तब मालूम पड़ता है जब एक अँगुली कट जाये तब चारों अँगुली बेकार

हो जाती हैं, तब मालूम पड़ता है, इसलिए सब अंग निरपेक्ष हैं। इस तरह आत्मा के भी गुण और पर्यायरूप जो अंग हैं, वो सब निरपेक्ष हैं और एक दूसरे के अधीन नहीं हैं। द्रव्य वो गुण नहीं है, गुण हैं वो पर्याय नहीं हैं और पर्याय हैं वो गुण नहीं हैं और पर्याय हैं वो द्रव्य नहीं है। उनमें अतद्भाव है, भिन्नत्व नहीं है, पृथकत्व नहीं है। अतद्भाव है अर्थात् वो तद्रूप नहीं है। द्रव्य है, वो गुणरूप नहीं है। गुण है वो पर्यायरूप नहीं है, तो ऐसा अतत् है।

**मुमुक्षु :**- बाबूजी ! ये गुण तो शुद्ध हैं, तो उनका परिणमन शुद्ध क्यों नहीं है ? गुण तो शुद्ध हैं। जैसे आपने बोला शरीर और इसके अलग-अलग अंग का separate function निश्चित कार्य है। लेकिन वो तो शुद्ध हैं, तो उनका परिणमन ऐसा अशुद्ध क्यों है ? उसे भी निरपेक्ष, सत्-अहेतुक समझना चाहिये क्या ?

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ ! निरपेक्षता से सारी सिद्धि हो जाएगी। ये जो पर्याय है, वो गुण से निरपेक्ष पैदा होती है। जैसे अगर ये जो गुण है उसमें कोई अनंत पर्यायें इकट्ठी नहीं पड़ी हैं। वरना तो वो पर्यायों का समुदाय गुण कहलाएगा। **लेकिन पर्यायें उसमें इकट्ठी नहीं पड़ी हैं अर्थात् पर्याय गुण में है ही नहीं, और वैसे देखा जाए तो अनंत पर्यायों की शक्ति, उसका नाम एक गुण है। तो अनंत पर्यायों की शक्ति, ये एक अलग चीज हुई और अनंत पर्यायें अलग चीज हुईं। तो एक-एक पर्याय जो आती है वो अपनी स्वतंत्रता से और अपने क्रम में, अपने समय पर आती है। तो इसमें गुण का हाथ कहाँ रहा ? गुण तो ध्रुव है, नित्य है और ये पर्याय अनित्य है। तो निरपेक्ष हुई कि नहीं हुई ? ऐसा मानने से उन पर्यायों से विमुख हो जाता है।**

जोरदार शब्दों में विमुख ही कहना चाहिए, इसमें कोई दिक्कत नहीं है। **सम्यग्दर्शन से विमुख होकर सम्यग्दर्शन के सन्मुख ही होना है।**

**तो उससे विमुख होकर जो उससे अनमेल है, जो उसका विषय है, उस ज्ञायक की ओर लग गया। ज्ञायक की ओर लग गया तो सम्यग्दर्शन आ गया। वो उत्पन्न ही हो गया। स्वयं उससे विमुख होने पर ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। पर्याय से विमुख होने पर ही पर्याय का मंगल होता है।**

**मुमुक्षु :-** ज्ञान पूरा साफ हो तो कोई सवाल नहीं रहता। हर बार स्व - पर के विभाग की बात आ जाती है।

**पूज्य बाबूजी :-** वो तो हर समय ही है, वहाँ से तो प्रारंभ ही है - स्व-पर का विभाग और स्व-पर के स्वरूप का ज्ञान, इसमें पर के स्वरूप का ज्ञान तो इतना ही मात्र है कि ये मेरे से न्यारे हैं और अलग हैं, पराए हैं। ये हो गया बस! अब कौन-कौन में क्या-क्या हैं? - इसकी आवश्यकता नहीं है। लेकिन अपने स्वरूप का ज्ञान तो स्पष्ट होना चाहिए, क्योंकि वहाँ पर मिलावट बहुत है। तो उस मिलावट में से किसी एक को छाँटना ये Laboratory (प्रयोगशाला) का काम है। वो छाँटता है तब उसको ज्ञायक हाथ आता है कि और सब काम के नहीं हैं। ये मुझे निभा नहीं सकते। जीवन भर निभाए - ऐसा संबंध करना चाहिए। लेकिन ऐसा संबंध लोक में होता नहीं है, इसलिए उसे दुखदाई बताया। ये लोकोत्तर संबंध है, जो उस श्रद्धा को, ज्ञान को, चारित्र को जीवन भर अर्थात् अनन्त काल तक निभाता है।

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 16

(9 फरवरी 1999)

*इस चर्चा में उपयोग का स्वरूप, आत्मा और राग का कर्तृत्व, अनुभूति के पूर्व की चिंतन धारा, उपयोग लक्षण आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।*

## उपयोग में उपयोग है

**मुमुक्षु :**– बाबूजी कल के प्रश्न में जो उपयोग में उपयोग की बात थी, उसमें उपयोग में भगवान आत्मा है। जब विभावभाव चलते हैं, उसी समय आत्मा उसमें व्यापक कैसे है ?

**पूज्य बाबूजी :**– विभाव भाव चलते हैं उस समय तो ये मानता ही नहीं है और जानता ही नहीं कि – उपयोग में उपयोग है। ये तो उपयोग में क्रोध है – ऐसा जानता है। उपयोग में उपयोग है – ये भी ज्ञानदशा की ही बात है। ये ज्ञानदशा उत्पन्न होने की विधि है और वो इसको नहीं मानता हुआ अनादि से ही ऐसा मान रहा है कि उपयोग में क्रोध है और क्रोध में उपयोग है अर्थात् दोनों का मिश्रण करता है। **सचमुच तो क्रोध जो है वो उपयोग में प्रतिभासमान होता है। प्रतिभासमान होता है माने क्रोध का स्वरूप उपयोग में जानने में आता है। उपयोग में क्रोध नहीं आता है। जब क्रोध उपयोग में नहीं आता तो क्रोध और उपयोग ये दो वस्तु हुईं। अब एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं होती। इसलिए ज्ञान और क्रोध...क्रोध माने संपूर्ण विभाव; वो दोनों न्यारे-न्यारे हैं, अलग-अलग भाव हैं।**

दो भाव न्यारे-न्यारे हैं तो दोनों का सब कुछ न्यारा है। जैसे घर

न्यारे–न्यारे तो दरवाजे भी न्यारे–न्यारे। तो उपयोग का दरवाजा अन्य है और क्रोध का दरवाजा उससे विपरीत, अन्य है। इसलिए एक घर में दूसरे घर का सदस्य नहीं आता। क्रोध अचेतन और जड़ है और जो ज्ञान है, उपयोग है वो ज्ञानस्वरूप है, जाननस्वरूप है, जाननभावरूप है। वो जानता है कि मैं ज्ञायक हूँ, चिन्मात्र हूँ – ये उसका जानना वास्तविक है।

ये बात विभाव भाव के समय की नहीं है। विभाव भाव माने अज्ञानदशा और अज्ञानदशा टलकर जब ज्ञानदशा होती है तो उस समय भी विभाव भाव होते हैं – ऐसा कहा जाता है। मुझे विभाव भाव होते हैं – वो ऐसा नहीं मानता। जिसको अनुभूति हुई वो ये नहीं मानता है कि मुझे विभाव भाव होते हैं। कहता अवश्य है तो उसका नाम व्यवहारनय है। लेकिन विभाव भाव होते हैं तो उस समय वो उपयोग से उन विभावों को अलग जानता है, भिन्न जानता है। इसलिए बात तो वही रही न कि उपयोग उपयोग में रहा और क्रोध क्रोध में रहा।

ज्ञानी की जो ज्ञानदशा होती है और विभाव भाव होते हैं, ये उस समय की चर्चा है और इससे पहले जो अज्ञानदशा की चर्चा है उसमें तो वो इस बात को जानता ही नहीं है कि उपयोग जो है वो उपयोग में है। आत्मा ज्ञानक्रिया में है, जाननभाव में रहता है, जानन–क्रिया में रहता है, वो ऐसा जानता ही नहीं है, क्योंकि वो ऐसा जानता है कि क्रोध और उपयोग दोनों एक हैं। क्रोध मेरे जानने में आता है, इस प्रकार क्रोध के अस्तित्व को वो ज्ञान में मानकर और पागल हो जाता है, अज्ञानी बन जाता है।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! उसी समय जानन–क्रिया तो है कि नहीं?

**पूज्य बाबूजी :**– जानन–क्रिया मिथ्या है। वो मिथ्याज्ञान है।

**मुमुक्षु :**– क्रोध जानने में आता है या नहीं?

**पूज्य बाबूजी :–** क्रोध जानने में आता है ये व्यवहारनय का कथन है। **निश्चयनय का कथन यह है कि क्रोध का जो स्वरूप है वो ज्ञान में ज्ञानरूप जानने में आता है, वो भी ज्ञान बनकर। वो क्रोध का स्वरूप ज्ञान बनकर ज्ञान में आया है।** क्रोध मेरे जानने में आता है ये जो वचन है, इसमें संपूर्णरूप से ज्ञान ही बोल रहा है और वो सारी परिणति ज्ञान ही है। क्रोध की प्रतिभासरूप सारी परिणति ज्ञान ही है।

दोनों दशाओं की बात अलग–अलग है। पहली दशा में तो ये स्वीकार ही नहीं किया इसलिए संवर अधिकार में इसका प्रारंभ किया। संवर अधिकार माने सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से ही संवर का प्रारंभ होता है।

वो कैसे होता है? कि जब ये ज्ञान और क्रोध को बिल्कुल न्यारा–न्यारा जाने – दोनों का आधार, दोनों के रहने का स्थान, दोनों के दरवाजे, दोनों के घर बिल्कुल न्यारे–न्यारे जाने तो इसका ज्ञान स्वच्छ हुआ, निर्मल हुआ। और तब ये क्रोध से हटकर, अनासक्त होकर, ममत्व और अहम् को तोड़कर ज्ञान में अहं कर लेता है। तब फिर विभाव मेरे हैं – ये बात कहने मात्र ही रह जाती है, क्योंकि मेरा तो चैतन्य है, क्रोध मेरा नहीं है, राग–द्वेष–मोह मेरे नहीं हैं। ज्ञान मेरा है, चैतन्य मेरा है, उसका स्वर सदा ही ऐसा होता है ।

**मुमुक्षु :–** तो विभाव दशा में ज्ञान इसी प्रकार परिणमित हुआ है।

**पूज्य बाबूजी :–** विभाव के समय भी ज्ञान तो परिणमित इसी प्रकार हुआ है लेकिन उसने न्यारा–न्यारा जान लिया है – ये है उसमें मुख्य बात! ज्ञान पहले भी परिणमित तो ऐसे ही होता था। पहले भी क्रोध ज्ञान में आता नहीं था और ज्ञानदशा में भी क्रोध ज्ञान में नहीं आता है। लेकिन पहले ये आता था ऐसा मानकर तद्रूप होकर अज्ञानी होता था। क्रोध

के साथ ये तद्रूप होकर परिणमन करता था, इसका नाम कर्ता–कर्म हुआ। मैं क्रोधी और क्रोध मेरा कर्म, तब वो मैं ज्ञानस्वरूप चैतन्य और ज्ञान मेरा कार्य – ऐसा नहीं बोलता था। मैं क्रोधी और क्रोध मेरा कर्म, मेरा कार्य – ये उसका वचन था। वचन था माने उसकी ऐसी अनुभूति थी। ये अनुभूति मिथ्या थी, मिथ्यादर्शन–मिथ्याज्ञान–मिथ्याचारित्ररूप अध्यवसान था।

राग दशा होने पर भी आचार्य ने तो इतनी ऊँचाई से कहा है कि ज्ञानी को आस्रव होता ही नहीं है। ज्ञानी को राग–द्वेष–मोह हैं ही नहीं, होते ही नहीं हैं, तो वो किसको हैं? कि आत्मा को तो हैं नहीं और विषयों में भी राग–द्वेष नहीं हैं। ये विषयों में भी नहीं हैं तो फिर किसके हैं? कि किसी के नहीं है अज्ञानी के हैं, अज्ञानी की कल्पना के हैं। शुद्धात्मा में भी राग–द्वेष–मोह नहीं है और विषयों में भी राग–द्वेष–मोह नहीं है। तो फिर राग–द्वेष–मोह हैं तो सही न! तो वो किसके हैं? तो कहते हैं कि वो अज्ञानी की कल्पना के हैं क्योंकि आत्मा में तो उनका रंचमात्र भी निवास नहीं है। वो तो एकदम शुद्धातिशुद्ध है।

**मुमुक्षु :**– तो वो जानन–क्रिया भी उसी समय मिथ्या है,जब वो स्वीकरता नहीं है?

**पूज्य बाबूजी :**– जानन–क्रिया ही मिथ्या होती है, गुण और द्रव्य, मिथ्या नहीं होते। **इसलिए जानन–क्रिया मिथ्यात्व को समाप्त करके सम्यक्त्वरूप हो जाती है क्योंकि परिणमन है न! जिसमें परिणमन होगा वही विभावरूप हो सकेगा। होगा ही, ऐसा नियम नहीं है।** विभावरूप हो सकेगा क्योंकि चार अचेतन पदार्थों में विभाव नहीं है और विभाव क्रिया भी नहीं है। सभी अचेतन पदार्थों में स्वभाव क्रिया ही है । लेकिन जीव और पुद्गल में केवल इतनी गुंजाइश है कि वे विभावरूप हो जाते हैं। उनकी पर्याय विभावरूप हो जाती है। परिणमन

तो दोनों में ही है। इसमें भी है और उनमें भी है। लेकिन ये जो विभाव है, ये केवल जीव और पुद्गल में होता है। पुद्गल तो जानता नहीं है कि विभाव क्या चीज है। इसलिए उसको तो सुख और दुख नहीं है। लेकिन आत्मा जानता हुआ इस विभावरूप परिणमन करता है, क्रोधादिरूप परिणमन करता है। वो क्रोधादिरूप है नहीं, लेकिन क्रोधादि को आत्मा से तद्रूप मानता हुआ परिणमन करता है, इसका नाम कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है। उसको कहते हैं कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति!

कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अर्थात् करनेवाला और कार्य - ऐसा नहीं है। करने वाला कार्य तो सामान्य है। **एक इंद्रिय से लगाकर केवलज्ञान तक जो षट्कारक हैं, वो तो सबमें हैं।** वहाँ तो जो परिणाम है उसका कर्ता द्रव्य ही कहा जाता है। तो वो धर्म की अपेक्षा से कृत्रिम कर्म हुआ, वो बात अलग है। यहाँ जो कर्ता-कर्म अधिकार है इसमें तो यह अज्ञानी बनता हुआ, अज्ञानी होता हुआ क्रोधादि के साथ और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि के साथ अपनी कल्पना में तद्रूप परिणमन करता है। परिणमन हो जाता है - ऐसा नहीं है अर्थात् वे पदार्थ चैतन्य रूप हो जाते हैं, ऐसा बिल्कुल नहीं है। लेकिन ये अपनी कल्पना में तद्रूपता करता है। इसलिए कल्पना को उड़ाता है तो तद्रूपता उड़ जाती है।

**मुमुक्षु :**- लेकिन है वो वास्तविक स्थिति ?

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! वास्तविक स्थिति यह है कि क्रोधादि और अन्य जो अचेतन पदार्थ हैं, पुद्गल धर्म आदि ये ज्ञान में आते ही नहीं हैं। सदा से ही न्यारे-न्यारे हैं इसलिए इनको न्यारा-न्यारा देखकर ये न्यारे हैं और मेरे किसी प्रयोजन के नहीं हैं - ऐसा जानकर आत्मस्थ होना चाहिए, फिर तो बस वही बचता है। पहले तीन लोक और तीन काल के सारे अचेतन पदार्थ गये और अपने से भिन्न सभी जीव पदार्थ

भी गये। अब बचा तो कौन बचा? कि ये जो पर्याय है, ये तो स्वयं अज्ञानरूप परिणमन कर रही है। तो अज्ञान से जब ज्ञानदशा को प्राप्त होगा, तो वो ज्ञान किसका अवलंबन लेगा? कौन बचा? तो स्व का ही अवलंबन लेगा क्योंकि स्व का अवलंबन ही स्वाधीनता और परम और चरम मुक्ति है। मुक्ति में पराधीनता को लेश मात्र भी बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। इसलिए वही मुक्ति है।

अच्छा है प्रश्न! प्रश्न ऐसे ही करने चाहिए!

**मुमुक्षु :**– वो क्या है बाबूजी! एक बार ज्ञान में पूरा स्पष्ट नहीं होगा कि ये ही मानते हैं कि मैं ऐसा हुआ ही नहीं हूँ, मैं तो वैसा ही हूँ। लेकिन वास्तव में जीव की ऐसी परिणति हुई है। उसकी जो जानन-क्रिया है वो मिथ्या हुई है।

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! निश्चित मिथ्या हुई है, श्रद्धा में मिथ्यादर्शन हुआ, ज्ञान में मिथ्यात्व हुआ और चारित्र में मिथ्यात्व हुआ। मिथ्यात्व हुआ माने मिथ्या हुए। **मिथ्यात्व केवल मिथ्यादर्शन को भी कहते हैं लेकिन तीनों ही मिथ्या हुए हैं। अपने परिणाम में, परिणति में, पर्याय में - श्रद्धा भी मिथ्या, ज्ञान भी मिथ्या और चारित्र भी मिथ्या। ये एक दूसरे के कारण से नहीं बल्कि स्वयं अपने ही उपादान से मिथ्या हुए और अपने ही उपादान से सम्यक् होते हैं, एक दूसरे के कारण से नहीं। निमित्त-नैमित्तिक भाव भले ही बनता जाता हो! वो अपने आप बनता जाता है, वो कोई बनाया नहीं जाता। लेकिन ये निश्चितरूप में मिथ्या हुए हैं।**

इसलिए जिस समय ये मानता है कि मैं क्रोधी हूँ और क्रोध मेरा कर्म है, तो उस समय आचार्य इसको क्रोधादि का कर्ता कहते हैं। तो उस समय तक, उस अज्ञानदशा तक तो उसे क्रोधादि भावकर्म का कर्ता ही मानो; जड़ का कर्ता तो वो कदापि है ही नहीं। लेकिन क्रोधादि भावकर्म

क्योंकि उसके निकट पैदा होते हैं, उसकी पर्याय में ही पैदा होते हैं, इसलिए उनका कर्ता उसको मानो! जैसे सांख्यमति अकर्ता मानते हैं। उसके ऊपर आचार्य ने कहा कि सांख्य तो आत्मा अकर्ता मानता है। आचार्य कहते हैं कि नहीं! ऐसा नहीं है। जब वो क्रोधादि के साथ तद्‌रूप होकर अपनी कल्पना में परिणमन करता है तो उस अज्ञानी को कर्ता ही मानो और जिस समय वो क्रोधादि से भिन्न अपने शुद्धात्मा का अनुभव करता है, उस समय उसे सर्वथा अकर्ता ही मानो। वहाँ से लेकर वो सदा के लिए, अनंतानंतकाल के लिए, सिद्ध दशा तक वो अकर्ता हो गया।

ये कर्ता-कर्म अधिकार की बातें हैं, वहाँ केवल परिणमन नहीं है। वहाँ परिणमन का अर्थ ही दूसरा है। वहाँ परिणमन का अर्थ है अपनी कल्पना में अपना मानने में तद्‌रूप परिणमन होना। **अज्ञानी अपनी मान्यता में तद्‌रूप होकर परिणमन करता है। तद्‌रूपता होती नहीं है, लेकिन तद्‌रूप होकर अपनी कल्पना में, अपनी मान्यता में परिणमन करता है। तो वो अपने आप को कर्ता मानता है। इसलिए आचार्य भी उसको कर्ता कहते हैं कि तूने अपना नाम कर्ता रखा है, तो हम भी तुझे कर्ता नाम से बोलेंगे।** तूने जो अपना नाम रखा है, उसी नाम से हम तुझे पुकारेंगे। तो तू कर्ता है; कर्ता है अर्थात् पापी है, महापापी है। अकर्ता है अर्थात् महाधर्मात्मा है।

वही पर्याय जो बदली है, क्रोध को भिन्न जानकर शुद्धात्मा में लीन हुई है, जिसे स्वसंवेदन हुआ है, वो अकर्ता परिणाम है, वो स्वसंवेदन है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि वो उस समय से लेकर अनंतकाल तक, अकर्ता ही रहेगा। आत्मा तो अकर्ता है ही लेकिन ये पर्याय भी अकर्ता है। पर्याय बोलती है कि मैं अकर्ता हूँ। मैं अकर्ता भाव की करनेवाली हूँ - ऐसा नहीं। मैं अकर्ता हूँ, इस प्रकार आत्मा के साथ तद्‌रूप होती है।

पहले क्रोध के साथ तद्रूप होकर अपने को क्रोधरूप स्वीकार करती थी, अब आत्मा के साथ, चैतन्य के साथ तद्रूप होकर अपने को अनादि-निरपेक्ष चैतन्य स्वीकार करती है। **इसलिए यहाँ तद्रूपता का नाम कर्ता-कर्म है। तद्रूप परिणमन को ही कर्ता-कर्म कहते हैं। तद्रूप परिणमन अतएव कर्तृकर्म।**

**मुमुक्षु :-** इसलिए द्रव्य तो अनादि-अनंत अकर्ता रहा ही है। खाली तूने परिणमन में ऐसा माना नहीं है?

**पूज्य बाबूजी :-** द्रव्य तो अकर्ता है ही, और पर्याय कर्ता ही रही है अर्थात् ऐसी युक्ति से अपने को क्रोधादिक भाव का कर्ता मानती रही है कि क्योंकि ये मेरे भीतर पैदा होते हैं - जैसे वहाँ कोर्ट में झूठी युक्तियाँ भी तो होती हैं न! उसी तरह ये झूठी युक्ति है कि, क्योंकि ये मेरे भीतर पैदा होते हैं इसलिए मैं इनका कर्ता हूँ। लेकिन अपने भीतर पैदा होने वाले सर्व भाव चैतन्य हों और चैतन्य के हों, ऐसा आवश्यक नहीं है। चेतन से जो मेल खाते हों, चेतन से जिनकी समानता हों - वे चेतन हैं। और मैं अकर्ता हूँ - ये चेतन का भाव है। मैं अपरिणामी हूँ - ये चेतन का भाव है। और मैं परिणामी और कर्ता हूँ - ये अचेतन भाव है।

**मुमुक्षु :-** जड़ भाव है। अचेतन का भाव नहीं, अचेतन भाव है!

**पूज्य बाबूजी :-** अचेतन भाव है। द्रव्य-गुण-पर्याय समझ में आ जाए तो सब समझ में आ जाता है।

**मुमुक्षु :-** इसके लिए बाबूजी यही चर्चा लेते हैं।

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! इसलिए सारा एक क्षण का ही है, क्योंकि वो तो अकर्ता है ही, वो तो अपरिणामी है ही, शुद्ध है ही वो तो! **अकर्ता माने जिसके सिर पर कोई भार नहीं है, निर्भार! जिसके सिर पर कोई काम नहीं है करने के लिए - ऐसा अकर्ता तत्त्व, वो मैं हूँ। तो**

**उसमें सुख रहेगा कि नहीं रहेगा? जिसके सिर पर कोई भार नहीं है वो आनंदित रहेगा कि नहीं रहेगा?** इसलिए वो आत्मा तो आनंद स्वरूप ही है, लेकिन उसे भूलकर, उसे न मानकर, उसका परिचय न करके यह जो जानता आया, यह जो मानता आया कि क्रोधादि मेरे भाव हैं - ऐसा कहने की बात नहीं है। कहे तो सही! कि क्रोधादि भाव मेरे ही कर्म हैं लेकिन माने नहीं कि मेरे कर्म हैं। क्योंकि मेरे कर्म तो वो हैं जो मेरे स्वरूप से मिलते हैं, मेरे स्वभाव से मिलते हैं। मेरे स्वभाव का अनुशीलन करके पैदा होते हों वे मेरे कर्म हैं, जैसे ये ज्ञानादि और सुखादि मेरे कर्म हैं।

## पर्याय अपराधिनी है

**मुमुक्षु :-** लेकिन पर्याय में भी स्वभाव से विपरीत परिणमन तो होता है?

**पूज्य बाबूजी :-** और यहाँ क्यों पड़े हैं? यहाँ क्यों पड़े हैं? इस पर्याय के अपराध के कारण ही पड़े हैं। पर्याय अपराधिनी है, द्रव्य अपराधी नहीं है। द्रव्य सदैव निरपराध है। उसमें अपराध का नाम-ओ-निशान ही नहीं है। ना उसमें कोई आता है, ना वो कहीं जाता है। ध्रुव है एकदम, निष्क्रिय है।

आदतें ही तो खराब होती हैं या मनुष्य बिगड़ता है? मनुष्य बिगड़ता है या मनुष्य की आदत खराब होती है? मनुष्य बिगड़ जाए तब तो वो जो बिगड़ी हुई आदत है वो स्वभाव हुई; वो तो मनुष्यत्व हुआ। लेकिन आदत में तो पाशविकता है। आदत तो पशुता जैसी है, पशुता जैसा व्यवहार है, लेकिन मनुष्य नहीं बिगड़ा है। मनुष्य का जो परिणमन है वो बिगड़ा है, इसलिए वो सुधर जाता है। अरे! मैं तो मनुष्य हूँ न! ये पशुता मेरे में क्यों? ये पशुता मेरी कैसे हो सकती है? बस! बदल गया। अरे!

मैं तो जैन–श्रावक हूँ न! ये रात्रि भोजन मेरे क्यों ? ये आलू, गाजर, टमाटर मेरे क्यों ? ये मेरे खाने लायक हैं क्या ? ये दही–बड़े मेरे खाने लायक हैं क्या ? ऐसा जानते ही वो श्रावकोचित कर्म में आ जाता है। मैं तो मात्र चिन्मात्र हूँ।

**मुमुक्षु :**– पर्याय अपराधी है तो फिर पूरे आत्मा को नरक क्यों भेजा जाता है ? वो तो उसी समय समाप्त हो गई ?

**पूज्य बाबूजी :**– पदार्थ एक ही है तो वो भी नरक जाता है लेकिन उसको नरक से कहाँ डर है ? वो तो एक ही पदार्थ के तीन अवयव हैं। ऐसा थोड़े ही है कि एक अंग तो यहाँ रह जाएगा और बाकी अंग नरक चले जायेंगे। और वो पर्याय तो इनकार ही कर देगी कि जिसने नरक उत्पन्न किया था वो तो है ही नहीं। वो तो गई, वो अभी कहाँ है ? अभी तो मान लो अगर सम्यग्दर्शन के पहले नरक आयु का बन्ध कर लिया तो पहले नरक तो जाना ही पड़ेगा। इसलिए वो पर्याय जिसने नरक आयु का बंध किया था वो तो इस समय नहीं है। इस समय तो आत्मा सम्यग्दृष्टि हो गया, तो पर्याय तो मचलेगी कि गया, मर गया वो तो। अब मुझे कैसे ले जाते हो, जिंदा को ? तो वो आत्मा ही साक्षी है। हाँ! यही है, वो मेरा ही कर्म था, मैं साथ रहूँगा।

एक अंग कट के थोड़ी ही आता है, अगर कोई अपराधी हो तो! किसी ने अँगुली से किसी की छेड़खानी की है तो उसकी अँगुली काट ली जाए। बस! खतम हुआ या उसकी अँगुली को कोई चोट लगा दी जाए। आदमी को क्यों पकड़ा जाता है पूरा ? पूरा अपराधी है ऐसा माना जाता है, लेकिन वहाँ जाकर भी द्रव्य अपराधी नहीं है। द्रव्य को तो तब दिक्कत हो जब नरक का कुछ उसमें प्रवेश हो जाए। तो वो प्रवेश तो होता नहीं है। पर्याय में भी नरक का प्रवेश नहीं है, लेकिन पर्याय ये मान लेती है कि मैं नारकी हूँ, तो वो वहाँ पर नरकोचित कर्म करती है। और वहीं

ये मान लिया जाए कि मैं नारकी नहीं। मैं नरक में नहीं हूँ – आत्मा उसे नहीं कहते कि जो नरक में रहता है। आत्मा कि ये definition (परिभाषा) नहीं है। आत्मा तो उसे कहते हैं जो ज्ञान में रहता है। तो ये बात उसे वहाँ याद आ जाए, तो वहाँ पहले नरक से लेकर सातवें नरक तक सम्यग्दर्शन हो जाता है, अनुभूति हो जाती है।

द्रव्य को क्या डर है? वो इतना स्नेही है, सच में देखा जाए तो पर्याय के साथ इतना स्नेही माने आत्मीयता रखनेवाला है। कारण कहते हैं न, कारण परमात्मा। वो तो कारण परमात्मा है कि कोई समय ऐसा आ जाए कि मैं कारण बन जाऊँ। ये पर्याय मेरी तरफ झाँक ले तो? उस समय अगर मैं नहीं होऊँ तो क्या होगा? और पर्याय तो कभी भी झाँक सकती है जब इसको सुध आ जाए! अभी तो ये गाफिल है। जिस समय इसकी गफलत मिट जाएगी उसी समय ये मेरी तरफ झाँकेगी। तो फिर मैं नारकी हूँ, उसका ये स्वर ही बदल जाएगा। मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ, ये स्वर हो जाएगा सतत्, लगातार। और वो बिगाड़ भी केवल एक समय का है, एक क्षण का है। भूत की पर्यायें गईं, भविष्य की पर्यायें अभी आयीं नहीं। केवल वर्तमान की विद्यमान पर्याय में बिगाड़ है, इतना संसार है।

वर्तमान पर्याय में जो विभाव है, जो विकार है, उसको वर्तमान में ही खतम कर दे, तो उसी समय मोक्ष हो। फिर करणानुयोग के प्रश्न भी नहीं होंगे कि कैसे हो जाएगा? कपड़े पहने होगा? तो कैसे होगा? मुनि नहीं बनेगा? कि वो सब हो जाएगा, तुम उसकी चिंता मत करो। सिर्फ उसकी तरफ देख लो एक बार और उसी में लीन हो जाओ तो फिर सब हो जाएगा जो होना चाहिए। हमको चिंता करने की आवश्यकता नहीं है।

**मुमुक्षु :**– बराबर! बराबर बाबूजी! अद्भुत सिद्धांत मिला बाबूजी कि मनुष्य बिगड़ा नहीं है, आदतें बिगड़ी हुई हैं!

**पूज्य बाबूजी :–** आदत बिगड़ी है इसलिए सुधर जाता है कि – अरे मैं तो मनुष्य हूँ। बस! सुधर गया, हो गया। मैं पशु थोड़े ही हूँ जो पशु जैसा कार्य करता हूँ। इसलिये सुधर जाता है।

श्रावक नहीं बिगड़ा है, श्रावक का कर्म बिगड़ा है। जैन नहीं बिगड़ा है, उसके जैनत्व का जो कर्म है वो बिगड़ा है। जैन तो वो सदा ही है। वरना अगर वो उसका जैनत्व बिगड़ जाए तो फिर वो याद किसको करेगा ? किसको याद करके जैन बनेगा ? क्योंकि वो तो बिगड़ गया था, पर्याय के साथ अगर द्रव्य भी बिगड़ जाए तो! इसलिए वो याद करे तो किसी को तो होना चाहिए न!

**मिथ्यादर्शन के लिए भी आत्मा का शुद्ध होना आवश्यक है क्योंकि आत्मा शुद्ध नहीं होगा तो फिर मिथ्यादर्शन में अशुद्ध किसको कहेगा ? तभी तो मिथ्यादर्शन होगा। शुद्ध को अशुद्ध मानेगा इसका नाम मिथ्या-दर्शन!** शुद्ध की अशुद्ध अनुभूति इसका नाम मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान। इसलिए मिथ्यादर्शन के लिए आत्मा को शुद्ध होना बहुत आवश्यक है, वरना मिथ्यादर्शन ही नहीं होगा।

**मुमुक्षु :–** हम तो ये समझ रहे हैं कि सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा को शुद्ध होने की जरूरत है ?

**पूज्य बाबूजी :–** आत्मा को दोनों की ही जरूरत नहीं। वह तो सदा काल परिपूर्ण है मिथ्यादर्शन के लिए भी आत्मा का शुद्ध होना जरूरी है।

**मुमुक्षु :–** नहीं तो ये अशुद्ध है, इस तरह का मिथ्यादर्शन कैसे हो सकता है ?

**पूज्य बाबूजी :–** कैसे होगा ये ? शुद्ध को अशुद्ध मानेगा उसका नाम मिथ्यादर्शन है। और शुद्ध को शुद्ध मानना वैसी ही अनुभूति करना,

इसका नाम सम्यग्दर्शन है, तो पहले शुद्ध तो होना चाहिए! फिर ये अशुद्ध माने तो मिथ्यादर्शन हो गया। उसी का नाम तो है मिथ्या अर्थात् झूठ है।

## अनुभूति के पूर्व की चिंतन धारा

**मुमुक्षु :-** अद्‌भुत! बात है पर आत्मा की अनुभूति करने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

**पूज्य बाबूजी :-** यही बात हो रही है न!

**मुमुक्षु :-** ये तो स्वाध्याय हो रहा है, लेकिन चिंतन में, भिन्नता में हम क्या करें?

**पूज्य बाबूजी :-** ये स्वाध्याय में जो हो रहा है वही चिंतन में है। स्वाध्याय में जो होता है वही चिंतन में होता है। स्वाध्याय में हम जो ये निर्णायक वार्ता कर रहे हैं.......निर्णायक वार्ता है कोई बीच की वार्ता नहीं है।

ये जो निर्णायक वार्ता है ऐसा का ऐसा चिंतन चले कि मैं शुद्ध हूँ, एकदम परिपूर्ण, अनादि-निधन, अक्षय, अकर्ता, अपरिणामी - ऐसा चिंतन हो और वो भी महिमापूर्वक हो; शुष्क नहीं हो, रोते हुए नहीं हो, प्रसन्नता से हो। **चिंतन में अगर प्रसन्नता नहीं है तो सम्यग्दर्शन होगा ही नहीं, कभी नहीं होगा। और प्रसन्नता अगर कल्पित है, कल्पना से उत्पन्न कर ली है तो भी नहीं होगा** क्योंकि वो ये जानता है कि बहुत मजा आ रहा है, बहुत आनंद आ रहा है आत्मा का चिंतन हो रहा है। तो ऐसे विकल्प करता है केवल, प्रसन्नता नहीं होती। प्रसन्नता हृदय से होती है। अंत:करण से होती है प्रसन्नता मगर उसके बीच में विकल्प नहीं आता है। मैं खा रहा हूँ और स्वाद ले रहा हूँ - इसके बीच में 'मैं खा रहा हूँ' यह नहीं आता है।

**मुमुक्षु :-** बहुत minute बारीक एकदम, बहुत सूक्ष्म बात है।

**पूज्य बाबूजी :-** ये नहीं आता है। ये जो कहा न! अगर ये आ गया तो उधर स्वाद चला जाएगा।

**मुमुक्षु :-** इतने चिंतन में कभी-कभी थोड़ा विकल्प आ जाता है, क्योंकि अभी तो शुरुआत है!

**पूज्य बाबूजी :-** वो जैसी भी भूमिका हो, ये वस्तुस्थिति है। पहले वस्तु व्यवस्था ये है - ऐसा समझना चाहिए। इसके पहले कुछ भी करना माने कोई चिंतन करना, ध्यान करना और कुछ करना वृथा है। जब तक अपने ज्ञान में स्वरूप बिल्कुल एकदम परिशुद्ध न हो; ज्ञान में जब तक स्पष्टरूप से न जानने में आवे, तब तक उसका चिंतन अशुद्ध ही होगा और मिथ्यादर्शन नहीं जाएगा, मिथ्याज्ञान भी नहीं जाएगा। इसलिए सबसे पहले आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना बहुत आवश्यक है। आत्मा का कर्म ज्ञान है, आचार्य को कर्ता-कर्म अधिकार में ये भी कहना पड़ा। अन्यथा तो इस 73 वीं गाथा में क्या कहा ? कर्म जो है उसको तो वहाँ उड़ा दिया और वहाँ भी एक मात्र शुद्ध चैतन्य लिया। लेकिन आत्मा का कर्म राग-द्वेष-मोह नहीं है। आस्रव आत्मा का कर्म नहीं है क्योंकि वो आत्मा से भिन्न हैं - ऐसा कहकर फिर कहा कि तो आत्मा का कर्म क्या है ? ये प्रश्न होगा न ? तो कहा कि आत्मा का कर्म ज्ञान है। इनको जान लेना मात्र ये आत्मा का कर्म है । पर वास्तव में आत्मा का कर्म ये भी नहीं है, क्योंकि आत्मा का कर्म होता ही नहीं है। आत्मा निष्कर्म है, अकर्ता है।

**मुमुक्षु :-** बराबर! व्यवहार ये कि आत्मा का जो काम जानना है, ये भी मतलब से ही कहा है ?

**पूज्य बाबूजी :-** व्यवहार, व्यवहार, वो भी व्यवहार है। मैं ज्ञायक

हूँ यह है निश्चय! मैं चिन्मात्र हूँ यह है निश्चय, परम निश्चय! यहाँ पर्याय का स्वर बदल गया। पर्याय द्रव्य के स्वरूप में बोलने लगी। द्रव्य का स्वर भरने लगी – आत्मा निष्क्रिय है, मतलब उसमें कोई क्रिया नहीं है। क्रिया हो तो कार्य हो और फिर वो कर्ता कहलायेगा। कर्ता कहलायेगा तो भार होगा। **कर्ता अर्थात् जिसके पास कर्म हो.. फिर एक के बाद एक, दूसरा, तीसरा, चौथा ऐसा अनंतकाल तक कर्म ही कर्म जिसके सिर पर है तो वो निश्चिंत कैसे होगा? निर्भार कैसे होगा? इसलिए यदि आत्मा निर्भार है यदि तो उसे अकर्ता तो होना ही चाहिए।**

**मुमुक्षु :-** खुद के लिए जो पुरुषार्थ करते हैं वो भी अकर्तापना हुआ?

**पूज्य बाबूजी :-** खुद के लिए जो पुरुषार्थ करता है वो पहले ये जाने कि – मैं अकर्ता हूँ तो किस तरह हूँ? कैसे हूँ अकर्ता? किसको कहते हैं अकर्ता? पहले ये जाने कि जिसमें परिणाम न हो, परिणमन न हो, क्रिया न हो वो अकर्ता है। जिसके ऊपर कर्म का कोई भार नहीं है, जो निश्चिंत है, सदा एकरूप है, ध्रुव है, उसका नाम आत्मा है। जो परम परणामिकभाव स्वरूप है उसका नाम आत्मा है, वो आत्मा है। अब ज्ञान इस आत्मा के स्वर में बोले तो वो ज्ञान भी अकर्ता है। वो ज्ञान कोई कर्म बनकर आत्मा को जानता है – ऐसा नहीं। वो ज्ञान आत्मा बनकर आत्मा को जानता है।

**मुमुक्षु :-** ज्ञान आत्मा बनकर आत्मा को जानता है?

**पूज्य बाबूजी :-** आत्मा बनकर आत्मा को जानता है, कर्म बनकर नहीं जानता। कर्म बनकर जानता हो, तो फिर वो आत्मा के ऊपर हुआ कि मैं आत्मा को जानता हूँ, तो तू बड़ा है उससे क्योंकि तेरे जाने बिना वो आत्मा, बिल्कुल ugly था एकदम, कुरूप था?

**मुमुक्षु :-** आपने बताया कि निर्णय पक्का होना चाहिए, उसमें बाल

मात्र भी फर्क नहीं होना चाहिए। तो ऐसे शुद्धात्मा का निर्णय कैसे करें? अनुमान और युक्ति से कृपा करके समझाइए!

**पूज्य बाबूजी :-** शुद्धात्मा तो जैसा है वैसा अपन ने काफी इसकी चर्चा की है कि कैसा है? सर्व विभाव रहित, सर्व अन्य द्रव्यों से भिन्न, अपनी पर्याय से भी भिन्न है। अपनी अशुद्ध पर्यायों से तो भिन्न है, लेकिन एक बार जब शुद्ध पर्यायों से भी भिन्न मानेंगे, तभी वो अपरिणामी होगा। अपरिणामी होगा तो अकर्ता होगा। इस तरह अपरिणामी और परम शुद्ध चैतन्य ध्रुव मैं हूँ।

ऐसा जो शुद्धात्मा है, वो उसके स्वरूप को पहले यूँ जाने कि वो सबसे रहित है, माने सबसे! एक ओर वो और दूसरी ओर सम्पूर्ण विश्व कि जिसमें अपना पर्याय समुदाय भी आया, अपने विकार भी आए, अपने कर्म भी आए और सारा जगत ये नोकर्म भी आए, ये सब आ गया। ये सब एक ओर और एक ओर मेरा ध्रुव चैतन्य - इस तरह आत्मा को जाने। इसमें जरा भी विकार नहीं है। जिनवाणी में जो उसे विकारी कहा गया है, वो पर्याय को साथ लेकर कहा गया है क्योंकि एक ओर से देखा जाए तो पर्याय भी उस द्रव्य की ही है। अगर हम वह पर्याय द्रव्य की है - ऐसा नहीं मानेंगे.. नहीं मानेंगे अर्थात् अगर ऐसा नहीं कहेंगे तो उस पर्याय को कोई भी अचेतन झपट ले जाएगा।

**ये तो पाटी है पहली! ये तो वस्तु व्यवस्था को समझने का ये पहला चरण है कि सचमुच राग-द्वेष का कर्ता आत्मा ही है। अगर आत्मा को राग-द्वेष का कर्ता न मानें तो फिर वो जो कर्म है राग-द्वेष, वो किसी दूसरे के पास चला जाएगा और दूसरा उसका कर्ता हो जाएगा, तो आत्मा सदा अकर्ता हो जाएगा। तो ये तो बनेगा नहीं, संभव नहीं होगा क्योंकि वो तो स्पष्टरूप में कर्ता और अज्ञानी दिखाई देता है।**

पहले तो ऐसी वस्तुस्थिति को जाने और फिर इसके बाद ऐसा जाने कि ये जो राग–द्वेष–मोह हैं जिनको मैं अपना कर्म मानता रहा, ये तो आकुलता उत्पन्न करनेवाले दुखमय भाव हैं, जिनको शास्त्र की परिभाषा में आस्रव कहते हैं। आस्रव माने आनेवाला और आकर चला जानेवाला। तो ये भाव आते हैं और चले जाते हैं। अपन यहाँ लोक में भी विकार को आनेवाला और जानेवाला ही कहते हैं। जैसे आँख आ गई, तो कहाँ से आई ? और आँख चली गयी माने अँधा हो गया ? फिर क्या हुआ ? बुखार आया और बुखार चला गया; लोक में भी भाषा ऐसी है, अध्यात्म जैसी भाषा, शास्त्र जैसी भाषा। इस तरह विकार आया, आया माने वो संयोगी है और क्योंकि संयोगी है तो वो जाएगा।

इस तरह सब एक ओर! सारे विभाव आदि सब एक ओर हैं, क्योंकि वे आत्मा से बिल्कुल विपरीत हैं, अनमेल हैं, भिन्न हैं और एक ओर शुद्धात्मा, जो सत्ता स्वरूप है, ज्ञायक जो एक भाव है, ऐसा सत्ता स्वरूप जो परम पारिणामिकभाव स्वरूप चैतन्य है, कारण परमात्मा है वो मैं हूँ। ऐसा पहले पहले युक्ति से जाने ! क्योंकि वो तो ध्रुव है, तो ध्रुव का परिणाम के साथ कोई बनाव नहीं बनता है, कोई समझौता नहीं हो सकता। इसलिए उसका परिणाम के साथ समझौता नहीं है। पहले जो परिणाम के साथ समझौता कराया वो इसलिए कराया था कि यदि वो विभाव का कर्ता अपने आपको मानेगा तो विभाव को दूर करनेवाला भी अपने आप को मानेगा। अगर विभाव का कर्ता अपने को नहीं मानेगा तो विभाव को दूर करनेवाला भी नहीं रहेगा। तो फिर विभाव रह जाएगा और वो अनंत संसारी हो जाएगा। उसमें से भी इतना निकलता है। उसका इतना गंभीर भाव है कि शुरू में ये जाने कि राग–द्वेष मेरे ही भीतर पैदा होते हैं।

ये जो झाड़ियाँ हैं, ये खेत में धान्य के साथ ही पैदा होती हैं। जहाँ

धान्य है वहीं झाड़ी पैदा होगी, लेकिन दोनों कभी भी एक नहीं हुए। तो पहले ऐसा जाने तो कि ये झाड़ी भी पैदा तो यहीं हुई है लेकिन ये धान्य नहीं है, ये चावल नहीं है। इसी तरह ये राग-द्वेष मोह पैदा तो यहीं मेरी पर्याय में हुए हैं। ये कोई पुद्गल की पर्याय में पैदा नहीं हुए, लेकिन पैदा होने पर भी मेरा जो स्वरूप है, मैं जो वास्तव में हूँ, था और रहूँगा - ऐसा जो मेरा त्रैकालिक स्वरूप है उससे ये बिल्कुल न्यारे हैं। क्योंकि जो था, है और रहेगा वो सदा शुद्ध ही होता है। क्योंकि उसमें किसी की मिलावट नहीं होती और सदा एकरूप रहता है।

जब राग-द्वेष-मोह हुए तो वहाँ थम गया और ये जाना कि ये राग-द्वेष-मोह आत्मा से बिल्कुल विपरीत भाव हैं। मेरी आत्मा से बिल्कुल भिन्न भाव हैं, इसलिए ये मैं नहीं हूँ। पहले कहता था कि ये मैं ही हूँ, मेरे ही हैं। रागी-द्वेषी-मोही आत्मा ही है - ये पहला पाठ था । अब दूसरा पाठ ये है कि आत्मा रागी-द्वेषी-मोही होने पर भी राग-द्वेष मोह से आत्मा नाम का जो द्रव्य है, उसका कोई मिलान नहीं होता। ये दोनों विपरीत हैं। दो विपरीत भाव कभी भी एक नहीं होते हैं। उनमें समझौता नहीं हो सकता। इसीलिए राग-द्वेष मोह आत्मा से न्यारे हैं क्योंकि ये आकुलता पैदा करते हैं, इसीलिए न्यारे हैं। तब फिर वो इनसे भी अनासक्त होकर और उधर आत्मा की तरफ झुकता है।

युक्ति, अनुमान और आगम तीनों से निर्णय होता है। ये युक्ति से हुआ न! अब ये अनुमान से हुआ, क्योंकि मुझमें ज्ञान है इसलिए मैं आत्मा हूँ। जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है। जहाँ आत्मा नहीं है, वहाँ ज्ञान भी नहीं है। अचेतन में ज्ञान नहीं है इसीलिए वो आत्मा नहीं है। ये अनुमान से तय हो गया कि मेरे में ज्ञान है इसीलिए मैं आत्मा हूँ, ये अनुमान हुआ। वो थी युक्ति - जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहाँ-वहाँ आत्मा है - ये तो हुआ तर्क - मेरे में ज्ञान है इसीलिए मैं आत्मा हूँ। जहाँ-जहाँ धुआँ

है वहाँ–वहाँ अग्नि है – ये तो हुआ तर्क और मेरे रसोई घर में अग्नि है क्योंकि यहाँ पर धुआँ है – ये अनुमान हुआ।

अब आगम से जाने। सत्य आगम की परीक्षा करे और उससे जाने, तो सचमुच आँख खुल जाती है। इसलिए युक्ति से, अनुमान से, आगम से पहले आत्मा जाना जाता है। सद्गुरु के उपदेश को आगम समझ लेना। वहाँ आत्मा का स्वरूप जानने में आया इसके बाद उसके चिंतन में प्रसन्न भाव से तन्मय होता है – चारों ओर उपद्रव हों, उपसर्ग हों, कुछ भी हो माने कैसी भी परिस्थिति हो, लेकिन ये उस समय यदि वो चिंतन वास्तविक है और आत्मानुभव में परिणमित होनेवाला है, तो फिर ये किसी भी परिस्थिति के सामने झुकता नहीं है। मतलब ये कि इसके सामने परिस्थिति नाम की कोई चीज ही नहीं है, वस्तु ही नहीं है क्योंकि परिस्थिति मेरा क्या करेगी ? निर्णय तो इसने ये किया है! किसी भी परिस्थिति में अगर मैं प्रलय में भी बह जाऊँ और मुझे सम्यग्दर्शन हो, तो मेरे सम्यग्दर्शन को प्रलय क्या लूटेगा ? क्या बहायेगा ? मेरी अनुभूति को कैसे बहा सकता है – इस तरह (आत्मार्थी) जानता है।

## उपयोग लक्षण से आत्मा का निर्णय

**मुमुक्षु :**–प्रश्न है – जीवतत्त्व का निर्णय करने के लिए उपयोग लक्षण से कथंचित् भिन्न लेना या अभिन्न ?

**पूज्य बाबूजी :**– जीवतत्त्व का निर्णय करने के लिए उपयोग लक्षण से युक्त लेना। भिन्न नहीं लेना। उससे युक्त लेना क्योंकि ये उपयोग अर्थात् ज्ञानक्रिया, जानन–क्रिया मुझमें प्रतिसमय चल रही है, इसलिए मैं जीवतत्त्व हूँ। इसलिए मैं जीव नाम का तत्त्व हूँ – ऐसा उससे युक्त लेना।

**मुमुक्षु :**– दूसरा प्रश्न था उसमें कि कथंचित् अभिन्न लेना ? कथंचित् भिन्न लेना या सर्वथा भिन्न लेना ?

**पूज्य बाबूजी :**– नहीं! सर्वथा अभिन्न लेना। जीव का जहाँ निश्चय करना है तो वहाँ ज्ञान-क्रिया को आत्मा से सर्वथा अभिन्न लेना तब निर्णय होगा। कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न में उलझ जाएगा तो वो निर्णय ही नहीं होगा, क्योंकि लक्षण और लक्ष्य सर्वथा अभिन्न होते हैं।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! यहाँ 'सर्वथा अभिन्न' का मतलब क्या?

**पूज्य बाबूजी :**– अभिन्न माने मेरे में ज्ञान है इसलिए मैं आत्मा हूँ। माने ज्ञानमय आत्मा हूँ मैं – यह अभिन्न हुआ।

**मुमुक्षु :**– तो ये तो अनंत गुणमय आत्मा ही हुआ न?

**पूज्य बाबूजी :**– अनंत गुणमय तो है ही। यहाँ तो ज्ञान पर्याय की बात करते हैं।

**मुमुक्षु :**– उपयोग लक्षण से ही कथंचित् भिन्न लेना कि कथंचित् अभिन्न लेना?

**पूज्य बाबूजी :**– अभिन्न लेना! पहले आत्मा को जानने के लिए, आत्मा की सत्ता स्वीकार करने के लिए अभिन्न लेना। और उपयोग को तो आत्मा ही कहा है, उससे भिन्नत्व का क्या सवाल है? हाँ! वो जानन-क्रिया से भिन्न है आत्मा क्योंकि जानन-क्रियारूप नहीं है। आत्मा तो जाननभाव स्वरूप, जाननभाव का केन्द्र-कोष, ज्ञानगुण से युक्त है; लेकिन जानन-क्रिया आत्मा में नहीं है।

जहाँ कोई इस तरह का प्रश्न होता है कि जैसे वो क्रोधादि का कर्ता नहीं है और घट आदि का कर्ता नहीं है, तो फिर किसका कर्ता है? कि तो वो ज्ञान का कर्ता है, जाननभाव का कर्ता है – ये उत्तर आता है। लेकिन जाननभाव का कर्ता हूँ यहाँ रुक नहीं जाता। इससे आगे बढ़ता

है और जाननभाव से मैं ज्ञायक हूँ बस! वहाँ पहुँच जाता है। ये वास्तविक रीति है।

जाननभाव क्या है? जाननभाव बस ये कि ये राग-द्वेष-मोह मेरे नहीं हैं। यदि इसमें रुक गया तो आत्मा तक पहुँचकर उसकी उपलब्धि कैसे होगी? वो तो राग-द्वेष-मोह को जानने में लग गया तो वहाँ से सड़ान की बू आएगी। इसलिए ये मेरे नहीं है ऐसा कहकर एकदम turn (घूम) लेता है कि मैं तो चिन्मात्र ज्ञायक हूँ।

**मुमुक्षु :-** आपने ये कहा कि उपयोग को सर्वथा अभिन्न लेना और जानन-क्रिया को भिन्न लेना?

**पूज्य बाबूजी :-** वो जानन-क्रिया ही उपयोग है। जानन-क्रिया वो नहीं है जो उस गाथा में आया कि उपयोग में उपयोग है - उसमें तो उपयोग वो आत्मा ही है। उसमें तो उपयोग को आत्मा ही कहा क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है - आचार्य ने ये प्रक्रिया सर्वत्र ही ली है न! ज्ञानमय, ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व है वो मैं हूँ। ये ज्ञान है सो मैं हूँ - इस तरह से बताया है। इसलिए अभिन्न ही लेना। भिन्न तो उस समय लेना कि जिस समय क्रिया की बात, परिणाम की बात आई! परिणाम की बात आवे उस समय भिन्न है। उसमें जानन-क्रिया भी आ गई। उसमें राग नहीं है।

**मुमुक्षु :-** उपयोग शब्द का अर्थ ये भी है कि वो आत्मा है?

**पूज्य बाबूजी :-** आत्मा है।

**मुमुक्षु :-** हाँ, तो ज्ञानस्वरूप है तो वो सर्वथा अभिन्न लेना। पर क्रिया की बात आ गई तो सर्वथा भिन्न लेना।

**पूज्य बाबूजी :-** भिन्न ही लेना।

**मुमुक्षु :-** उपयोग शब्द और जानन-क्रिया इन दोनों शब्दों में इतना फर्क महसूस नहीं होता। जब उपयोग बोलते हैं तब दोनों एक लगते हैं ?

**पूज्य बाबूजी :-** नाम एक हैं न! नाम एक हैं, लेकिन भाव दो हैं। अब वहाँ तो भाव भी दो नहीं हैं। वहाँ तो कहते हैं कि आत्मा यहाँ उपयोग में रहता है। आत्मा क्रोध में नहीं रहता है, यहाँ रहता है - ऐसा जानता है। यहाँ, रहता है - ऐसा जानकर इस भाव को पलट देता है, और मैं ज्ञायक हूँ ऐसा जानता है।

**मुमुक्षु :-** बराबर! वहाँ रुकता नहीं है। बहुत सुंदर! यहाँ रहता है उतना जानकर उस भाव को पलट देता है कि मैं ज्ञायक हूँ। ये पलटा देना बहुत मुश्किल लगता है ?

**पूज्य बाबूजी :-** असली चीज तो पलटना ही है।

**मुमुक्षु :-** आप जितनी सरलता से पलटाने की बात कर रहे हैं उस समय तो थोड़ा सा समझ में आ जाता है ?

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं! वो है सरल, लेकिन क्योंकि बहुत उलझा हुआ है न! ऐसा है कि जैसे कर्जा बहुत हो और पास में पैसा भी हो लेकिन नियत खराब हो तो कैसे काम चले ?

**मुमुक्षु :-** बराबर! अरे! कर्जा भी है, पैसा भी है और नियत भी खराब है, ये जवाब बराबर है। अब नहीं पूछेंगे प्रश्न कर्ताबुद्धि का!

## पारिणामिक भाव और परम पारिणामिक भाव

उपयोग पर्यायार्थिकनय का पारिणामिक भाव है। वह जब पर को लक्ष करके जानता है तब पारिणामिकभाव की क्या स्थिति होती है ?

**पूज्य बाबूजी :-** पारिणामिकभाव माने यहाँ पर परिणमन करनेवाला; पारिणामिकभाव माने द्रव्य नहीं। पर्यायार्थिकनय कहा न! पर्यायार्थिकनय

का पारिणामिकभाव माने परिणमन करनेवाला क्योंकि 'सर्व भावा पारिणामिक:' ऐसा वाक्य है। सभी भाव पारिणामिक हैं। चार भाव पारिणामिक हैं इसलिए पाँचवे भाव को परम पारिणामिक कहा। अब वैसे पारिणामिक ही कहते हैं। जहाँ परम लगाने की आवश्यकता नहीं हो, वहाँ पारिणामिक पर्याप्त होता है। लेकिन चार भाव पारिणामिक हैं, मतलब परिणमन करनेवाले हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशम और क्षायिक - ये सब परिणमन करते हैं और वो अपरिणामी है, मैं वो पारिणामिक (परम पारिणामिक) हूँ।

यहाँ तो पर्यायार्थिकनय से पारिणामिकभाव नहीं बताया। पारिणामिक-भाव तो उसका स्वरूप है। जानन-क्रिया पदार्थ का स्वरूप है। वो पदार्थ का स्वरूप है, तो इस ओर से उसे पारिणामिक कह सकते हैं; लेकिन वो पारिणामिक नहीं। त्रिकाल निरावरण जिसको कहते हैं वो ऐसा त्रिकाल परम पारिणामिक नहीं है।

**मुमुक्षु :-** तो इस परम पारिणामिकभाव की क्या स्थिति है? उसका अर्थ ये है कि वो विषय नहीं है।

**पूज्य बाबूजी :-** उस क्रिया में परम पारिणामिक नहीं आएगा। उपयोगरूप जो जानन-क्रिया है उसका कोई परम पारिणामिकभाव है - ऐसा नहीं है । जानन-क्रिया पारिणामिक है क्योंकि परिणमन करता है।

**मुमुक्षु :-** जानन-क्रिया का एक पारिणामिकभाव और दूसरा परम पारिणामिकभाव द्रव्य स्वभाव...

**पूज्य बाबूजी :-** दोनों में बहुत अंतर है। एक अपरिणामी है और एक परिणामी है।

**मुमुक्षु :-** तो उसकी क्या स्थिति है? वो तो वैसा का वैसा ही है, उसका मतलब ये हुआ।

**पूज्य बाबूजी :-** वो तो वही का वही है। वैसा का वैसा तो ये जानन-क्रिया भी हो सकती है। पर वैसा का वैसा तो और भी हो सकते हैं। उत्पन्न होने के बाद श्रद्धा तो वैसी की वैसी रहती है, सम्यग्दर्शन हो जाने पर जो क्षायिक सम्यक्त्व हुआ, वो अनंतानंत काल तक वैसा का वैसा रहता है और ये वही का वही है।

**मुमुक्षु :-** इसलिए इसमें कोई फेरफार नहीं है?

**पूज्य बाबूजी :-** तद्भावरूप से अव्यय है ये! तद्भावरूप से माने वही, वही, वही, वही, वही, वही - इसमें ऐसा लगता है और उस पर्याय में लगेगा वो नहीं, वो नहीं, वह नहीं, वह नहीं, वह नहीं। वही नहीं, वही नहीं, वही नहीं, वही नहीं; द्रव्य में लगेगा वही, वही, वही, वही, वही का वही!

**मुमुक्षु :-** और पर्याय में वैसा का वैसा?

**पूज्य बाबूजी :-** पर्याय में, शुद्ध दशा में वैसा का वैसा हो सकता है, अशुद्ध दशा में नहीं।

**मुमुक्षु :-** परम पारिणामिकभाव तो अपरिणामी है। तो उसको परम पारिणामिकभाव क्यों कहा?

**पूज्य बाबूजी :-** इसीलिए परम पारिणामिक कहा क्योंकि वो अन्य पारिणामिक से भिन्न है, अपरिणामी है, लेकिन अन्य जो पारिणामिक हैं उनसे ये अन्य प्रकार का है इसीलिए इसे परम पारिणामिक कहा। तो परम पारिणामिक कहने से हमें जान लेना चाहिए कि ये उन पारिणामिक से भिन्न है अर्थात् अपरिणामी है।

**मुमुक्षु :-** आहा! और मेरे लिए परम है।

**पूज्य बाबूजी :-** जैसे कि तत्त्व और परम तत्त्व। तो तत्त्व में तो

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये आ जाते हैं और परम तत्त्व में शुद्ध जीवास्तिकाय आता है। वो सात तत्त्व से भिन्न हो जाता है।

**मुमुक्षु :**– पर्याय का पारिणामिकभाव क्या होता है?

**पूज्य बाबूजी :**– पर्याय का पारिणामिक अर्थात् बदलना, पर्याय का परिणमन होना वो पारिणामिक है।

**मुमुक्षु :**– माने परिणमन हुए बिना रहे नहीं, वो उसका पारिणामिक भाव होता है?

**पूज्य बाबूजी :– वो उसका पारिणामिक भाव है। वो पारिणामिक कहलाता है – पारिणामिकभाव कोई अलग से नहीं होता है, पर वो पारिणामिक कहलाता है, क्योंकि वो परिणमन करता है। जानन–क्रिया भी पारिणामिक है, परिणमन करती है।** परम–पारिणामिक से ये सब न्यारे हैं, बिल्कुल न्यारे हैं क्योंकि ये नये–नये उत्पन्न होते हैं। जो परम पारिणामिक है वो वही का वही है। उसमें कभी भी बदलाव नहीं होता, वो द्रव्य ही है – परम पारिणामिक माने द्रव्य, शुद्धात्म तत्त्व।

**मुमुक्षु :**– तो बाबूजी ये पर्याय का पारिणामिकभाव किस तरह से प्रयोजनभूत है?

**पूज्य बाबूजी :**– पर्याय का पारिणामिकभाव क्या होता है कि परिणमन करना वही है बस पारिणामिक। उसको पारिणामिक कहते हैं। उसका कोई पारिणामिकभाव अलग से नहीं है। वो तो द्रव्यत्व गुण है उसका, वो द्रव्यत्व गुण है कि जिसके सहारे से वो प्रतिसमय परिणमन करता है। सामान्य गुणों में द्रव्यत्व गुण है न! तो वो परिणमन करता है।

षट्गुणी हानि–वृद्धि और इसके साथ में वो भिन्न पर्याय है, लेकिन

वो पर्याय में ही है। वो पर्याय के साथ ही अभेद है चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध हो, लेकिन हर पर्याय में षट्गुणी हानि-वृद्धि होती है, संसार दशा में और सिद्ध दशा सब में और अगुरुलघुत्व नाम का सामान्य गुण उसका हेतु है - वो अगुरुलघुत्व का ही प्रकार है। अगुरुलघुत्व एक तो सामान्य गुण है। एक अगुरुलघुत्व नाम-कर्म होता है और एक अगुरुलघुत्व जो है, वो गोत्र-कर्म होता है; जो गोत्र-कर्म के अभाव में अगुरुलघुत्व गुण सिद्धों को पर्याय में प्रगट होता है। इस प्रकार ये तीन होते हैं।

अगुरुलघुत्व नाम के सामान्य गुण की पर्याय षट्गुणी हानि-वृद्धि में निमित्त होती है, अर्थात् एक ही समय में छह गुणी हानि और छह गुणी वृद्धि और पदार्थ का ज्यों का त्यों रहना, वैसा का वैसा, वही का वही; माने उसमें गुरुता और लघुता नहीं होना। पर्याय में गुरुता-लघुता होने पर भी जो द्रव्य है, वो वही का वही रहता है और पर्याय भी पूरी रहती है। षट्गुणी हानि-वृद्धि हो जाती है और पर्याय पूरी रहती है।

जैसे समुद्र में ज्वार आया फिर भाटा आया, माने tides; और समुद्र वही का वही रहा। माने जिस समय वो ज्वार आया उस समय वो समुद्र बड़ा नहीं है और जिस समय भाटा आया उस समय वो घटा नहीं है, लेकिन वो पर्याय भी पूरी है।

षट्गुण हानि-वृद्धि हर पर्याय में होती है। वो पर्याय उसमयी है। भले मिथ्यात्व की पर्याय हो लेकिन वो षट्गुणी हानि-वृद्धि की पर्याय उसमय है, इसलिए सब गुणों की पर्याय में ये षट्गुणी हानि-वृद्धि होती है। और उसका निमित्त जो है वो अगुरुलघुत्व गुण की पर्याय है, जो सामान्य गुण है।

**मुमुक्षु :-** छह प्रकार के विभाग हैं?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! बारह प्रकार के हो गए न, हानि और वृद्धि।

## द्रव्य और गुणों का परिणामी और अपरिणामी स्वरूप

**मुमुक्षु :**- जीव द्रव्य के गुण शुद्ध हैं, फिर भी पर्याय अशुद्ध होती है। जीव में या उसके ऐसे कौन से गुण में ऐसी शक्ति है कि उसकी पर्याय अशुद्ध हो सके? (और) उस शक्ति का सिद्ध अवस्था में क्या स्वरूप रहता है?

**बाबूजी :**- जीव में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि उसमें विकार हो, क्योंकि सारे गुण शुद्ध हैं। लेकिन ये बताने के लिए कि ये जो पर्याय है ये कौन से गुण की है, कौन से गुण से मिलती है - ये पर्याय कौन से गुण के कार्य को प्रगट करती है, ये बताने के लिए उसको उस गुण की पर्याय कहा जाता है। है भी उस गुण की पर्याय लेकिन गुण स्वयं परिणमन नहीं करता। परिणमन पर्याय में ही होता है, गुण में परिणमन नहीं होता है। लेकिन वो उस गुण का कार्य क्या है - ये पर्याय में व्यक्त होता है, ये पर्याय में जाना जाता है। इस तरह हर गुण की पर्याय को कहा है और उस पर्याय से उस गुण का पता चलता है कि मेरी पर्याय के पीछे ये ऐसी एक अनंत शक्ति पड़ी है जो कभी कम और अधिक नहीं होती। षट्गुणी हानि-वृद्धि गुणों में नहीं होती, द्रव्य में नहीं होती, वो भी अगुरुलघुत्व गुण के कारण से पर्याय में होती है।

**मुमुक्षु :**- यानि वर्तमान पर्याय से गुण अछूता है?

**पूज्य बाबूजी :**- अछूता है। हाँ! कथंचित् अछूता है। बिल्कुल न्यारा मान लेंगे क्या? बिल्कुल न्यारा मान लेंगे तो दो द्रव्य हो जायेंगे न!

**मुमुक्षु :**- कहने में तो ये आता है कि श्रद्धा गुण का परिणमन, ज्ञान गुण का परिणमन! पर गुण तो अपरिणामी है, फिर ऐसा क्यों कहा जाता है?

**पूज्य बाबूजी :- फिर अनेकांत का क्या होगा? पहले ये कहते**

**हैं कि गुण परिणमन करता है और फिर कहते हैं कि गुण परिणमन नहीं करता है - ये दोनों बात अनेकांत में आ जायेंगी। भाई! अनेकांत ऐसे समय में ही तो रक्षा करता है कि तुमने पहले तो ये कहा था न कि आत्मा ही रागी-द्वेषी है। अब कहते हो कि राग-द्वेष पुद्‌गल के हैं।** तो कहते हैं कि हमारा अनेकांत है उसकी ध्वजा हमेशा ऐसी लहराती है। वो कभी चुनौती नहीं पाता है। उसकी जो अपेक्षायें हैं, उसके जो angle हैं, वो angle तुम समझते नहीं हो कि हम कौनसे angle से बोले!

हमने एक व्यक्ति को अनेक नामों से पुकारा तो उसमें एक-एक angle से उसको पुकारते हैं। उसको पिता पुकारते हैं तो वो पुत्र की ओर से पुकारते हैं। उसको पति पुकारते हैं तो पत्नी की ओर से पुकारते हैं। उसे मामा, काका, भांजा, जो कुछ भी हो, ये इतने धर्म उसके भीतर हैं। तो ये angle हैं सारे के सारे कि एक व्यक्ति इतने अनेकरूप हो सकता है, लेकिन उसके angle हैं। **इसी तरह से अनेकांत के angle होते हैं और हम द्रव्य को उस ओर से पुकारते हैं कि द्रव्य परिणामी भी है और अपरिणामी भी है। इसलिए दोनों में से हम selection ( चुनाव ) करेंगे तो वास्तव में अपरिणामी है। लेकिन अगर परिणामी नहीं कहेंगे तो परिणाम किसी दूसरे के घर चला जाएगा और आत्मा परिणामहीन होकर शून्य हो जाएगा।**

**मुमुक्षु :-** वास्तव में हम selection (चुनाव) करेंगे तो अपरिणामी का करेंगे।

**पूज्य बाबूजी :-** जब उसका स्वरूप जानेंगे तो अपरिणामी सिद्ध हो जाएगा। और यदि वो द्रव्य भी परिणमन करने लगे और पर्याय भी परिणमन करने लगे तो दोनों में क्या अंतर रहा? दोनों ही पर्याय हुए। फिर द्रव्य कहाँ रहा? और अपरिणामी में हमारा कल्याण है, परिणामी

में कल्याण नहीं है क्योंकि परिणाम जो है वो तो पर्याय है और द्रव्य परिणामी है – ऐसा कहने में भी परिणाम की याद आती है। तो परिणामी कहने में कोई ऐसा अनर्थ नहीं है लेकिन उसे परिणामी मत बोलो, अपरिणामी बोलो तो परिणाम से दृष्टि हट जाएगी और परिणामी कहते ही परिणाम की याद आएगी। पर्याय परिणाम है, परिणामी नहीं – ऐसा बोला तो परिणामी नहीं है; माने हमने परिणामी बोला तो तुरंत परिणाम की याद आ जाएगी। इसलिए वास्तव में अपरिणामी है – तब फिर परिणाम मात्र एक ओर रह जाता है और वो फिर द्रव्य बनकर आता है।

**मुमुक्षु :**– परिणाम मात्र एक ओर हो जाता है और फिर द्रव्य बनकर आता है।

**पूज्य बाबूजी :**– वो द्रव्य बनकर आता है। जब वास्तविक दशा उत्पन्न होती है, तो द्रव्य बनकर आता है, मैं तो चिन्मात्र ज्ञायक हूँ, वो द्रव्य बन गया!

**मुमुक्षु :**– पर्याय मात्र को परिणाम कहो, परिणामी मत कहो – ये कहना है?

**पूज्य बाबूजी :**– परिणामी द्रव्य को कहते हैं। लेकिन परिणामी कहने से परिणाम की याद आती है, इसलिए अपरिणामी कहो और वही उसका वास्तविक स्वरूप भी है।

**मुमुक्षु :**– परिणामी कहता है कि मैं अपरिणामी हूँ। द्रव्य को परिणामी कहा कि पर्याय को?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! ये पर्याय बोली। अपरिणामी बोलता नहीं है। अपरिणामी बोले तो वो तो परिणामी हो जाए।

**मुमुक्षु :**– तो फिर परिणामी शब्द क्यों बोला? पर्याय – ऐसा शब्द क्यों नहीं बोला?

**पूज्य बाबूजी :-** परिणामी नहीं बोले तो वो पर्याय द्रव्य से बिल्कुल अलग हो जाएगी और द्रव्य से अलग होकर टूट जाएगी, तो द्रव्य का ही नाश हो जाएगा। इसलिए पहली बार में तो परिणामी बोलना पड़ेगा, बल्कि ऐसा जानना चाहिये। जानना चाहिए, मानना चाहिए भी कहते हैं कि पहले इसको परिणामी ही मानना चाहिए क्योंकि द्रव्य-गुण-पर्याय को जब तक नहीं समझेगा तब तक फिर उसमें से selection (चुनाव) नहीं होगा।

**मुमुक्षु :-** बहुत सुंदर! पहले उसको परिणामी ही मानना चाहिए क्योंकि द्रव्य-गुण-पर्याय प्रमाण की सत्ता को स्वीकार करना चाहिए!

**पूज्य बाबूजी :-** स्वीकार करना चाहिए। पहले प्रमाण को स्वीकार करे और उसके बाद उसमें से selection (चुनाव) करे।

**मुमुक्षु :-** परिणामी कहने से अनुभव की प्रक्रिया में आ गया न?

**पूज्य बाबूजी :-** आ सकता है यदि आसन्न-भव्य हो तो!

**मुमुक्षु :-** आ गया नहीं, आ सकता है।

**पूज्य बाबूजी :-** लेकिन अपरिणामी मानकर ही आएगा! परिणामी को भी अपरिणामी मानकर ही आएगा, परिणामी मानकर नहीं आएगा।

**मुमुक्षु :-** इन दोनों शब्दों की रमत से बहुत सूक्ष्म बात अंदर से बाहर आ जाती है। पर्याय को परिणाम कहो और यदि द्रव्य को परिणामी कहते हो तो परिणाम की बू आ जाती है; तो अपरिणामी जानो!

**पूज्य बाबूजी :-** अपरिणामी जानो और वास्तव में वो अपरिणामी है।

**मुमुक्षु :-** हमें तो ये तीन शब्दों का कोई ज्यादा फरक महसूस नहीं होता?

**पूज्य बाबूजी :-** फरक है इसलिए वो शब्द बने हैं।

## पाँच समवाय

**मुमुक्षु :**–पाँच समवाय में से पुरुषार्थ को ही मुख्यता दी जाती है। तो बाकी के समवाय की, जैसे कि निमित्त की हाजिरी वगैरह का क्या योगदान है? योगदान न हो तो समवाय कैसे कहलाये?

**पूज्य बाबूजी :**– योगदान भी नहीं है और वे होते भी हैं – दोनों बात हैं। निमित्त का कोई योगदान नहीं है लेकिन निमित्त का योग अवश्य होता है। योगदान नहीं होता।

**मुमुक्षु :**– मात्र योग होता है तो उसको समवाय में क्यों गिना?

**पूज्य बाबूजी :**– समवाय में इसलिए गिना कि वो होता है। काम ऐसी परिस्थिति में होता है, ज्ञानी इस बात को जानता है क्योंकि वो तो जाननेवाला है इसलिए हर बात को जानेगा। तो ऐसी परिस्थिति में कार्य होता है ये ज्ञान को बताना आवश्यक है। लेकिन ये बताना भी आवश्यक है कि उस परिस्थिति का असर नहीं होता है।

**मुमुक्षु :**– बहुत सुंदर! बाकी के समवाय होते भी तो हैं न!

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! होते हैं, तो सबको कहा है न! जो होते हैं उनको सबको कहा है, पर प्रधानता पुरुषार्थ की है। **क्योंकि ये पहले सारा का सारा मिथ्या पुरुषार्थ कर रहा था न! उसमें भी प्रतिसमय पुरुषार्थ था क्योंकि गलत रास्ते जाने पर भी आखिर श्रम तो उतना ही होता है। लेकिन सही रास्ते जाने पर श्रम तो होता ही है लेकिन प्रसन्नता भी होती है।**

**मुमुक्षु :**– क्योंकि सुख का फल आ जाता है न!

**पूज्य बाबूजी :**– सुख का फल आ जाता है उसको, सही का फल आ जाता है। इसलिए श्रम तो होता ही है, पर थकान महसूस नहीं होती।

**पूज्य बाबूजी :-** अब ये जो सही रास्ते का श्रम कर रहा है, तो सही रास्ते में ये घबराता इसलिए नहीं है कि मेरे कदम जिस तरह से बढ़ने हैं, उसी तरह से बढ़ेंगे। इसलिए इसको बार-बार ये नहीं आता कि कब आएगा, कब आएगा, कब आएगा ? ऐसा चिंतातुर नहीं होता, ऐसी घबराहट नहीं होती। और ये जानता है कि वो तो इतने बजे आएगा। इतने बजे आएगा – ये जानकर निश्चिंत हो जाता है और उसका चलना जो है वो स्वाभाविकरूप से और प्रसन्नतापूर्वक चलता रहता है। तो वो जो पुरुषार्थ है, उसके साथ काललब्धि भी आई कि नहीं आई ? चलेगा जरूर और उसमें श्रम होगा, वो तो पुरुषार्थ है। लेकिन वो श्रम करने पर भी उसे यदि चार बजे पहुँचना है तो वो चार बजे ही पहुँचेगा। चार बजे के पहले और चार बजे के पीछे नहीं, इसका नाम काललब्धि है।

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 17

(10 फरवरी 1999)

***इस चर्चा में उपयोग लक्षण का स्वरूप, आत्मा की महिमा कैसे हो, पर्याय का हेयत्व आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।***

**मुमुक्षु :**- उपयोग के बारे में उसकी थोड़ी सविशेष जानकारी चाहते हैं वो कि....कल का प्रश्न था उपयोग जो है, वह पर्यायार्थिकनय का पारिणामिकभाव है। वह जब पर को लक्ष करके जानता है तब पारिणामिकभाव की क्या स्थिति रहती है - वो कल का प्रश्न था।

## उपयोग लक्षण से आत्मा की प्रसिद्धि

इसके बाद का प्रश्न है कि पर्यायार्थिकनय का पारिणामिकभाव जो उपयोग है वह तो आत्मा का लक्षण है। तो वह उपयोग आत्मा को किस प्रकार प्रसिद्ध करता है ?

**पूज्य बाबूजी :**- पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उपयोग पारिणामिक-भाव है।

कल बात आई थी कि उपशम-क्षयोपशम इत्यादि चारों ही भाव पर्यायार्थिकनय के विषय हैं तो सभी पारिणामिक कहलाते हैं। '**सर्व भावा पारिणामिकः**' - ऐसा कहलाता है और इनकी अपेक्षा जो पाँचवा भाव है, ये परमपरिणामिक कहलाता है।

उपयोग जो स्वयं पर्याय है, तो वो आत्मा का लक्षण होती है क्योंकि गुण और द्रव्य ये लक्षण नहीं होते क्योंकि ये नित्य हैं। जो परिणमन

करता है, कार्यरूप होता है, क्रियारूप होता है वो लक्षण होता है। इसलिए उपयोग क्रियारूप, कर्मरूप, कार्यरूप होने से उस आत्मा का लक्षण बनता है और उपयोग माने ज्ञान-क्रिया। मैं जानता हूँ, इससे आत्मा जाना जाता है। मैं जानता हूँ, मैं जाननेवाला हूँ, मेरे में जानना है इसलिए मैं आत्मा हूँ। इस तरह उपयोग के द्वारा आत्मा जान लिया जाता है। उपयोग के सिवाय, ज्ञान के सिवाय दूसरा कोई लक्षण नहीं बनता और परिणमन करनेवाला ही लक्षण कहा जाता है।

गुण और द्रव्य अपरिणामी है, इसलिये वे लक्षण नहीं बनते। कैसे बनेंगे ? क्योंकि कार्य ही नहीं दिखाई देगा। जब कार्य नहीं दिखाई देगा तो हम लक्षण कैसे बनायेंगे ? और उससे लक्ष्य की प्रसिद्धि कैसे होगी ? इसलिए उपयोग परिणमनशील होने से भले ही पारिणामिकभाव हो, लेकिन वो आत्मा का लक्षण है और उससे आत्मा अपने को भी पहचानता है और अन्य को भी जानता है।

**मुमुक्षु :**- पानी के दृष्टांत से सोचा जाए कि त्रिकाल सदैव द्रव्यस्वभाव सर्वथा शीतल है और पर्याय स्वभाव भी शीतल हैं, क्या पानी की अवस्था का शीतल स्वभाव, वो भी क्या अनादि-अनंत हो सकता है या नहीं हो सकता ?

**पूज्य बाबूजी :**- पानी तो खाली एक दृष्टांत है। वो तो पुद्गल का एक स्कंध है। इसलिए वो दृष्टांत के रूप में दिया जाता है। लेकिन यहाँ जो उपयोग है, क्योंकि वो परिणमनशील है, प्रतिसमय परिणमन करता है। जो परिणमन करता है उसी में कार्य होता है और कार्य से ही हम उसके कर्ता होने की पहचान करते हैं। इसलिए क्योंकि जानने का कार्य उपयोग में होता है तो हम उससे ये जानते हैं कि इसके पीछे जाननेवाला कोई ध्रुव पड़ा है। इस तरह से उसे पहचानते हैं।

अब ज्ञान और अज्ञान का ऐसा प्रश्न हो सकता है कि ज्ञानदशा में

उपयोग की स्थिति कुछ और होती है और अज्ञान दशा में स्थिति और होती है। लेकिन वो यहाँ नहीं लेना है, क्योंकि उपयोग में सदा ही कुछ न कुछ ज्ञान कि विकासरूप दशा रहती है। ज्ञान कभी भी संपूर्णरूप से आवृत्त नहीं होता, लेकिन कुछ न कुछ विकास उसमें हमेशा ही रहता है। इसलिए उपयोग अनादि-निधन है वैसे देखा जाए तो, प्रवाह की अपेक्षा से! **और भले ही ज्ञान या अज्ञान दशा हो, लेकिन फिर भी वो जानता है। मिथ्या जानता है तो भी जानता है और सम्यक् जानता है तो भी जानता है। इसलिए दोनों में जो जानना है, वो विराम नहीं पाता, वो समाप्त नहीं होता।**

जैसे प्रकाश है न! तो प्रकाश एक तो बिल्कुल श्वेत प्रकाश हो और एक जो है वो किसी रंगीन चीज को साथ में लेकर वो प्रकाश प्रकाशित हो। वो रंगीन प्रकाश भी दिखाई देता है। रंगीन होने पर भी हम ये जानते हैं कि प्रकाश है। उसी तरह ज्ञान मिथ्या होने पर भी और पदार्थों को सही नहीं जानने पर भी, स्व-पर का भेद नहीं होने पर भी ये अच्छी तरह जान लिया जाता है कि ये जानना है अर्थात् ज्ञान है अर्थात् उपयोग है। तो इसके पीछे कोई द्रव्य जरूर होना चाहिए और वो चैतन्य द्रव्य है, वो आत्मा है। **इसलिए भले ही जानना कभी मिथ्या हो! मिथ्या है तो भी वो जान तो रहा है न! गलत जाने ये एक अलग बात है, पर जान रहा है - इस बात में कोई आपत्ति कभी नहीं बन सकती। और वो जानना कभी भी समाप्त नहीं होता, इसलिए उससे आत्मा पहचाना जाता है।**

जैसे केवलज्ञान है, उससे भगवान सिद्ध पहचाने जाते हैं। केवलज्ञान भी उपयोग है। पाँचों ज्ञान जो हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल उन पाँचों का नाम उपयोग है। वहाँ भी हर जगह इस ज्ञान से ही आत्मा पहचाना जाता है। वो चाहे गलत जाने या वो सही जाने, पर जानना उसमें

बराबर विद्यमान है। इसलिए उससे आत्मा पहचान लिया जाता है और वो आत्मा का लक्षण है। जहाँ जानना पाया जाता है वहीं आत्मा पाया जाता है। इस तरह से आत्मा की स्थिति सिद्ध हो जाती है। उपयोग से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

**मुमुक्षु :-** आपने अभी फरमाया कि उपयोग अनादि-अनंत जाननभावरूप, प्रवाहरूप रहता है। तो इसका अर्थ क्या है?

**पूज्य बाबूजी :-** एक के बाद एक पर्याय का जो प्रवाह होता है न! एक के बाद एक पर्याय जिसको आयत-सामान्य जिसको कहते हैं एक के बाद दूसरी, दूसरे के बाद तीसरी इस तरह अनादिकाल से अनंतकाल तक ये पर्याय का प्रवाह चलता ही रहेगा। इसलिए हम जब भी आत्मा को पहचानना चाहें तो उसके द्वारा पहचान सकते हैं, क्योंकि ये कहा न कि हर जीव ये जानता है कि मैं जानता हूँ। अब वो सही तो नहीं जानता, मिथ्या जानता है। **जगत के अधिकांश प्राणी तो मिथ्या ही जानते हैं, लेकिन मिथ्या जानने पर भी जानने का अभाव नहीं होता।**

जैसे अचेतन है, उसमें जानने का अभाव है, उस तरह यहाँ जानने का अभाव नहीं है। गलत जानता है तो भी ये जानता तो है न! गलत जानता है तो भी वो जानना सही भी हो सकता है, वो बात अलग है, पर जानने का कार्य समाप्त नहीं होता। इसलिए हर समय आत्मा उस जाननभाव से, जानन-क्रिया से, जानन कर्म से आत्मा पहचाना जा सकता है। इसलिए उपयोग ही आत्मा का लक्षण है, ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है।

**मुमुक्षु :-** माने उपयोग भले एक समय में हो, और दूसरे समय में दूसरा?

**पूज्य बाबूजी :-** एक समयवर्ती ही होता है। दूसरे समय में दूसरे प्रकार का, वो प्रतिभास तो अनेक प्रकार के होंगे।

**मुमुक्षु :**– नहीं! सामान्य भाव से जो उपयोग एक समय का उत्पाद-व्ययरूप होता है। उसमें जो अनादि-अनंतपना बताया?

**पूज्य बाबूजी :**– प्रवाह अनादि से चला आ रहा है न! एक-एक पर्याय करके ये प्रवाह अनंतकाल तक चलेगा। द्रव्य की तरह नहीं। द्रव्य सामान्य जो है, वो तो बिल्कुल एकरूप चलेगा। ये चलेगा न्यारा-न्यारा भिन्न-भिन्न प्रकार का, लेकिन चलेगा अवश्य। एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, उसमें कभी भी व्यवधान नहीं होगा अर्थात् उपयोग सदा ही आत्मा में उपस्थित रहेगा, इसलिए जो कोई जीव इस उपयोग के द्वारा आत्मा को जानना चाहे तो वो जान सकता है कि मैं जाननेवाला हूँ –मैं जानता हूँ, इसलिए मैं जाननेवाला हूँ। वही पर्यायार्थिक नय का पारिणामिकपना है। वो धारावाहिकतारूप है। धारावाहिक माने एक-एक करके! वहाँ जो द्रव्य की एकरूप धारावाहिकता है वो नहीं लेना।

**मुमुक्षु :**– क्रम अनुसार?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! ये अनेकरूपता है तो एक के बाद एक होने से ये भी अनन्त प्रवाहरूप है।

**मुमुक्षु :**– सभी पर्यायों में सामान्यरूप से जानना होता ही होता है और वो ही उसका पर्यायार्थिकनय का पारिणामिकभाव है। हर एक पर्याय के अंदर जाननभावरूप परिणमन रहता ही है। भले पर्याय बदल जाए, उपयोग बदलता जाए फिर भी जाननभावरूप जो भाव है वो हर एक पर्याय में constant (सतत्) अनादि-अनंत रहता है। वही पर्याय का पारिणामिकभाव कहा गया है?

**पूज्य बाबूजी :**– पारिणामिक माने स्वाभाविक है, उसका स्वभाव निरपेक्ष है।

**मुमुक्षु :**– जीव द्रव्य की....वर्तमान ज्ञान की पर्याय यदि जीव द्रव्य का लक्षण है, तो अनादि–अनंत क्रमिकरूप से जो विद्यमान है, तो उसको ध्यान के विषय में क्यों नहीं लिया ? लक्षण लक्ष्य अलग तो होते नहीं हैं ?

**पूज्य बाबूजी :**– होते हैं न, अलग भी होते हैं। अलग भी होते हैं और अभिन्न भी होते हैं। दोनों बातें हैं। लक्षण से लक्ष्य की पहचान करना है, लक्षण पर नहीं चिपटना है न। लक्षण पर नहीं चिपटना है। लक्षण से लक्ष्य की पहचान करके लक्ष्य से चिपट जाना है। लक्षण से चिपटने से क्या होगा ? वो तो एक गुण की एक समय की एक पर्याय है। तो वही पर्यायदृष्टि बनी रहेगी अगर लक्षण से चिपकेगा तो ! उसे लक्ष्य चाहिए न ! उसे तो वस्तु चाहिए। तो वस्तु का जो लक्षण है उससे वस्तु को पहचानकर वो वस्तु में केन्द्रित हो जाएगा, वस्तु में समाहित हो जाएगा और ये काम भी उपयोग का ही है कि वो वास्तविक स्थिति को जानकर और वास्तविक जो यथार्थ है चैतन्य ! उसके स्वरूप को जानकर उसका संवेदन कर लेगा।

## गुण भेद और अभेद

**मुमुक्षु :**– जैसे द्रव्य में अनेक गुण हैं। तो गुण के भेद करने से राग उत्पन्न होता है इसलिए गुण–भेद का निषेध किया। लेकिन अनेक गुणों सहित द्रव्य को जाने – ऐसा तो कहा है ?

**पूज्य बाबूजी :**– गुण के भेदरूप नहीं, लेकिन गुण का भेद करनेरूप जो विकल्प है मैं ज्ञानरूप हूँ, मैं दर्शनरूप हूँ, मैं चारित्ररूप हूँ, मैं आनंदरूप हूँ इत्यादि विकल्प होते हैं, लेकिन गुण इस तरह केवल विकल्पमात्र करने लायक नहीं हैं, पर वो तो सारे ही गुण इकट्ठे करके और द्रव्य के साथ उनको मिलाकर केवल एकरूप अनुभव करने लायक

है, तब असली संवेदन होता है। सारे गुणों का, अर्थात् सारे गुणों की पर्यायों का जो अनुभव है, वो तो सब गुणों को इकट्ठा करके एक द्रव्य का निर्णय कर लिया और तब वो अनुभव होता है।

**मुमुक्षु :**– जैसे गुण–भेद के विकल्प किए बिना द्रव्य को पकड़ना चाहिए, उसी प्रकार से लक्षणरूप पर्याय को भी भेद किए बिना साथ में लिया जाए तो क्या परेशानी है?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! तो भेद किए बिना लिया है न! क्यों नहीं लिया है? आत्मा उपयोगमय है...... बस ये हो गया! आत्मा उपयोगमय है – ये एक साथ हो गया। इनमें जो भेद है, वो भेद कभी अस्त नहीं हो सकता। उपयोग पर्याय है और जो द्रव्य है वो त्रैकालिक है और ध्रुव है – ये भेद कभी अस्त नहीं हो सकता। इसलिए जो विवेकी है, ज्ञानवाला है, जिसको वस्तु चाहिए, उसको पर्याय को तो छोड़ना ही पड़ेगा। पर्याय का लक्ष और पर्याय से जो अनादि काल से ममत्व कर रहा है, उसको तोड़कर उसे द्रव्य में ममत्व स्थापित करना पड़ेगा तब ही उसको कार्य की सिद्धि होगी क्योंकि उपयोग भी आखिर क्षणिक है। वो क्षणिक पर्यायों में शामिल हो गया। जो पर्यायदृष्टि है वो पर्याय को संपूर्ण आत्मा मानती है और आत्मा ऐसा तो है नहीं।

आत्मा वैसा नहीं है इसीलिए आत्मा नहीं मिलता। अशुद्धात्मा की अनुभूति होती है, क्योंकि वो मिलाकर अथवा तो कुछ घटाकर, इस तरह से आत्मा को मानता है। वर्तमान में आत्मा में सुख तो है ही नहीं! आत्मा में ज्ञान तो है नहीं, हम तो अज्ञानी और दुखी प्राणी हैं – ऐसा जो मानता है उसने आत्मा में से ज्ञान और सुख दोनों को खो दिया; तो एक भी गुण अगर कम हो जाए तो सारा ही आत्मा समाप्त हो जाए।

जैसे दीपक में जो प्रकाश है, उसके तो अनेक भेद हैं। वो गरम भी

है, सफेद भी है। तो हम उसमें से केवल प्रकाश की सफेदी लें लें और बाकी प्रकाश को नहीं लें, तो वो आ जाएगा ? नहीं आएगा। इस तरह आत्मा आता है तो अनंत गुणों को साथ लेकर और उनका एकत्व करके अकेला आता है, वो बिखर कर नहीं आता। वो अनंत गुणात्मक एक है।

हम इस तरह का व्यवहार स्वयं करते हैं न! कि हमारे पेट में दर्द हो गया, तो हम डॉक्टर को कहते हैं कि डॉक्टर साहब! मैं तो बहुत बीमार हो गया, रात को बहुत परेशानी हुई। बड़ी मुश्किल से रात बीती; क्या हो गया ? कि पेट में बहुत दर्द है। अरे! पेट में दर्द है तो पेट बीमार है – ऐसा बोल। तू सारा बीमार है, ऐसा क्यों बोलता है, तो कहते हैं कि ये पेट मेरे साथ अभेद है इसीलिए मैं बोलता हूँ।

लेकिन अभेद भी है और भेद भी है, क्योंकि पेट ही सारा आदमी नहीं है। उसके अनेक अंग हैं, अनेक अवयव हैं। इसलिए अभेदता भी है और भेद भी है। इन दोनों को छुपाया नहीं जा सकता। अनुभूति जब होती है वो अभेदता में होती है।

**मुमुक्षु :**– अभेद भी है और भेद भी है, वो छुपाया नहीं जा सकता ?

**पूज्य बाबूजी :**– भेद भी है, छुपाया नहीं जा सकता। एक-एक भेद द्रव्य के साथ एकमेक है, इसलिए हम एकमेक करके ही बोलते हैं। बीमार तो एक अंग हुआ न! हम अपने को सारा बीमार कहते हैं कि मैं बीमार हूँ। कहीं से भी फोन आएगा तो कहेंगे कि मैं तो बीमार हूँ। सिर दुखता है, पेट दुखता है, कोई हाथ दुखता है, पैर दुखता है। कुछ भी हुआ है तो मैं बीमार हूँ – यही बोलता है, तो उसको अभेद करके बोलता है क्योंकि वो अभेद भी है न! एक द्रव्य का अंश है इसलिए अभेद भी है। पर भेद भी है, क्योंकि वो सारा का सारा पूरा आदमी नहीं है।

उसी तरह एक उपयोग गुण है और एक पर्याय है, वो सारा का सारा

आत्मा नहीं है। उससे तो केवल आत्मा को पहचान कर हमें उस ज्ञान के द्वारा पूरे आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। ये उसकी रीति है। उपयोग से, ज्ञान से पूरे आत्मा का स्वरूप जानकर उस आत्मा में समाहित होना चाहिए.... उपयोग में नहीं, आत्मा में! उपयोग से तो तुरंत हट जाना चाहिए और तुरंत हटकर मैं तो उपयोगमय चिदात्मा हूँ। ( उसमें जम जाना चाहिये )

**मुमुक्षु :-** ये हटना नहीं आता बाबूजी ?

**पूज्य बाबूजी :-** हटना क्यों नहीं आता ? हम हट तो गए न। यहाँ तो हट जाते हैं। यहाँ एक अवयव को सारा आदमी कहाँ मानते हैं ?

## रस कैसे पैदा हो

**मुमुक्षु :-** नहीं मानते क्योंकि वहाँ की बात easy (आसान) है ?

**पूज्य बाबूजी :-** असल में द्रव्य की महिमा आना चाहिए, ऐसे शुष्कज्ञान से काम नहीं चलता; ये तो कोरा ज्ञान है कि द्रव्य का स्वरूप समझ लिया, गुण का स्वरूप समझ लिया, पर्याय का समझ लिया और भीतर रस पैदा ही नहीं होता है। विचार करते समय रस पैदा हो तो वो तो भूख होती है, प्यास होती है, तब रस पैदा होता है।

**मुमुक्षु :-** रस कैसे पैदा होता है ?

**पूज्य बाबूजी :-** रस कैसे पैदा होता है ? रस पैदा करे तो होता है। रस तो है; आत्मा तो रसीला ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है। पर इसे निचोड़ना नहीं आता। ये तरह तरह की मिलावटें करता है। जैसे दाल में प्याज और लहसुन की क्या जरूरत है ? लेकिन यहाँ अनेक जैनी ऐसे भी हैं जिनका उनके बिना काम ही नहीं चलता। उन दोनों का कोई मेल तो नहीं है। ऐसे ही ये पुण्य-पाप को मिलाता है, राग-द्वेष को मिलाता है और कर्मों को मिलाता है। किसी को कारण मानता है, किसी को कार्य

मानता है इत्यादि-इत्यादि। विविध प्रकार, अनंत प्रकार से मानकर आत्मा का स्वरूप बदलता है जबकि स्वरूप एक है, एक ही प्रकार का है।

**मुमुक्षु :**- अनंत प्रकार से आत्मा का स्वरूप बदल देता है!

**पूज्य बाबूजी :**- बदल-बदलकर अनुभव करता है। श्रद्धा भी बदल-बदलकर आती है और ज्ञान भी बदल-बदलकर आता है क्योंकि विषय अनेक हैं। जो विषय हैं उनके अनुसार श्रद्धा उसमें अहम् कर बैठती है और ज्ञान भी उसमें एकत्वरूप अहम् करता है।

**मुमुक्षु :**- ज्ञान भिन्न रहकर उसमें एकत्व नहीं कर पाता?

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! नहीं कर पाता। एकत्व करेगा तो भिन्नत्व कैसे करेगा?

**मुमुक्षु :**- माने राग को जानते समय ज्ञान राग से एकत्व करके अहम् करता है और जानता है?

**पूज्य बाबूजी :**- राग को अपने में मिला लेता है अर्थात् मिलाने की कल्पना करता है। यहाँ कल्पना में ही इतना झगड़ा है, कल्पना में अनंत संसार है। मिला तो सकता ही नहीं है, क्योंकि कुदरत कैसे मिलने देगी? ये तो कुदरत का संविधान है इसीलिए कुदरत मिलने नहीं देगी। क्योंकि जो भिन्न-भिन्न भाव हैं, विरुद्ध भाव हैं अथवा विपरीत भाव हैं, उनको कुदरत कभी मिलने नहीं देगी और मिलते भी नहीं है। किसी की सीमा में अतिक्रमण नहीं होता। Trespass (अतिक्रमण) नहीं होता। और कोई trespass (अतिक्रमण) करने की नियत रखता है तो उसको सजा होती है।

Trespassers will be prosecuted (अतिक्रमणकारियों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई होगी)। साफ है, ये तो साफ आता है। पुस्तकों में आता है, पढ़ाया जाता है कि जहाँ लिखा हो कि No Admission (प्रवेश

निषेध), वहाँ पर trespass (अतिक्रमण) करने का ज्यादा मन होता है कि यहाँ कुछ न कुछ होगा जरूर। देखें तो सही! वहाँ ऊँचा मुँह कर-करके ऊँचे पैर कर-करके झाँकता है। Prosecution होता है। यहाँ लिखा है देखा नहीं तुमने?

इस तरह हर पदार्थ के सामने No Admission (प्रवेश निषेध) का बोर्ड लगा हुआ है। अब इसका ज्ञान अँधा हो गया तो क्या करें? अथवा देखता भी है इसकी तो नियत खराब है,नियत खोटी है इसलिए trespass करने का मन करता है।

**मुमुक्षु :**- ज्ञान तो देख ही रहा है। अँधा कहाँ हुआ है?

**पूज्य बाबूजी :**- नहीं! देख रहा है, तो इस तरह देख रहा है कि यह मेरा है; मेरा है। ज्ञान का काम खाली देखना नहीं है, वो मैं मानकर या मेरा मानकर देखता है। इसी तरह श्रद्धा भी हमेशा मैं मानकर प्रतीति करती है। ज्ञान का काम केवल जानना-जानना-जानना ही है - ऐसा नहीं है। स्व-पर के विभागपूर्वक जानना, उसका नाम ज्ञान है, क्योंकि विश्व में स्व-पर का विभाग है। तो ज्ञान को कैसा जानना चाहिए? कि जो स्व है वो तो मैं हूँ और वही उपादेय है, क्योंकि और अन्य कोई शरण देनेवाला अथवा अन्य कोई मेरी रक्षा करनेवाला जगत में हो ही नहीं सकता है। और मुझे रक्षा की जरूरत है नहीं, क्योंकि मैं संपूर्ण हूँ। इसलिए मुझे जरूरत किसी की शरण की जरूरत नहीं है। ऐसा विभाग जानकर अन्य की तरह मैं भी संपूर्ण हूँ - इस तरह ज्ञान आत्मा का आश्रय ले लेता है और आत्मस्थ हो जाता है।

**जो परमपारिणामिक है वो पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है, वो द्रव्यार्थिकनय का विषय है। मैं शुद्ध परमपारिणामिकभाव स्वरूप हूँ ये सविकल्प द्रव्यार्थिकनय हुआ, और जिस समय अनुभूति**

**हुई तो उस समय द्रव्यार्थिकनय भी गायब हो गया। सारी भाषा ही गायब, सारा वचन गायब हो गया।**

द्रव्यार्थिकनय वहाँ क्या करेगा? वहाँ तो मैं हूँ – बस ऐसा सीधा बोलता है। और सब बाहर रह जाता है, सब एक ओर रह जाता है। जिस समय यह आत्मा को चिद्रूप मानकर, चिन्मात्र मानकर अनुभूति करता है, उस समय अनुभूति भी परे हो जाती है तो फिर और की क्या बात? अनुभूति भी एक ओर हो जाती है। मैं आगे चलने लायक नहीं हूँ। मैं तुम्हारे भीतर मिलने लायक नहीं हूँ क्योंकि मैं अनित्य हूँ और तुम नित्य हो, तो हिसाब कैसे मिलेगा?

**मुमुक्षु :**– मतलब ये कि जानना कभी छूटेगा नहीं, वो धारावाहिकता हर समय है। कैसे जानना है वो बात अलग है.... !

**पूज्य बाबूजी :**– एक-एक करके....धारावाहिक शब्द का अर्थ करें तो एक-एक करके। एक-एक करके धारावाहिक है, अनादि-अनंत। और वो कभी ढँकेगा नहीं पूरा। उसका विकास कभी भी पूरा नहीं ढँक जाएगा। कुछ न कुछ विकास ज्ञान में रहेगा ही सही, इसलिए उस ज्ञान से सदा ही आत्मा अपने को पहचानता है और विकास अधिक हो तो पर को भी नहीं पहचानता है।

## निगोद में ज्ञान की सामर्थ्य

**मुमुक्षु :**– निगोद में भी?

**पूज्य बाबूजी :**– निगोद में भी यही है। निगोद में इतना दुख है जन्म और मृत्यु का, तो उसको अनुभव होता है – ज्ञान थोड़ा सा है लेकिन दुख का अनुभव करने के लिए कितना सा ज्ञान चाहिए? और सुख का अनुभव करने के लिए कितना सा ज्ञान चाहिए? उतना ही तो चाहिए और क्या? जो दुख का अनुभव कर रहा है, उसमें सुख का अनुभव

करने की भी गुंजाइश है। अच्छा! कौन से कॉलेज में पढ़े कि उसको बुखार का अनुभव हो जाए? अथवा मौत का अनुभव हो जाए? तो जब बिना पढ़ा-लिखा आदमी मर रहा हो तो शायद उसे दुख नहीं होता होगा क्योंकि कॉलेज में नहीं पढ़ा है वो! उसे भी वही दुख होगा जो कॉलेज में पढ़े हुए को होता है। जरा भी फर्क नहीं है। थोड़ा ज्ञान है तो भी बहुत अधिक दुखी है और वो जानता है कि मैं दुखी हूँ। बस! इतना जानता है। परंतु इसके पीछे जो सुख की सरिता, सुख का सरोवर पड़ा है, उसको नहीं जानता, क्योंकि उसके ज्ञान में ताकत नहीं ज्ञान में।

मैं दुखी हूँ, ये देह मेरी है, ये मैं हूँ, यही मैं हूँ। यही उसके दुख का आधार है। जब वहाँ जाता है तो तुरंत उसको प्रचंड आकुलता होती है और एक श्वास में 18 बार जाता है और 18 बार आता है; और अनंत जीवों का एक ही शरीर है। कहाँ बटवारा करे? बार-बार एक ही मिलता है। अनंत बार एक ही शरीर! लेकिन इसको विश्वास नहीं होता कि ये दोबारा मिलनेवाला है। उसको तो ये है कि यह वर्तमान में जो है वो मैं हूँ, उतना ही मैं हूँ। तो वो छूटा, उससे अलग हुआ और कष्ट, अनंत कष्ट होता है....अनंत कष्ट का कारण पर्यायदृष्टि ही है। पर्याय का ममत्व, वो अनंत कष्ट है। वो पर्याय अपनी है, आत्मा की है, ये लिहाज बिल्कुल नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो हमें निभा नहीं सकती और जिसमें ममत्व करने से हमें केवल आकुलता ही आकुलता होती है तो उसका लिहाज क्या करें? हम उसको घर से थोड़ी ना निकाल रहे हैं इसलिए हम उसका अवलंबन नहीं लेते हैं, बस इतनी तो बात है और क्या है? हम उसे घर से निकाल रहे हों, एक ओर कर रहे हों, बाहर फेंक रहे हों तब तो द्वेष है। लेकिन पर्याय वहीं रहनेवाली है, हमें बस ममत्व नहीं करना है क्योंकि वो इस लायक नहीं है। पर्याय ममत्व के लायक नहीं है , इसलिए ममत्व नहीं करेंगे।

## पर्याय का ममत्व विवेक शून्यता है

एक वर्ष का बालक क्या कमाकर खिलाएगा? उससे क्या ममत्व किया जाए? वो कोई ममत्व के लायक है कि मुझे कमाकर खिला देगा? इसलिए पर्याय से क्या आशा करें? **इसलिए पर्याय के प्रति घृणा नहीं पैदा होना चाहिए। अति राग पैदा नहीं होना चाहिए, द्वेष पैदा नहीं होना चाहिए।** लेकिन पर्याय है मेरी, मेरा अवयव है। पर मेरा अवयव होने पर भी मैं इसका अवलंबन लूँ तो मैं गिर पड़ता हूँ। चोट लगती है और accident (दुर्घटना) होता है। तो मैं इसका अवलंबन क्यों लूँ?

पैरों से चला जाता है, इसके स्थान पर एक आदमी कभी पागल हो जाए और वो तो माथे से चले, तो क्या होगा? ऐसा विपरीत करे कि पैर तो ऊँचे कर ले और माथे से चले तो accident होगा ही होगा। भले सिर तो उसी का है लेकिन सिर ऐसा है कि सिर का अगर अवलंबन ले तो तेरा accident होता है जिससे तू मरेगा, तेरे हाथ पैर टूटेंगे!

इसी तरह पर्याय मेरी है इसमें संदेह नहीं है, लेकिन पर्याय का जो अवलंबन है, वो मूर्खता है। वो विवेक-शून्यता है।

**मुमुक्षु :-** बराबर! हम तो जानते थे कि पर का ममत्व विवेक-शून्यता है। आप तो बता रहे हैं कि पर्याय का ममत्व विवेक-शून्यता है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! पर्याय का। पर में भी हम ज्यादातर पर्याय में ही मोहित होते हैं। अगर उसको ध्रुव मान ले तो फिर क्या होगा? ध्रुव में कोई क्रिया होती ही नहीं है, खत्म हो गया! हम तो क्रिया से ममत्व करते हैं न! पुद्गल में भी, धर्म में भी, अधर्म में भी, सबमें क्रिया से ममत्व करते हैं इसलिए पर्यायदृष्टि रहती है। अगर सबको ध्रुव देख लिया जाए, ध्रुव मान लिया जाए तो ममत्व ही नहीं रहेगा।

आगम में आता है कि मैं अपनी तरह ही ये पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्यों को ध्रुवद्रव्य के रूप में देखता हूँ। तो क्या इनमें पर्याय नहीं होती है? पर्याय होती है, पर पर्याय का क्या है? ये पर्याय का आत्मा अर्थात् प्राण ही द्रव्य है। गुणों का आत्मा अर्थात् प्राणह्न भी द्रव्य है।

**मुमुक्षु :-** पर्याय का आत्मा द्रव्य कैसे है?

**पूज्य बाबूजी :-** पर्याय का आत्मा अर्थात् प्राण द्रव्य है, गुणों का आत्मा अर्थात् प्राण द्रव्य है। द्रव्य है तो ये सब हैं।

**मुमुक्षु :-** तो ही परिणमन है वरना क्या हो?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! इस तरह एकत्व कर लेता है। एक करके और उसमें समाहित हो जाता है, केन्द्रित हो जाता है तो अनुभूति हो जाती है।

भाई! प्रश्न होता है न कि पर्याय भी मेरी है, गुण भी मेरे हैं, तो इनका विचार करूँ तो आचार्य क्यों आपत्ति करते हैं? कि तेरी है पर आपत्ति इसीलिए करते हैं कि इसमें तेरा दर्द बढ़ता है। तेरा कष्ट बढ़ता है इसमें, इसलिए आपत्ति करते हैं, और अंत में तुझे ही निहाल होना है। उनको तो निहाल होना नहीं है। द्रव्य और गुण तो निहाल पड़े हैं। निहाल तो तेरे को ही होना है, इसलिए तेरे भले के लिए, तेरे कल्याण के लिए ये मंगल मार्ग बताते हैं।

**मुमुक्षु :-** माने पर्याय को ही पर्याय की भलाई के लिए पर्याय में से ममत्व निकालना है, वो ही मार्ग बताया गया है?

**पूज्य बाबूजी :-** वो ही मार्ग बताया जा रहा है। इसके साथ ममत्व मत कर; उसको जहाँ है, वहाँ रहने दे!

उत्पाद-व्ययरूप उपयोग, जिसकी अपन चर्चा कर रहे हैं, वो द्रव्य बन जाएगा। मैं ज्ञायक हूँ, बस! मैं चिद्रूप हूँ, चिन्मात्र हूँ।

**मुमुक्षु :-** मैं-पने से द्रव्य बनता है ?

**पूज्य बाबूजी :-** मैं-पने से होता है।

**मुमुक्षु :-** उत्पाद-व्ययरूप धर्म से नहीं ?

**पूज्य बाबूजी :-** द्रव्य-गुण-पर्याय को कैसे समेटे ? तो कहते हैं गुण और पर्याय इन दोनों का आत्मा अर्थात् प्राण द्रव्य ही है। जगत में द्रव्य मूल सत्ता है। द्रव्य मूल सत्ता है इसीलिए दोनों को उसी में उड़ेल दो और केवल एक द्रव्य को देखो। इनका आत्मा द्रव्य ही है - ऐसा जाना तो इन पर दृष्टि नहीं रही, ये अदृश्य हो गए और आत्मा दृश्यमान हो गया।

जब इस तरह के वचन आते हैं तब हम उनमें भ्रम में पड़ते हैं कि यहाँ तो पर्याय को बताया है। पर्याय द्रव्य में प्रलीन हो जाती है, वो प्रलीन का अर्थ ही गलत करते हैं। प्रलीन हो जाती है माने वो उसमें डूब जाती है, लेकिन रहती है उसमें ही। उसका ये अर्थ ही गलत होता है। प्रलीन हो जाती है मतलब वो दिखाई नहीं देती है। बस ! लहर समुद्र में प्रलीन हो गई इसका क्या अर्थ है ? जरा बताओ वो लहर कहाँ है ? उसका नाम प्रलीनता है।

**मुमुक्षु :-** विशेषरूप से लीन हो गई तो दिखती ही नहीं।

**पूज्य बाबूजी :-** परद्रव्य के संपर्क का अभाव होने से और पर्याय द्रव्य में प्रलीन हो जाने से आत्मा शुद्ध द्रव्य ही रहता है, इसलिए शुद्ध द्वारा अनुभव करो।

**मुमुक्षु :-** वो निर्णय भी स्वयं पर्याय करती है न कि मैं यह हूँ।

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ वो स्वयं निर्णय करती है। स्वयं अपने को अदृश्य करके, मैं भी तो हूँ - ऐसा नहीं। यहाँ पर जो पत्नी है वो अपने

को तो अदृश्य कर देती है। बोली कि मेरे जीवन तो आप हो। मेरा कौनसा जीवन है? कि मेरे जीवन ही आप हो। जीवन–धन ही आप हो। बस, हो गई अदृश्य। समर्पण हो गया, समर्पण की पराकाष्ठा हो गई। अदृश्य हो जाना उसका नाम प्रलीन है।

**मुमुक्षु :**– डूबने में और प्रलीन में क्या फर्क है?

**पूज्य बाबूजी :**– डूब गई माने वो भी अदृश्य हो गई। वो भी अदृश्य हो गई। व्यय हो गया न!

**मुमुक्षु :**– पर्यायत्व नहीं रहा, द्रव्य हो गई। वो प्रलीन हुई, पर्याय द्रव्य में अलगरूप से रहती है या.. ?

**पूज्य बाबूजी :**– नहीं! नहीं! प्रलीन माने नष्ट हो गई। हर पर्याय एक–एक करके इसी तरह प्रलीन होती रहती है, अनादि–अनंत। एक पर्याय आई और प्रलीन हो गई, द्रव्य में प्रलीन हो गई। प्रलीन हो गई मतलब अब नहीं रही। लीनता तो उसी को कहते हैं न! असली लीनता कहाँ होगी? जहाँ पर बिल्कुल दो एक ही दिखाई दें, वहाँ लीनता होगी। लीनता में अगर दो रहें तो लीनता कहाँ होगी? वो तो फिर अपने अस्तित्व का भी अनुभव करेगा। लीन होने वाला अपने अस्तित्व का अनुभव करना छोड़कर और उसके अस्तित्व का अनुभव करे तो लीनता कहलाती है, तो समर्पण कहलाता है। इसीलिए द्वैत नहीं रहता। दो होने पर भी द्वैत नहीं रहता, अद्वैत हो जाता है।

**मुमुक्षु :**– दो होने पर भी द्वैत नहीं रहता एक सर्वोपरि सत्ता दिखती है?

**पूज्य बाबूजी :**– एक सर्वोपरि वही सत्ता दिखाई देती है, दो होने पर भी। माने दो हैं तो कोई एकमेक नहीं हो जाते। पर दो होने पर भी स्थिति ऐसी होती है कि बिल्कुल एक होते हैं, एक हो जाते हैं। एक की

अनुभूति हो जाती है क्योंकि जो पर्याय है, वो भी द्रव्य के स्वर में बोलने लगती है।

अनुभूति का लक्षण ही यही है। अनुभूति स्वयं अनुभूति नहीं रहकर द्रव्यमय हो जाती है। द्रव्य ही बन जाती है।

द्रव्य ही बन जाती है नहीं, द्रव्य बन जाती है। 'द्रव्य ही' कहते हैं तो भी कोई दिक्कत नहीं है। अपने पास तो angle अनेकांत का दृष्टिकोण है, इसीलिए कोई दिक्कत नहीं है। 'ही' कहने से तो और अच्छा जोर पड़ता है। जोर पड़ता है, पर्यायदृष्टि छूटती है।

**मुमुक्षु :**- पर्याय को नहीं छोड़ना है, पर्यायदृष्टि को छोड़ना है।

**पूज्य बाबूजी :**- पर्याय को नहीं छोड़ना है। पर्याय को छोड़ने से क्या छूट जाएगी वो ? एक समय की पर्याय को तो अपन छोड़कर देखें। एक समय की पर्याय महादुखमय है। इसको जल्दी चलती कर दें, pass on कर दें जल्दी, एक समय से पहले तो होगा ही नहीं। वो अपना पूरा जीवन जियेगी।

**मुमुक्षु :**- तो ऐसा क्यों नहीं कह रहे कि दोनों की जाति एक हो गई ? अगर ये कहें तो क्या फर्क है ?

**पूज्य बाबूजी :**- जाति में फर्क कौन सा था ? पर्याय भी चेतन थी और द्रव्य भी चेतन था। जाति में कौन सा फर्क था ? ये तो उसके मानने में अनेक प्रकारता थी।

**मुमुक्षु :**- जो कम-ज्यादा थी, वो खत्म हो गई। जो कम-ज्यादापना था या विपरीतपना था, वो खत्म हो गया और दोनों की जाति एक हो गई - ऐसा कह रहे हैं ?

**पूज्य बाबूजी :**- वो जब द्रव्य बन गया तो फिर कमी कौनसी रह

गई पर्याय में ? जब पर्याय अपने को द्रव्य स्वीकार करने लगी तो फिर कमी कौन सी रही ? द्रव्य तो पराकाष्ठा है न ! उसमें कमी कौन सी रही ? अंतिम हो गया !

**मुमुक्षु :**– जो अद्वैत होता है, वो एकांतरूप है या अनेकांतरूप है ?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ ! अपना अद्वैत अनेकांतरूप है और जो अद्वैतवाद है वो एकांत है। वो पर्याय को स्वीकार नहीं करता, लेकिन उसमें तो अनेक झगड़े हैं। कल्पित में क्या विचार करना ? कल्पनाओं का तो संसार जैसे अलग होता है, वैसे वो दर्शन भी सब उसी तरह के हैं।

**मुमुक्षु :**– एक छोटा सा प्रश्न है कि शुक्लध्यान तो शुद्धोपयोग की भूमिका में होता है। फिर उसका विषय द्वादशांग और परमाणु किस प्रकार है ?

**पूज्य बाबूजी :**– शुक्लध्यान का विषय तो वास्तव में आत्मा ही है, शुद्धात्मा ही है। लेकिन वहाँ पर जो ज्ञप्ति–क्रिया है उसमें इस प्रकार का माना गया है। वो सारी बात केवलीगम्य कही जाती है – सचमुच तो उसकी जो दृष्टि है, उसका जो उपयोग है वो तो आत्मलीन ही रहता है। लेकिन कुछ ऐसा भी होता है कि बीच–बीच में मन–वचन–काय का जो योग है, उनके अवलंबन से कोई न कोई योग प्रवर्तित होता है, कोई–कोई गुण परिवर्तित होता है अथवा पर्याय प्रवर्तित होती है, तो उनको भी जान लेता है। इस तरह की वहाँ प्रक्रिया बताई है। लेकिन वो केवलज्ञानगम्य है इसलिए उसमें अपने को ज्यादा ऊहापोह नहीं करना चाहिए। उसमें सिर्फ मानना ये चाहिए कि शुक्लध्यान तो प्रचंड शुद्धोपयोग है। उसमें कर्मों के जत्थे के जत्थे टूटते हुए, खिरते हुए जाते हैं और इधर शुद्धता की वृद्धि वो बहुत त्वरा से होती है, जल्दी होती है। अन्य भी उस समय खिरते हैं उसे संक्रांति कहते हैं – अर्थ संक्रांति, योग संक्रांति

इत्यादि-इत्यादि। संक्रांति माने परिणमन, एक से दूसरे पर जाना। लेकिन मुख्यरूप से उपयोग जो है वो शुद्धात्मा पर ही रहता है।

तो अपने को इतना ही रखना कि उपयोग तो शुक्लध्यान में शुद्धात्मा पर ही रहता है और उसी से सारे भावकर्म और घातिया द्रव्यकर्म का क्षय हो जाता है।

जैसे अपन लौकिक उदाहरण लें कि एक व्यक्ति कार चलाता है। कार का एक लक्ष होता है। कार में भी इतनी विलक्षणता है अर्थात् कोई भी वाहन हो उसमें विलक्षणता इतनी है कि जो चलनेवाले अवयव हैं, उनकी ओर नहीं देखा जाता। लेकिन जो नहीं चलनेवाला अवयव स्थिर है उसकी ओर दृष्टि रहती है तो ये अपने आप चलते हैं। ब्रेक अपने आप चलता है। पहिए अपने आप चलते हैं, steering स्टीयरिंग अपने आप चलता है। अब अगर ये ऐसा ना करके कि मुझे चलाना तो गाड़ी है और वो स्टीयरिंग से चलती है, self सेल्फ से चलती है, तो इन अवयवों की ओर देखने लग जाए तो तुरंत accident (दुर्घटना) हो जाएगा। इसलिए पर्यायदृष्टि छोड़ने लायक है। यह तो पर्यायदृष्टि की बात हुई।

अब अपना जो विषय शुक्लध्यान का है, उसमें ये है कि वो सामने झाँकता है। वो इनको नहीं देखता है और गाड़ी व्यवस्थित चलती है और वह ड्राइवर ऐसा चतुर होता है कि सामने झाँकते हुए इधर-उधर भी देख लेता है और फिर सीधा हो जाता है जरा सा। तो accident (दुर्घटना) नहीं होता है। इसी तरह ही ये शुक्लध्यानवाला है। इसको वो संक्रांति भी हो जाती है और .....।

**मुमुक्षु :**- इसी प्रकार द्वादशांग और परमाणु उसके विषय बन जाते हैं। ताकि इधर-उधर देखे तो भी, पर-प्रकाशक धर्म की ओर देखे भी तो तकलीफ नहीं होती!

**पूज्य बाबूजी :**- नहीं होती है।

**मुमुक्षु :**- यहाँ ये स्वपरप्रकाशक की ओर से भी प्रश्न किया गया है? क्योंकि शुक्लध्यान तो शुद्धोपयोग....।

**पूज्य बाबूजी :**- हो गया न! आ गया उसमें, अन्य भी आ गया। अन्य भी आ गया - अर्थ व्यंजन और योग संक्रांति। वो गाथा है।

**मुमुक्षु :**- शुद्धोपयोग के काल में तीव्र शुद्धोपयोग, इतने ताकतवर शुद्धोपयोग के काल में पर-प्रकाशक होकर द्वादशांग कैसे विषय बन सकता है? तो स्व और पर दोनों ही बात..... हैं।

**पूज्य बाबूजी :**- बस, स्व और पर! द्वादशांग क्या विषय बनता है? उसका कोई भी प्रकरण याद आ जाए तो वो विषय बन जाता है। जैसे सूत्र याद आ जाए तो मन-वचन-काया के अवलंबन से वो तुरंत प्रवर्तित होकर फिर शुद्धात्मा पर ही केंद्रित होता है।

**मुमुक्षु :**- फिर भी वो चालाक ड्राइवर की तरह ही रहता है।

**पूज्य बाबूजी :**- चतुर ड्राइवर, चालाक नहीं चतुर।

**मुमुक्षु :**- चतुर और चालाक में अंतर है।

## जाननभाव और अहंभाव

बाबूजी! एक छोटा सा प्रश्न है कि जाननभावरूप मतलब जानना। जानना-जानना, जानना-जानना। तो यहाँ जानना का अर्थ क्या लेना?

**पूज्य बाबूजी :**- स्व-पर विभाग को लेकर हेय-उपादेयरूप से जानना!

**मुमुक्षु :**- जानने का अर्थ किया कि स्व-पर के विभाग पूर्वक?

**पूज्य बाबूजी :**- इस विश्व में स्व-पर का विभाग है। तो स्व-पर

विभागरूप ही जानना वो सम्यग्ज्ञान है। और जो स्व–पर के अविभागरूप जानता है, स्व–पर का विभाग नहीं करता है वो अज्ञान है, मिथ्याज्ञान है। बस इतना है। पर जानता वो सदा उपादेयबुद्धि से ही है। श्रद्धा भी हमेशा उपादेयता में परिणमन करती है, अहम् भावरूप और ज्ञान भी हमेशा अहम् भावरूप जानता हुआ ही परिणमन करता है। अज्ञान दशा में कोई भी पदार्थ उसका विषय हो तो 'ये मैं हूँ आत्मा, ये मेरा है, मेरा है' इस प्रकार ज्ञान का स्वर भी ये हो जाता है 'मेरा है, मैं हूँ'। श्रद्धा का केवल एक ही स्वर है कि 'मैं हूँ'।

**मुमुक्षु :–** ज्ञान का स्वर ये होता है कि 'मेरा है, मैं हूँ'।

**पूज्य बाबूजी :–** 'मैं हूँ' – उसमें ममकार भी हो जाता है। श्रद्धा में ममकार नहीं होता है, पहले अहंकार होता है।

**मुमुक्षु :–** आहाहा! श्रद्धा में अहंकार होता है, अहम् होता है?

**पूज्य बाबूजी :–** और ज्ञान में भी अहम् होता है, श्रद्धा में भी अहम् होता है। लेकिन ज्ञान में ममरूप भी हो जाता है। ममकार भी हो जाता है। हैं दोनों मिथ्याज्ञान और शुद्ध स्वरूप पर अहंकार हो तो उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान।

**मुमुक्षु :–** यहाँ अहंकार का अर्थ अभिमान तो नहीं कहा गया है?

**पूज्य बाबूजी :–** अहम् माने अपनापन, उसको आत्मा मानना। अहमियत, अहमियत – अपना मानना।

**मुमुक्षु :–** अहम् अर्थात् हूँ–पना। जानना–जानना बोलते तो हैं लेकिन जानने का वास्तविक अर्थ क्या है?

**पूज्य बाबूजी :–** जानने का वास्तविक अर्थ ये है कि जो विश्व का विभाग है स्व और पर का, बस उसको जानते हुए जाने तो वो ज्ञान

सम्यक् है और उसको जानते हुए जब जानता है, तो जो पर का विभाग है वो छूट जाता है। वो इसलिए छूट जाता है कि ये तो पराया है, इसमें मेरा क्या है? इस तरह छूटकर वो स्व पर चला जाता है। इस तरह जानने का अर्थ ये है कि स्व-पर के विभागपूर्वक ही जानना। स्व-पर का विभाग जानकर स्व-पर के विभागरूप विकल्प नहीं बढ़ाना कि 'ये पर है, ये मैं हूँ', 'ये पर है, ये मैं हूँ'। पर, पर को तुरंत छोड़ देना। उधर झाँकना ही बंद कर देना और अपनी सत्ता की ओर झाँकने लगना।

**मुमुक्षु :**- श्रद्धा की एक पर्याय जिस समय एक विषय से ममत्वशील है, उसी समय वो संपूर्ण विश्व के साथ कैसे ममत्व करती है?

**पूज्य बाबूजी :**- संपूर्ण विश्व में हो गया न! जिसने एक के साथ ममत्व किया तो वो किसके साथ ममत्वशील नहीं है? सबके साथ है। पर में जो गई और पर में किसी एक के साथ भी जिसने ममत्व कर लिया, तो वो सबके प्रति ममत्वशील है - ऐसा नियम है।

जैसे एक व्यक्ति की चोरवृत्ति है। तो एक रात में केवल एक जगह पर चोरी करता है। लेकिन ये बताइए कि वो सारे विश्व में किस जगह चोरी नहीं करेगा? आज इस समय, इस समय उसका जो भाव है, वो भाव कितना है? उस भाव से वो केवल एक ही जगह चोरी कर पाएगा लेकिन भाव तो ऐसा है कि संपूर्ण विश्व की चोरी करे। संपूर्ण विश्व को लूट ले, अपना बना ले!

ऐसा ही श्रद्धा का है स्वरूप है कि श्रद्धा के सामने जो विषय होता है वो उसी में अहमियत करती है, उसी में अहम् करती है। लेकिन भाव ये कि वो संपूर्ण लोकालोक में अहम् करती है। भाव इतना गहरा है।

**मुमुक्षु :**- भाव अर्थात् शक्ति?

**पूज्य बाबूजी :- भाव माने वो पर्याय का भाव, शक्ति नहीं।**

**शक्ति तो बहुत शुद्ध होती है। पर्याय शक्ति भी ऐसी है। पर्याय शक्ति इतनी नहीं है कि वो केवल एक ही जगह चोरी करे। उसका मन तो यह है कि मैं अभी इसी समय सारे विश्व में चोरी कर लूँ।** इस तरह सारे ही विश्व को मैं अपने में ले लूँ, अपना बना लूँ, मिथ्यादृष्टि का ये भाव है इसलिए तो निगोद जाता है – और इतनी सजा क्यों होती है? ये ही अनंतानुबंधी का गहरा भाव है, गहरा राग–द्वेष!

**मुमुक्षु :**– पर में किसी एक को हड़प करने की भावना हुई तो समस्त विश्व को हड़प करने की भावना है!

**पूज्य बाबूजी :**– संपूर्ण विश्व को हड़प लेने की भावना है। एक ठग है तो वो किसे नहीं ठगेगा? उस समय उसका जो भाव है वो इतना दूषित है, घनत्वरूप है, लेकिन वो कर नहीं पाता है।

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 18

(11 फरवरी 1999)

*इस चर्चा में ग्रन्थराज समयसार की ग्यारहवीं गाथा की टीका के आधार से व्यवहारनय का स्वरूप और उसके विभिन्न प्रयोग, मंद कषाय की उपयोगिता, अभेद और एकाकार स्वरूप, अज्ञानी को भी आत्मा का जानना आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।*

**मुमुक्षु :**– समयसार गाथा 11 को पूज्य गुरुदेव जैनदर्शन का प्राण कहते हैं। उसमें शुद्धनय का विषय अभेद एकाकार नित्य कहा है। तो कृपा करके विषय समझाने का निवेदन है।

**पूज्य बाबूजी :**– समयसार की 11वीं गाथा सम्यग्दर्शन की गाथा है। उसके दूसरे चरण में ये बात बहुत स्पष्ट है कि भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। अब व्यवहार को अभूतार्थ कहा। व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है और अविद्यमान अर्थ को ग्रहण करता है। भूतार्थ माने जो शुद्धनय है, उस सत्य अर्थ को....सत्य माने आत्मा का जो शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है, उसको प्रगट करता है, उसको बताता है और उसकी अनुभूति करता हुआ उदित होता है। उसमें भूतार्थ का अर्थ है कि विद्यमान वस्तु क्योंकि व्यवहार का विषय अविद्यमान और असत्यार्थ बताया है।

विद्यमान वस्तु अर्थात् सम्यग्दर्शन की ओर से देखा जाए तो जगत में केवल एकमात्र आत्मा की ही सत्ता है और ज्ञान उसके साथ है। ज्ञान स्व और पर दोनों का विभाग कर चुका है और विभाग करके वह भी

आत्मस्थ होकर शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की अनुभूति कर चुका है। उसी के साथ सम्यग्दर्शन का जन्म हुआ तो वह भी उस ध्रुव शुद्धात्मा का अवलंबन लेता हुआ, उसमें अहम् करता हुआ प्रगट होता है। तो ज्ञान का विषय स्व-पर विभागरूप सारा लोकलोक है। लेकिन श्रद्धा का जो विषय है....मिथ्यादर्शन की बात को छोड़े, क्योंकि मिथ्यादर्शन में तो शुद्धात्मा के अतिरिक्त सारा ही जगत एक-एक करके मिथ्यादर्शन का विषय अहम् रूप में बनता है।

## सम्यग्दर्शन का स्वरूप और विषय

सम्यग्दर्शन जानन-क्रिया नहीं करता। इसलिए सम्यग्दर्शन केवल उस ध्रुव शुद्धात्मा में ही अहम् करता हुआ प्रगट होता है। भूतार्थ का अर्थ 'भूत है जो अर्थ'। **सत्ता स्वरूप विद्यमान है जो पदार्थ, उसका नाम भूतार्थ है। सम्यग्दर्शन के लिए जगत में एकमात्र शुद्धात्मा ही सत्ता है। अन्य किसी की सत्ता सम्यग्दर्शन के लिए नहीं है।** सम्यग्दर्शन में अगर शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई विषय बने.....तो क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्रकृति अहम् करने की होती है, उसके अतिरिक्त उसकी कोई दूसरी क्रिया नहीं होती। मात्र अहम् - वह उसकी प्रवृत्ति होती है। इसलिए सम्यग्दर्शन हो जाने पर शुद्धात्मा में यही मैं हूँ - इस तरह ज्ञायक चिन्मात्र का अहम् जागृत हो जाने पर यदि दूसरा कोई विषय बनता है....**अथवा हम मानें कि शुद्धात्मा के अतिरिक्त देव-शास्त्र-गुरु, सात तत्त्व अथवा स्व और पर ये भी सम्यग्दर्शन के विषय होते हैं, तो सम्यग्दर्शन उनमें अहम् करता हुआ मिथ्यादर्शन बन जाएगा, क्योंकि उसकी प्रकृति ही अहम् करने की है।** वो जानता तो नहीं है। सिर्फ ज्ञान ने जो आत्मा का स्वरूप निश्चय किया उसको वो सीधा ग्रहण कर लेता है। माने उसमें अहम् स्थापित करके 'यही चिन्मात्र मैं हूँ' - ये भी कथन में आता है। सचमुच तो आत्मा का जो स्वभाव रागादि से

रहित, कर्मों से रहित, नोकर्म से रहित अर्थात् संपूर्ण जगत से रहित है – ऐसा जो ज्ञान ने निश्चित किया, चैतन्यमात्र–चिन्मात्र ऐसा जो निश्चय किया, तो ठीक वो भावस्वरूप चिन्मात्र उसके अनुभव में आता है। 'यही मैं हूँ' – इस प्रकार का वचन या इस प्रकार का वाक्य भी उसमें प्रवर्तित नहीं होता। वो तो अहम् करता हुआ सीधा उस ज्ञायक में प्रवृत्त होता है। इसलिए जो ज्ञायक है वो उसका विषय है। ज्ञायक कहें या शुद्ध जीवास्तिकाय कहें, परम पारिणामिकभाव कहें, चिन्मात्र कहें, परमतत्त्व कहें, परमज्योति कहें, ज्ञानमात्र कहें – ये सब एक ही बात है, ये पर्यायवाची हैं।

## व्यवहार नय की अभूतार्थता

व्यवहारनय अभूतार्थ है अर्थात् असत्य अर्थ को, अभूत अर्थ अर्थात् जो विद्यमान नहीं है वो उस अर्थ को वो प्रगट करता है। जो विद्यमान नहीं है और जो अभूत है, असत्य है, यदि उसकी श्रद्धा की जाए तो उसका नाम मिथ्यादर्शन होगा। इसलिए जैनदर्शन में व्यवहारनय संपूर्णरूप से हेयकोटि में रखा गया है।

**ये देह मेरी है, यहाँ से लेकर शुद्धात्मा के विकल्प तक, कैसा भी व्यवहार हो; करणलब्धि में होनेवाला केवल शुद्धात्मा का विकल्प भी व्यवहार है और वह भी हेय है।** जो शुद्धात्मानुभूति करनेवाला है और जो इस व्यवहार में प्रवर्तित हो रहा है, वह भीतर से इसे हेय जानता हुआ अर्थात् उसमें अहम् नहीं करता हुआ, ममत्व नहीं करता हुआ वह प्रवाहित होता है, तो उसे शुद्धात्मा मिल जाता है और उसकी उपलब्धि हो जाती है।

जो आत्मा अनादि–अनंत शुद्ध है, बिल्कुल परिशुद्ध है, जिसमें रंच भी मलिनता नहीं है और किसी की मिलावट नहीं है, उस आत्मा को

व्यवहारनय मोही–रागी–द्वेषी कहता हुआ प्रगट होता है। उसका भी एक प्रयोजन तो होता है। लेकिन प्रयोजन होने पर भी आत्मा मोही–रागी–द्वेषी नहीं है और वह आत्मा को किसी प्रयोजन से; अर्थात् मोह–राग–द्वेष मेरे आत्मा की पर्याय में भी पैदा होते हैं, मोह–राग–द्वेष की उत्पत्ति में जगत के अन्य किसी पदार्थ का थोड़ा भी हिस्सा नहीं है – इस प्रयोजन से व्यवहारनय आत्मा को मोही–रागी–द्वेषी कहता है। इससे यह पता लगता है कि मोह–राग–द्वेष आत्मा ने संपूर्णरूप से अपने अज्ञान से अपने भीतर ही प्रगट किए हैं।

जब हम इस बात पर विचार करते हैं, अर्थात् यह जानते हैं कि आत्मा ही रागी–द्वेषी–मोही है और मोह–राग–द्वेष में अन्य किसी का हिस्सा नहीं है – प्रवचनसार में भी ये वचन है कि राग का कर्ता आत्मा ही है – ये शुद्ध द्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय है। शुद्ध द्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय है – ऐसा कहा, उसका अर्थ ये है कि जो कर्मों को राग–द्वेष में शामिल करता आया है और यह मानता आया है कि कर्म के उदय में ही राग–द्वेष होते हैं – उसका ये मानना कि कर्म का प्रभाव राग–द्वेष में अवश्य होता है, भले ही वो कर्म को निमित्त कहे, लेकिन उसके आशय में आत्मा के राग–द्वेष के प्रति कर्म के कर्तृत्व की मान्यता पड़ी है। इसलिए वह व्यवहार भी नहीं है लेकिन वो तो मिथ्यादृष्टि है।

व्यवहारनय आत्मा को रागी–द्वेषी–मोही कहता है, तो वहाँ तो भेदज्ञान प्रगट हो चुका है। मोही–रागी–द्वेषी कहा तो अन्य का वारण करने के लिए, परद्रव्यों का परिहार करने के लिए मोही–रागी–द्वेषी कहा है।

जैसे ये हमारा ही दुष्कर्म है। जैन होकर भी जो ये हिंसा की है ये हमारा ही दुष्कर्म है। लेकिन यहाँ रुका नहीं जाता है, ठहरा नहीं जाता है।

ये दुष्कर्म है इसलिए ये मेरे करने लायक नहीं है। किया मैंने ही है लेकिन मेरे करने लायक ये नहीं है। इसलिए सचमुच मैं इसका कर्ता नहीं हूँ। अगर मैं अपने द्रव्य की ओर, जैनत्व की ओर से देखूँ तो मैं इस हिंसा के कृत्य का भी कर्ता नहीं हूँ। ऐसा जानकर वह उस कृत्य से विमुख होकर और जैनत्व की शरण लेकर, जैनत्व का अनुभव करने लगता है।

इसी तरह राग–द्वेष कर्म के हैं ये बात मान न ली जाए, इसलिए आचार्य कहते हैं कि शुद्धनय से आत्मा राग–द्वेष का कर्ता है। उसका अर्थ क्या हुआ ? कि शुद्धनय से नहीं, **ये वो शुद्धनय नहीं है जो आत्मा की अनुभूति करता है, लेकिन यहाँ शुद्धनय का अर्थ ये है कि इस राग–द्वेष की उत्पत्ति में अन्य किसी का हिस्सा बिल्कुल नहीं है। अर्थात् ये राग–द्वेष शुद्धरूप से, निरपेक्षभाव से, बिना किसी की सहायता के और बिना किसी के कर्तृत्व और कारणता के ही आत्मा ने ही किए हैं – ये शुद्धता का अर्थ है।**

जैसे लोक में कोई व्यक्ति झूठ बोलता है और एक व्यक्ति सत्य बोलता है। तो कोई प्रकरण आता है, तो वो जो व्यक्ति झूठ बोलता है उसके संबंध में सत्य बोलनेवाला व्यक्ति ये कहता है कि – ये साहब ! ये शुद्धरूप से झूठ बोल रहा है। शुद्ध झूठ है ये। शुद्ध झूठ है माने उसमें सत्य का नाम–निशान भी नहीं है। उसी तरह 'आत्मा ही राग–द्वेष–मोह का कर्ता है, निश्चयनय से, शुद्धनय से' तो उसका अर्थ ये है कि उसके करने में अन्य किसी की मिलावट नहीं है। ये जो निश्चय के साथ व्यवहार का जन्म हुआ, ये विश्वास करने लायक नहीं है, क्योंकि यहाँ ठहरा नहीं जाता। आखिर राग–द्वेष–मोह आत्मा को आकुलता पैदा करनेवाले तत्त्व हैं। इसलिए राग–द्वेष–मोह सचमुच मेरे लिए कर्तव्य नहीं हैं और मेरे तत्त्व में, मेरे शुद्धात्म स्वभाव में उनका नाम–निशान भी नहीं है। ऐसा

जानता हुआ राग-द्वेष से विमुख हो जाता है - जब भेदविज्ञान में शुद्धात्मा का अनुभव हुआ था, उनसे ममत्व तो तभी टूट गया था।

वो अभूतार्थ होने से, असत्यार्थ होने से सचमुच हेय है और विश्वास करने लायक नहीं है। लोक में जितनी भी व्यवहार की प्रवृत्तियाँ चलती हैं वे सब इसी तरह से चलती हैं। जैसे एक व्यक्ति ने एक मकान बनाया और मकान में 20 कमरे बनाये। तो हर कमरा मकान है और उससे पूछा जाता है कि तुम्हारे कितने मकान हैं? तो वो कहता है कि मेरे एक मकान है। और जब देखा जाता है कि उसमें 20 मकान मिलते हैं।

लेकिन ये जो 20 मकान हैं? सचमुच तो ये एक ही मकान है और ये मकान है 20 भागों में विभक्त होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ता और यदि इसमें किराये से कोई रहता है तो उसको एक कमरा दिया जाता है। वो कमरा किराये से लेता है, लेकिन जब उसका मित्र कहता है कि तुम अपना मकान तो दिखाओ, तो वो कहता है कि ये मेरा कमरा है। ये मेरा कमरा है - ये बात अभूतार्थ और असत्यार्थ है। लेकिन ऐसा कहने पर भी वो स्वयं और सुनने वाला कि जो उस मकान का स्वामी है ,वो दोनों जरा भी विचार नहीं करते, क्योंकि उनको मालूम है कि ये कह तो रहा है लेकिन मानता नहीं है। उसको इस बात की श्रद्धा नहीं है।

इसी तरह व्यवहारनय जो कहता है, वो कहा तो जाता है। ज्ञानी को ही व्यवहारनय चलता है। उसके पहले तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों का केवल निर्णय किया जाता है कि दोनों के विषय क्या हैं - देवपूजा, गुरु उपासना, दया, दान, पूजा इत्यादि - ये व्यवहारनय के विषय कहे जाते हैं। और इनको व्यवहार भी कहा जाता है। वो इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि ये व्यवहारनय के विषय होते हैं।

**ये धर्म न होते हुए भी, ये शुद्ध पर्याय न होते हुए भी व्यवहारनय इनको शुद्ध पर्याय कहता है, धर्म कहता है। धर्म कहता है न! नहीं**

**कहता ? ये रत्नत्रय है।** ये जो पाँच प्रकार के पाप का त्याग हैं और पाँच प्रकार के अहिंसा सत्य-अचौर्य आदि का ग्रहण है और दया-दान अनुकम्पा धर्म हैं - ऐसा व्यवहारनय कहता है। ऐसा कहने पर भी निश्चयनय उससे हमेशा इनकार करता है, क्योंकि निश्चयनय का काम ये होता है कि व्यवहारनय जो कहता है वो उसको 'नेति' 'नेति' कहता है। 'नहीं! नहीं! ऐसा नहीं है'। अर्थात् व्यवहारनय कुछ भी कहे; चाहे वो शुद्धात्मा की बात करे, शुद्धात्मा का विचार करे - तो निश्चयनय कहेगा 'नेति'।

कहते हैं कि आत्मा विचार-साध्य नहीं है, आत्मा तो अनुभूति-साध्य है इसीलिए वह उसको नेति कहता है। व्यवहार में प्रवर्तित होते हुए ज्ञानी उसकी श्रद्धा नहीं करते। वो जो कुछ भी कहता है उसकी श्रद्धा नहीं करते। सचमुच तो दया-दान पूजा आदि को, व्रतादिक को, मुनिराज के 28 मूलगुण को धर्म की संज्ञा, रत्नत्रय की संज्ञा दी जाती है, लेकिन उनको रत्नत्रय की संज्ञा देने पर भी वे रत्नत्रय, रत्नत्रय बिल्कुल नहीं हैं, जरा भी नहीं है, उनमें रत्नत्रय का नाम-निशान भी नहीं है। तो भी किसी प्रयोजन से व्यवहारनय उनको रत्नत्रय कहता है। वो इसलिए कहता है कि जब तक **इतनी मंद कषाय ना हो तब तक इन चतुर्थ गुणस्थान - सम्यग्दर्शन, पाँचवाँ - व्रतधारी श्रावक और छठवाँ जो मुनिराज का पद है, उसकी उपलब्धि होती ही नहीं है। इतनी मंद कषाय ना हो तो उनके लायक पुरुषार्थ नहीं होता और ये मंद कषाय हो जाए और वो पुरुषार्थ में मदद करे अथवा उसका कारण बने - ऐसा बिल्कुल भी नहीं होता, लेकिन उनकी ओर पुरुषार्थ जागृत करने के लिए अर्थात् आत्मा में, शुद्ध स्वभाव में पुरुषार्थ जागृत करने के लिए इतनी मंद कषाय, शुभभाव, शुभोपयोग इसका होना आवश्यक है।**

इसलिए ये कहना बहुत अच्छा हुआ कि हम आत्मा का, शुद्धात्मा का पुरुषार्थ करना चाहते हैं। तो कहाँ जाएँ? क्या करें? कहते हैं कि कम से कम इतनी कषाय तो मंद होनी चाहिए तो एक chance (मौका) है; उस chance (मौका) में यदि तुम शुद्धात्मा का अलग से पुरुषार्थ करोगे, इनकी ओर दृष्टि न रखकर, इनकी ओर उपयोग न रखकर और शुद्धात्मा की ओर अपने उपयोग को लगाकर यदि पुरुषार्थ करोगे तो उपलब्धि हो जाएगी। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो जाएगी। एकदेश चारित्र की उपलब्धि हो जाएगी। सकल चारित्र जो मुनिराज को होता है, उसकी उपलब्धि हो जाएगी। अन्यथा नहीं होगी।

व्यवहारनय ये बोलता है कि यह धर्म है, ये रत्नत्रय है। इससे हमको एक बड़ी मदद मिली और वो ये कि हम जो पहले रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए इधर-उधर जगत के पदार्थों की ओर, देव-शास्त्र-गुरु की ओर, जिनवाणी की ओर किसी भी तरफ झाँकते थे, तो वो झाँकना अब बंद हो गया। इससे ये मदद मिली और ये सीख मिली हमें कि वहाँ पहुँचने के लिए इतनी मंद कषाय होना आवश्यक है। तो इतनी मंद कषाय के लिए वह शुद्धात्मा के सन्मुख होकर और शुद्धात्मा के उद्देश्य से प्रयत्न करता है और जब उतनी मंद कषाय होती है, तब उस मंद कषाय से विमुख होकर शुद्धात्मा का पुरुषार्थ करता है तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो जाते हैं। इसीलिए व्यवहार अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

आचार्य ने तो यहाँ तक कहा है - क्योंकि भगवान ने अध्यवसान छुड़ाये हैं इसीलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि सारा ही व्यवहार छुड़ाया है।

**व्यवहार में क्या हुआ कि - जो बात जैसी नहीं है वैसी उसको किसी प्रयोजन से कहना तो वो व्यवहारनय में आती है और यदि वो वैसी नहीं है और उससे कोई सिद्धि नहीं होती, तो फिर वो सर्वथा झूठ है, वो पाप है। इसीलिए व्यवहारनय पाप की श्रेणी में**

**नहीं आता, उससे पुण्य-बंध तो होता है।** व्यवहारनय का फल पुण्य है, लेकिन बात हमेशा ही असत्य होती है। आत्मा का, शुद्धात्मा का ज्ञायक के रूप में चिंतन - ये भी सत्यार्थ नहीं है। ज्ञायक का चिंतन हो रहा है तो ये भी सत्यार्थ नहीं है क्योंकि चिंतन, विचार आत्मा जो धर्म नहीं है, पर आत्मा का धर्म तो अनुभूति है। इसीलिए वो चिंतन को हेय समझता हुआ और उसको व्यवहार समझता हुआ, अंत में शुद्धात्मा का अनुभव कर लेता है।

वास्तव में व्यवहार तो एक क्षणिक संज्ञा है, ये तो मंद कषाय हैं। तो कितना फर्क पड़ गया - है मंद कषाय! और हम उसको कहते हैं रत्नत्रय! तो मंद कषाय को रत्नत्रय के नाम से पुकारना, कहना और भीतर ज्ञान में इस प्रकर का विकल्प होना - इसका नाम व्यवहारनय है।

सच्चाई से देखा जाए तो व्यवहार नाम की कोई वस्तु नहीं है। व्यवहारनय है! पर व्यवहार नाम की कोई चीज जगत में विद्यमान नहीं है क्योंकि वो तो मंद कषाय है। अब उसको रत्नत्रय कहना! तो सर्वथा असत् है। सर्वथा असत् होने से व्यवहार के द्वारा कही गयी बात की विद्यमानता कहाँ है? अर्थात् वो रत्नत्रय कहाँ है? इसीलिए आचार्यों ने कहा है कि उसे जो रत्नत्रय कहा गया है तो वो व्यवहारनय से कहा गया है। वहाँ व्यवहारनय प्रवर्तित हो रहा है। ऐसा कहने से वो बिल्कुल रत्नत्रय नहीं बना। वो तो मंद कषाय और अधर्म ही है, अशुद्धता ही है। पर **अधर्म को भी धर्म की संज्ञा किसी प्रयोजन से देना! इसलिए देना कि वहाँ पहुँचकर धर्म को प्राप्त किया जा सकता है। व्यवहार की प्रवृत्ति इसीलिए होती है।**

व्यवहार की प्रवृत्ति में व्यवहार को साधन मानना, कारण मानना - ये बिल्कुल मिथ्यादर्शन है और कहना ये व्यवहारनय है। व्यवहार को भी साधन कहना - ये व्यवहारनय है। इसीलिए व्यवहारनय असत्यार्थ

है और जो शुद्धनय है वो भूतार्थ है। भूतार्थ है इसका अर्थ क्या हुआ? कि शुद्धनय का जो विषय है – 'शुद्धात्मा' वो भूतार्थ है। शुद्धनय भूतार्थ नहीं है, शुद्धनय का विषय भूतार्थ है। शुद्धनय तो स्वयं पर्याय है, तो पर्यायमात्र तो अभूतार्थ है। इसीलिए शुद्धनय का विषय (जो) शुद्धात्मा है, वो भूतार्थ है और बाकी सब अभूतार्थ हैं।

## व्यवहार से प्रयोजन सिद्धि

व्यवहार के तो सैकड़ों उदहारण हैं। उनसे हम समझ सकते हैं कि जो बात जैसी होती है, वैसा व्यवहारनय कहता ही नहीं है। और यदि वो वैसा कहे तो सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए सिद्धि नहीं हो सकती कि जैसे मंद कषाय को यदि वो धर्म न कहे और वो मंद कषाय ही कहता रहे, तो वो तो मंद कषाय है – ऐसा समझकर कोई उसके निकट आएगा ही नहीं। और उसको रत्नत्रय कहने से वो उसके निकट आकर, वहाँ आकर ठहर नहीं जाता है। वहाँ आकर उसमें लुब्ध नहीं हो जाता है। लेकिन वहाँ आकर वह उससे भिन्न पुरुषार्थ करता है और आत्मा की उपलब्धि हो जाती है।

लोक में ऐसे बहुत उदहारण हैं। किसी डॉक्टर के पास एक बीमार जाता है और वो उसको दवाई लिखता है। तो डॉक्टर कहता है कि ये शीशी पीना और ये पुड़िया खाना। डॉक्टर ये कहता है और बीमार ये कहता है डॉक्टर साहब! आप पर मेरा पूरा विश्वास है। अब यदि वो विश्वास को लेकर उन्होंने जैसा कहा ठीक वैसा कर ले तो मौत होगी या जीवन होगा? या बीमारी मिटेगी? लेकिन वो समझता है कि उन्होंने जो पुड़िया खाने के लिए कहा है, तो पुड़िया तो फेंक देता है और उसके भीतर जो दवाई है, वो खा लेता है। और इसी तरह काँच की शीशी में जो दवा है, उसको तो पी लेता है और शीशी को फेंक देता है।

इसी तरह व्यवहारनय ने जो बात कही तो उस व्यवहारनय की बात को तो छोड़ देता है। और उस व्यवहारनय ने जिसकी ओर संकेत किया है, वहाँ पहुँचकर उसका अनुभव कर लेता है। लोक में भी हम समझने के लिए इतने चतुर हैं, तो जितनी बातें शुद्धात्मा से अनमेल हैं, वे सब के सब व्यवहारनय के विषय हैं और व्यवहारनय के विषय होने से उनको व्यवहार कहा जाता है, लेकिन सचमुच वो व्यवहार नहीं है। क्योंकि व्यवहार नाम की कोई चीज जगत में नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय है मगर व्यवहार नाम की कोई वस्तु नहीं है।

द्रव्य है, गुण है और पर्याय है। ये व्यवहार कौनसी चीज है? लेकिन ये इसीलिए कहा गया, व्यवहार उसको इसलिए कहा गया कि कम से कम इसको वास्तविक ना माना जाए लेकिन व्यवहारनय के द्वारा कही जानेवाली एक बात है कि जिसको ये समझकर और यदि शुद्धात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न करे, तो वह यहाँ आकर शुद्धात्मा तक पहुँच सकता है। इसके अतिरिक्त वो सच्चे देव आदि के पास न आकर अन्य के पास जाता है - यदि व्यवहारनय सच्चे देव आदि को शुद्धात्मा का कारण नहीं कहता, तो वो तो और किसी के पास भी चला जाता, अद्वैत के पास भी चला जाता, वेदांत के पास भी चला जाता, कहीं गीता के पास, किसी के भी पास चला जाता। **इससे हमको ये आराम मिला कि सारा जगत छूट गया और सारा जगत छूटकर केवल सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और उनके द्वारा कहे हुए व्रतादिक और मूलगुण आदिक - केवल इतने ही हमारे लिए उपयोगी रहे।**

इस तरह वो पाप को छोड़कर और उस मंद कषाय में आकर, मंद कषाय के chance (मौका) में आकर, उसके उस अवसर में आकर, उस अवसर पर ही यदि ये शुद्धात्मा का अलग से पुरुषार्थ करे, तो शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है और उसको धर्म कहा, रत्नत्रय कहा

अथवा उनको कारण कहा, तो उनको साधन, कारण अथवा धर्म मानकर वहीं रह जाता है, तो फिर मिथ्यादृष्टि होकर निगोद चला जाता है।

**मुमुक्षु :**– साधन कारण और धर्म मानकर..।

**पूज्य बाबूजी :**– वहीं रह जाए, उसे सत्य मान ले, अभूतार्थ को भूतार्थ मान ले तो वह निगोद चला जायेगा।

## व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक है

ये व्यवहार का प्रयोजन है – व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक होता है। व्यवहार ने निश्चय का क्या प्रतिपादन किया ? व्यवहार ने जो देव-शास्त्र-गुरु को श्रद्धा का विषय और व्रतादिक को और मूलगुण आदिक को चारित्र कहा तो इसमें निश्चय का क्या प्रतिपादन किया ? क्या प्रतिपादन हुआ निश्चय का ? ये प्रतिपादन हुआ कि यहाँ आकर ही शुद्धात्मा को प्राप्त किया जा सकता है परंतु अलग पुरुषार्थ से, भिन्न पुरुषार्थ से अर्थात् इसको छोड़कर। इसको छोड़कर, न कि इसमें मूढ़ होकर इसकी श्रद्धा करके ! इसको केवल कहा जानेवाला मानकर और अलग से भिन्न शुद्धात्मा का पुरुषार्थ करे विकल्पातीत होकर, विकल्प को सर्वथा हेय मानकर, शुद्धात्मा के विकल्प को भी अत्यंत हेय मानकर, उसमें ममत्व न जोड़कर और सीधा उपयोग का dialing जो है वो शुद्धात्मा से हो, तो शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाती है और तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उदय हो जाता है। इस तरह लोक में हजारों-हजारों प्रकार के व्यवहार हैं, हजारों प्रकार के !

जैसे कोई मेहमान आता है तो हम उसको कहते हैं कि – यह आपका ही मकान है और आप बिल्कुल संकोच मत करना, आप अपना ही समझना – इतनी बात हमने कही कि नहीं कही ? तो वहाँ ये तो नहीं कहा कि मैं व्यवहारनय से कह रहा हूँ। ऐसा बोला हमने ? और जो मैं

कह रहा हूँ, आप इसको सत्य मत मान लेना, तो वो मेहमान ठहरेगा या उठकर चला जायेगा? लेकिन कहनेवाला भी समझता है और सुननेवाला भी समझता है। हाँ! अगर वो इस बात को सत्य मान ले तो आपकी सब अटैचियाँ खाली हो जायेंगी।

कोई भी हो, किसी तरह का भी हो, व्यवहार निश्चितरूप में अभूतार्थ हुआ। पाप, व्यवहार-धर्म नहीं होता है, ये बात दूसरी है। **पाप व्यवहार भाव तो है, लेकिन पाप व्यवहार-धर्म अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं है। वो संज्ञा केवल पुण्य अर्थात् शुभभाव को मिलती है। ये बात हमेशा याद रखने की है।**

## मंद कषाय में ही मौका है

**मुमुक्षु :-** थोड़ा सा स्पष्टीकरण दीजिए?

**पूज्य बाबूजी :-** पाप जो है वो व्यवहार तो है अर्थात् वो श्रद्धा करने लायक नहीं है, वो छोड़ने लायक है। ममत्व करने लायक नहीं है, उससे सुख मानने लायक नहीं है। अशुभ परिणाम जो है - हिंसा झूठ चोरी आदि, ये व्यवहार तो है लेकिन जैसा कि व्यवहार नय कहता है व्यवहार धर्म अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं है। इसलिए व्यवहारनय पाप का विवेचन नहीं करता। पाप का विवेचन करे तो ये कहेगा कि मिथ्यात्व आदिक सारे पाप हैं और ये भी साथ में कहेगा कि ये आत्मा में ही होते हैं, लेकिन ये सारे पाप हैं।

इसीलिए इसमें बहुत फरक है। वो अशुभ भाव व्यवहार है, लेकिन वो व्यवहार मोक्षमार्ग और व्यवहार-धर्म अथवा व्यवहार रत्नत्रय नहीं है क्योंकि तीव्र कषाय होने पर, हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील आदि के परिणाम होने पर कोई भी व्यक्ति तत्त्व को सुन भी नहीं सकता क्योंकि उसका कलेजा पापों से भरा हुआ है, इसीलिए उसको धर्म स्थानों में,

पुण्य स्थानों में भी पाप के ही विचार हैं और धर्म–चर्चा में भी पाप के ही विचार चलते हैं। इसीलिए वो साधन माने व्यवहार साधन, सत्य साधन नहीं बन सकता। इसलिए वहाँ उसको तो व्यवहार मोक्षमार्ग और व्यवहार धर्म भी नहीं कहते। ये chance (मौका) केवल मंद कषाय में है।

उसका भी कारण है – क्योंकि अज्ञान अवस्था में हमारे पास केवल दो ही भाव हैं या तो पापभाव है या पुण्यभाव है। और तीसरा भाव जो वीतरागभाव है – सम्यग्दर्शन है, वो हमारे पास अभी नहीं है और हमको उसके लिय प्रयत्न शुरू करना है; तो हम इन दोनों में से किसी एक भाव के होने पर ही उसका प्रयत्न कर सकते हैं। अब चूँकि पापभाव में वो प्रयत्न नहीं बनता, तो पुण्यभाव में, मंद कषाय में वो प्रयत्न बनना ही चाहिए। अन्यथा मोक्षमार्ग और मोक्ष का कोई रास्ता नहीं होगा, क्योंकि पापभाव में वो काम होता नहीं है।

जैसे किसी को भोजन बनाना है। उसके पास कमरा वगैरह नहीं है, तो वो छत पर भोजन बनाता है लेकिन छत पर जब तक छाया है तब तक वो भोजन बना ले! धूप आ जाने पर वो भोजन नहीं बना सकेगा और भोजन नहीं कर सकेगा और भूखा रहेगा। उसी तरह जैनदर्शन में पुण्यभाव की, शुभभाव की, शुभोपयोग की अगर कोई उपयोगिता है तो वो यह है कि शुभभाव और शुभोपयोग आते ही तुम उसकी ओर न देखकर शुद्धात्मा का पुरुषार्थ शुरू कर दो। शुद्धात्मा की चर्चा शुरू कर दो। शुद्धात्मा का चिंतन शुरू कर दो तो तो शुद्धात्मा की उपलब्धि हो जाएगी। अन्यथा वापस पापभाव आ जायेगा और ये chance (मौका) निकल जाएगा। इसलिए सारा ही पुण्यभाव और मंद कषाय, केवल पूजा करने लायक नहीं है, लेकिन वह शुद्धात्मा की साधना करने के लिए होता है।

कोई भी व्यक्ति अपने शहर को जाता है, तो वहाँ पर रास्ते में धूप

है। धूप में चलता-चलता घबरा जाता है। तब कोई पेड़ देखता है और उसकी छाया में वो ठहर जाता है, विश्राम करता है। लेकिन उस छाया में ठहरकर भी वो छाया उसके लिए हेय तत्त्व है। यद्यपि बाहर से उसे प्रसन्नता हो रही है, पसीना सूख रहा है, आराम मिल रहा है, लेकिन वो उसे आराम नहीं मानता क्योंकि आराम तो अपने गाँव के अतिरिक्त, अपने घर के अतिरिक्त अन्यत्र है ही नहीं। इसीलिए वो आराम कहकर भी उस आराम को भी हेय मानता है और यदि वो वहाँ सो जाए तो इसका अर्थ ये है कि वो उसमें लुब्ध हो गया और अब उसने अपना गंतव्य खो दिया है।

इस तरह उसे शीतल छाया की तरह ये जो मंद कषाय है, वह शुद्धात्मा की साधना के लिए आई है, ऐसा जानकर उस chance (मौका) को न खोया जाए और शुद्धात्मा का पुरुषार्थ, उसकी चर्चा, उसका चिंतन, उसका मनन किया जाए तो सिद्धि हो सकती है। उस गाथा का अर्थ यही है।

जो अज्ञानी है वो इन भावों को, व्यवहार भावों को शुद्धात्मा के साथ मिलाकर अनुभव करता है। जैसे वो गाँववाला व्यक्ति है! उसे जैसा गन्दा जल मिलता है, वो उसको ठीक वैसे का वैसा पी लेता है और वो जानता है कि जल ऐसा ही होता है। और जो चतुर है वो उसमें फिटकरी डाल कर और फिर उसमें जो कादव है, उसे अलग करके शुद्ध जल पी लेता है।

इसी तरह जो ज्ञानी है वो व्यवहार भावों को शुद्धात्मा के साथ न मिलाकर और अपने को व्यवहार भाववाला न मानकर, शुद्धनय की फिटकरी डालकर उस व्यवहार के जो विकल्पों को नीचे बिठा देता है और शुद्धनय का अवलंबन लेकर, निर्विकल्प होकर आत्मा की अनुभूति कर लेता है। ये तरीका है।

## अभेद और एकाकार स्वरूप

**मुमुक्षु :-** अभेद एकाकार नित्य को जरा स्पष्ट कीजिये ?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! वो अभेद एकाकार नित्य है न! उसका कारण ये है कि एक तो उसमें किसी की मिलावट नहीं है। ये तो ठीक है कि आत्मा में किसी की मिलावट नहीं है। **दूसरा ये कि शुद्धात्मा में परिणमन ही नहीं होता। परिणमन हो तो विकार की सम्भावना रहती है और परिणमन नहीं होता है इसलिए वो निर्विकारी है।** तो इन दोनों कारणों से वो सदा ही बिल्कुल एकरूप रहा, क्योंकि उसमें किसी की मिलावट नहीं इसलिये अशुद्ध नहीं होता और परिणमन नहीं होता इसीलिए ध्रुव रहता है। ध्रुव रहता है और शुद्ध रहता है। और जो ध्रुव है वो अनादि-अनन्त एकरूप ही रहता है, क्योंकि उसमें परिवर्तन होगा ही नहीं, परिणमन नहीं होता इसीलिए वो हर समय उपलब्ध किया जा सकता है। इसीलिए एकाकार, एकरूप आदि उसके अनेक विशेषण हैं। वो सारे एक ही अर्थ को प्रगट करनेवाले हैं।

वो निराकार भी है क्योंकि प्रदेशों का आकार होने पर भी वो आकार उसका नहीं है। वो उस आकार से भी भिन्न है। ये जो प्रदेशों का आकार - मनुष्याकार है, ये तो द्रव्य का आकार है न! व्यंजन पर्याय तो द्रव्य के प्रदेशों की होती है न! ये व्यंजन पर्याय प्रदेशों का आकार होने पर भी, इन प्रदेशों के आकार से भी वो शुद्धात्मा भिन्न है क्योंकि ये पर्याय है, पलट जाएगी! और वो ज्यों का त्यों रहेगा, वही का वही रहेगा। इसीलिए जो वही का वही रहे वो सदा एकाकार, एकरूप रहनेवाला शुद्धात्मतत्त्व है, अनंत वैभववाला है।

जब मैं तो एकरूप रहनेवाला ध्रुव, शुद्धतत्त्व हूँ - ऐसा जिसने विश्वास में ले लिया, जिसके ज्ञान ने दृढ़ता से इस बात को स्वीकार कर

लिया, तो अब उसको भय, चिंता, क्लेश आदि अगर कोई चलाकर, बुलाकर भी लावे, तो भी वो उसके निकट नहीं आयेंगे। क्यों आयेंगे? और उसमें कहाँ चिंता की गुंजाईश है? जो ध्रुव एकाकार है उसमें क्लेश की गुंजाईश कहाँ है?

मैं तो ध्रुव एकरूप तत्त्व हूँ ऐसा जहाँ निश्चय किया, वहाँ सारी चिंतायें और सारे क्लेश का अंत हो जाता है और इसीलए वो अनुभूति भगवान सिद्ध के सामान होती है। भगवान सिद्ध की अनुभूति में और उसमें कोई अंतर नहीं है। **सम्यग्दृष्टि पुरुष का जो स्व-संवेदन होता है वो साक्षात् भगवान सिद्ध के समान होता है, आगम का ऐसा वचन है; जब स्वसंवेदन होता है तो उस समय वो निर्विकल्प है, उस समय वो सिद्ध परमात्मा ही है।**

निर्विकल्प स्व-संवेदन हुआ, उस समय रागादि का वेदन भी है। उस समय राग के विकल्प भी हैं, लेकिन वो एक ओर हैं क्योंकि वो शुद्धात्मा से एकमेक तो हैं नहीं! और जो आत्मा का अनुभव कर रही है उस ज्ञान की पर्याय से भी एकमेक नहीं हैं, इसीलिए ज्ञान की पर्याय ने शुद्ध को विषय बनाया है, इसने शुद्धात्मा को विषय बनाया है इसलिये इसको शुद्धनय नाम दिया है।

शुद्धात्मा को विषय करता हुआ ये जो शुद्धनय है, वो जो अनुभूति होती है उसमें एकांत सुख की अनुभूति होती है। आनंद की अनुभूति होती है। वहाँ पर दुःख और विकल्प पड़े रहने पर भी उनकी अनुभूति किंचित् मात्र भी नहीं होती, इसीलिए उसको भगवान सिद्ध के जैसी अनुभूति बताया। उनमें और इसमें कोई अंतर नहीं है, उस समय वो साक्षात् सिद्ध परमात्मा ही है। उस समय मैं साक्षात् सिद्ध परमात्मा ही हूँ - ऐसा अनुभव करे तो निर्भीक हो जाता है।

अब अपन अंतर की बात करें कि क्या अंतर रहा? क्या अंतर है?

कि ये इसको राग–द्वेष–मोह हैं, लेकिन इसने तो बाहर निकल दिए। बाहर ही थे और इसने उनको अपने ज्ञान से बाहर जान लिया। जान लिया माने बाहर निकाल दिया। जब राग–द्वेष–मोह बाहर निकल गए और केवल सिर्फ ज्ञान और आत्मा दो ही रह गए, उसमें भी ज्ञान ज्ञायक बन गया, तो अब क्या अंतर रहा ? भगवान सिद्ध भी ज्ञायक हूँ – ऐसा अनुभव करते हैं और ये भी मैं मात्र ज्ञायक हूँ – ऐसा अनुभव कर रहा है, इसमें और सिद्ध परमात्मा में क्या अंतर रहा ? कोई अंतर नहीं रहा।

इसमें जो हिचकी खाता है, उसको दर्शन नहीं मिलता। उसको अनुभूति नहीं मिलती। जो हिचकता है कि अरे रे रे ! अगर मैं अपने आपको अभी सिद्ध परमात्मा कहने लगूँगा तो सिद्ध परमात्मा का अनादर हो जायेगा। अनादर नहीं होगा बल्कि वो सारे सिद्ध परमात्मा प्रसन्न हो जायेंगे, क्योंकि उनका उपदेश ही यही है।

जो interview होता है न – बड़े, बड़े interview – कलेक्टर है, commmisioner है कोई जज है, तो उनके जो interview होते हैं, उनमें जो विद्यार्थी जाते हैं, उनके interview भी इसी तरह के होते हैं अर्थात् उनसे कोई खास ऐसी बातें नहीं पूछी जाती हैं, उनको तो उनके पद, वो जिस पद पर जाना चाहते हैं उस पद के लायक बात पूछी जाती है।

एक विद्यार्थी interview दे रहा है। और वो जो interview लेने वाले हैं, उनने कहा कि जरा चपरासी को बुलाकर लाना, तो वो कुर्सी से खड़ा होकर चपरासी को बुलाने नहीं जाता। वो वहाँ टेबल पर जो घंटी रहती है, उस घंटी को बजा देता है और उसे चुन लिया जाता है और कोई उठकर चपरासी को बुलाने चला जाये, तो उसको कहते हैं कि तू तो चपरासी को ही बुलायेगा ? तेरा काम collector बनने का, commisioner बनने के लायक नहीं है।

इस तरह मैं वर्तमान में, इस अनुभूति के समय सिद्ध परमात्मा हूँ, तो वो सिद्ध परमात्मा बन ही जाता है क्योंकि वो इस लायक है।

**मुमुक्षु :**– परिणमन होता है तो विकार की शक्यता है आपने ऐसा क्यों कहा ?

**पूज्य बाबूजी :**– परिणमन में विकार की शक्यता है, क्योंकि चार अचेतन द्रव्यों में परिणमन होता है, लेकिन उनमें विकार नहीं है। और इधर जीव और पुदगल में परिणमन भी है और विकार भी है लेकिन पुद्गल को तो कोई फिकर है ही नहीं और जीव ज्ञानवाला है तो ये दुखी रहता है। हुआ न विकार ! परिणमन है तो वहाँ विकार की संभावना होती है। संभावना होती है, possibility होती है। आवश्यक नहीं। पर्याय में विकार हो जाता है, क्योंकि वो स्वयं विकार उत्पन्न करता है।

**मुमुक्षु :**– शुद्धोपयोग के काल में मिश्र वेदन कहेंगे या एकांत का वेदन कहेंगे ?

**पूज्य बाबूजी :**– एकांत शुद्ध का वेदन होता है, मिश्र वेदन नहीं होता। जब वो शुद्धात्मा से बाहर के पदार्थों की ओर चला जाता है तो उस समय मिश्र वेदन है। उसमें भी वेदन में फरक रहता है। कभी केवल दुःख का ही वेदन करता है। कभी केवल लौकिक सुख का ही वेदन करता है, लेकिन वो दुःख का ही वेदन है। लेकिन वो कम हो जाता है क्योंकि उतना दुःख टूट गया न ! अनुभूति के समय उतना दुःख टूट गया है इसीलिए वो मिश्र होता है। कुछ सुख के अंश और कुछ दुःख के अंश !

स्वस्थ होने की भी एक प्रक्रिया होती है न ! स्वस्थ होने की प्रक्रिया में जो रोगी है उसको 50 परसेंट आराम हो गया है। तो अब उसको उतना दुःख है क्या ? जिस समय उसने चिकित्सा ही प्रारंभ नहीं की थी,

उतना दु:ख अभी है क्या ? और पूरा सुख है क्या ? क्योंकि अभी तो 50 परसेंट रोग बाकी है, इसलिए वो एक मिश्र वेदन है।

**मुमुक्षु :**- तो बाबूजी ! उसी समय जो सामान्य उपयोग प्रवर्तता है, उसका कोई योगदान हुआ कि नहीं ? सामान्य उपयोग जो जानना-जानना जानना हुआ.. ?

**पूज्य बाबूजी :**- उसका कुछ योगदान नहीं है। वो पुरुषार्थ करे तो योगदान है अन्यथा उसका कोई योगदान नहीं है। उसका क्या योगदान है ? वो उपयोग को जिधर ले जायेगा उधर उपयोग जायेगा। उपयोग को शुद्धात्मा की ओर ले जाये तो उपयोग शुद्धात्मा की ओर जायेगा। पर उपयोग को विश्वास तो दिलाओ ! कि तुम इसको दुखी करते हो, ज्ञान को रात दिन कष्ट देते हो। उसको विश्वास तो दिलाओ कि मैं तुझे ऐसी जगह ले जा रहा हूँ कि जहाँ दु:ख का नाम-निशान भी नहीं है। अनंत सुख है - ऐसी जगह मैं तुझे ले जा रहा हूँ। किसी जानवर को राजा के यहाँ से छूटकर कहीं गरीब को बेच दिया जाये तो वो भी बार-बार राजा के महल में जायेगा।

तो उपयोग को पहले ये विश्वास तो दिलाया जाये ! मगर वो तो विषयों में फँसा है। उसने उसे यही बता रखा है कि सुख यहाँ विषयों में है, और वो मानता ही यही है।

**मुमुक्षु :**- आबाल-गोपाल को सुख का अनुभव होता है, आत्मा प्रगट रहता है उसका क्या अर्थ है ?

**पूज्य बाबूजी :**- आबाल-गोपाल को सुख का अनुभव नहीं होता। आबाल-गोपाल सबको आत्मा अनुभव में आता है - ऐसा कहा है। पर उसके आगे 'किन्तु' शब्द है। वहाँ उसका अर्थ यह है कि आबाल-गोपाल माने जगत के सारे प्राणी, एकेन्द्रिय से लगाकर सैनी

पंचेन्द्रिय तक सारे प्राणी ये जानते हैं कि मैं जानता हूँ और जानने वाला हूँ।

तो जाननेवाला हूँ - ऐसा उसने ज्ञान में स्वीकार किया, लेकिन जाननेवाले का स्वरूप क्या है ये नहीं जाना और जानन-क्रिया का, ज्ञान का स्वरूप क्या है - ये भी नहीं जाना। इसीलिए वो अन्य के साथ प्रतिबद्ध हो जाता है। इतना जानकर भी वो अन्य पदार्थ के साथ ममत्व कर बैठता है, इसलिए उसे शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। यहाँ इसका नाम (जानने का नाम) अनुभव है।

**मुमुक्षु :**- मैं ज्ञान से जानता हूँ।

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! जैसे जो हमेशा झूठ बोलता है, तो उसे सत्य की अनुभूति है सदा ही। लेकिन वो बोलता झूठ है। इसी तरह उसको वो अनुभव में आना चाहता है लेकिन ये दूसरे के साथ जुड़ जाता है। ये अन्दर से प्रेम कर बैठता है। अगर वो ये मान ले कि ये मैं जानने वाला हूँ, बस! तो वो हो गया। और जाननेवाला ऐसा शुद्ध होता है एकदम! तो काम हो जायेगा।

**मुमुक्षु :**- जो असत्य बोलता है, उसे भी सत्य की अनुभूति है।

**पूज्य बाबूजी :**- सत्य की अनुभूति है।

**मुमुक्षु :**- फिर भी वो उसको तिरोभूत कर देता है!

**पूज्य बाबूजी :**- तिरोभूत कर देता है उसको। इतना तो जानता है न! असत्य बोलने वाला भी सत्य को जानता है।

**मुमुक्षु :**- बराबर! ऐसा तो नहीं है कि असत्य भी सत्य को जानता ही नहीं है। जानते हुए भी नहीं जानता है!

**पूज्य बाबूजी :**- बस! ये ही! आबाल-गोपाल का जानना इतना ही

है। वो सत्य को तिरस्कृत करता देता है क्योंकि दूसरी ओर फँसा है न! परपदार्थ की लोलुपता है, अन्य की लोलुपता है न!

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! इसका कारण उसकी ऐसी ही परिणति है – ऐसा ही ले लेना?

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं! पुरुषार्थ की कमी है। ऐसा नहीं लेना कि उसकी ऐसी परिणति है।

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! यदि पुरुषार्थ की कमी बोलते हैं, तो इसका अर्थ ये कि उसको मालूम तो पड़ा कि सत्य ये ही है। फिर भी ऐसा क्यों?

**पूज्य बाबूजी :-** मालूम पड़ा तो भी नहीं करता है न वो! तो ये उसके पुरुषार्थ की कमी है कि नहीं? और ज्ञान की भी कमी है, उसका ज्ञान भी भ्रष्ट है। सद्गुरु जो बताते हैं वो बात स्वीकार नहीं करता।

**मुमुक्षु :-** दो दिन पहले का एक छोटा सा प्रश्न है – ज्ञान का फल विरति कहा जा सकता है?

**पूज्य बाबूजी :-** ज्ञान का फल विरति नहीं, ज्ञान का फल शुद्धात्मा में रति है। विरति से क्या होता है? विरति तो negative (शब्द) है। उससे क्या होता है? हाँ! विरति हो जाती है। लेकिन रति होती है तो विरति हो जाती है।

**मुमुक्षु :-** जब रति होती है तो पुद्गल कर्म से विरति हो जाती है।

**पूज्य बाबूजी :-** विरति हो गई। केवल विरति से क्या होना है? कुछ मिलना चाहिए न उसके स्थान पर!

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 19

(12 फरवरी 1999)

***इस चर्चा में भूतार्थ से जाने हुए नव तत्त्व सम्यग्दर्शन हैं, व्यवहार कथन की उपयोगिता, आत्मा का एकरूपत्व आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।***

## एक शुद्धात्मा ही भूतार्थ है

**मुमुक्षु :-** कल बात आई थी बाबूजी! प्रश्न है कि भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है - ऐसा 11वीं गाथा में कहा है भूतार्थ से जाने हुए नव तत्त्व ही सम्यग्दर्शन है। ये दो बात कैसे हैं?

**पूज्य बाबूजी :-** भूतार्थ माने भूत अर्थ, विद्यमान वस्तु। और जो सम्यग्दर्शन है श्रद्धा, उसके लिए विश्व में एकमात्र विद्यमान वस्तु केवल शुद्धात्मा है क्योंकि यदि उसमें अन्य की विद्यमानता प्रतीत होती है, श्रद्धा का विषय बनती है तो वो मिथ्यादर्शन होता है, क्योंकि श्रद्धा की प्रकृति अहम् करनेरूप है। जो भी विषय होगा वो अहम् करेगी और उसको आत्मा मानेगी, पूरा आत्मा मानेगी!

इसलिए ज्ञान ने जैसा पहले निर्णय किया कि सम्पूर्ण विश्व में केवल इस शुद्धात्मा के सिवाय अपनी शुद्धाशुद्ध पर्याय भी पर हैं, परद्रव्य हैं। ऐसा जान लेने पर एकमात्र ज्ञायक ही शेष रहता है कि जिसको श्रद्धा अपना श्रद्धेय बनाती है। इसलिए श्रद्धा के लिए संपूर्ण विश्व में विद्यमान वस्तु सिर्फ ज्ञायक ही है और कोई विद्यमान नहीं है, सब अविद्यमान हैं अर्थात् वो सब वो व्यवहारनय के विषय हैं। व्यवहारनय उनको भले ही भूतार्थ कहे, विद्यमान कहे, लेकिन श्रद्धा की ओर से तो वो सारे के सारे

अविद्यमान हैं। और वे ज्ञान की ओर से भी अविद्यमान हैं क्योंकि ज्ञान उस समय अनुभूति में प्रवर्तित हो रहा है, उसकी ओर से भी वे सब अभूतार्थ हैं। वे होते हुए भी, क्योंकि ज्ञान तो उनको जानता है न! इसलिए वे जानने में आये जरूर हैं लेकिन वे काम के नहीं थे, किसी मतलब के नहीं थे। इसलिए ज्ञान उधर से लौटकर ज्ञायक में ही स्थापित हो जाता है।

श्रद्धा के लिए तो इस विश्व में भूत अर्थ एकमात्र शुद्धात्मा है, शेष कोई वस्तु नहीं है और यदि ज्ञान की ओर से भूतार्थ कहा जाये, तो भूतार्थ माने उनका होना। वहाँ व्यवहारनय की ओर से भूतार्थ माने उसका होना, उसके अस्तित्व का होना। यदि ये मान भी लिया जाए तो वो सब परद्रव्य होने से हमारे लिए किसी प्रयोजन का नहीं है। इसका नाम सम्पूर्ण विश्व को जानना हुआ!

ज्ञान ने तो बोला ही है कि मेरे लिए सम्पूर्ण विश्व किसी प्रयोजन का नहीं है, किसी मतलब का नहीं है। हो गया जानना, जानकर ही तो बोला वो! नहीं जानता तो बोलता कैसे?

**मुमुक्षु :**- यह मेरा विकार है, वो देखकर बोलता है?

**पूज्य बाबूजी :**- यह मेरे बिल्कुल किसी मतलब का नहीं है। ऐसा जानकर ही, समझ कर ही बोला है। तो वह भी श्रद्धा की तरह शुद्धात्मा में ही स्थापित होकर 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसा अनुभव करता है। इस तरह भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होने की बात की है।

भूतार्थ का अर्थ अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। भूतार्थ, भूत-अर्थ, विद्यमान वस्तु जो ध्रुव है एकरूप सदा रहनेवाली है, अक्षय-अनंत - ऐसी वस्तु है, उसका नाम भूतार्थ अर्थात् विद्यमान है। सम्यग्दर्शन में केवल एक वही नजर आता है। नजर आता है अर्थात् प्रतीति में आता

है, अहम् रूप में केवल एक वही प्रवर्तित होता है। जगत में अन्य कोई नहीं है। इसलिए सारा का सारा अन्य जगत श्रद्धा के लिए अविद्यमान रहता है और ज्ञान के लिए भी वो सब व्यवहार होने से अर्थात् पराया होने से ज्ञायक की ओर से अविद्यमान जैसा ही है।

**मुमुक्षु :-** ज्ञान के लिए भी विद्यमान एक आत्मा ही है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! ज्ञान विद्यमानता को स्वीकार करता है, लेकिन वो जानता है कि इसका होना मेरे लिए किसी मतलब का नहीं है। इसका अस्तित्व मेरे लिए और मेरे अस्तित्व के लिए किसी प्रयोजन का नहीं है। ऐसा जानकर वो सारे जगत से मुड़कर शुद्धात्मा में स्थापित हो जाता है।

## ज्ञान की विवेक बुद्धि

**मुमुक्षु :-** माने ज्ञान में हेय-उपादेयबुद्धि साथ में ही चलती है?

**पूज्य बाबूजी :-** हो गई न! ये साथ में ही चलती है। बस, यही चलता है कि ये मेरा नहीं है। ये हेय वाक्य हुआ और ये मेरा है, ये उपादेय वचन हुआ। लेकिन दोनों को छोड़कर उपादेय में अहम् रूप में प्रवर्तित हो जाना, वो दोनों से अलग चीज है। ये दोनों विकल्प हैं।

**मुमुक्षु :-** दोनों को छोड़कर उपादेय में अहं बुद्धिरूप प्रवर्तित हो जाना - ये बात जरा स्पष्ट कीजिए कि क्या कहना है?

**पूज्य बाबूजी :-** दो प्रकार के विकल्प हुए। दो प्रकार की बात जब आएगी तो विकल्प होगा। ये जगत में कोई भी मेरा नहीं हैं - एक तो ये वचन अर्थात् हेय है कि मैं नहीं हूँ, मेरे नहीं हैं, और एकमात्र शुद्धात्मा ही मेरा है; तो ये दो विकल्प हुए। इन दोनों विकल्पों से टूटकर और उसी ज्ञान का, एकमात्र ज्ञायक ही मेरा है, ऐसा बोलकर, ऐसी प्रवृत्ति ज्ञान में करके और सिर्फ ज्ञायक में तल्लीन हो जाना, स्थापित हो जाना,

समाहित हो जाना, अहम् रूप प्रवर्तित होना, उसका नाम ज्ञान है – ज्ञान में भी वास्तव में ये ही अभूतार्थ हैं और श्रद्धा की दृष्टि से तो वे हैं ही नहीं। ये तो उसकी बात हुई।

श्रद्धा की दृष्टि से जगत ही नहीं है, क्योंकि उसका विषय केवल एक शुद्धात्मा हुआ। अब अगर कोई दूसरा विषय बनता है, तो उस समय वो श्रद्धा अहम् रूप प्रवृत्ति किए बिना नहीं रहेगी। उसको वो अपना आत्मा माने बिना नहीं रहेगी, तो मिथ्यादर्शन हो जाएगा। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व हो जाए तो अनंतानंतकाल तक श्रद्धा का विषय एकमात्र शुद्ध चिन्मात्र ही होगा और कोई नहीं।

श्रद्धा का जो जगत है वो केवल चिन्मात्र ज्ञायक है। श्रद्धा का जो लोक है, वो चिन्मात्र एक ज्ञायक ही है और कोई नहीं। श्रद्धा का संसार केवल ज्ञायक का बना हुआ है और नहीं। ये तो इसकी बात हुई।

## भूतार्थ से जाने हुए नव तत्त्व सम्यग्दर्शन ही हैं

अब नव तत्त्व भूतार्थ से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं – ये है न बात!

**पूज्य बाबूजी :–** हाँ! भूतार्थ से जाने हुए नवतत्त्व सम्यग्दर्शन ही है। यहाँ पर व्यवहार और निश्चय बताया है अर्थात् जब भूतार्थ अर्थात् शुद्धात्मा के दर्शन में श्रद्धा और ज्ञान दोनों आए। **वो दर्शन नवतत्त्व के विचारपूर्वक ही होता है अथवा स्व और पर के विचारपूर्वक होता है। नवतत्त्व के विचारपूर्वक होता है ऐसा जब जाना, तो विचार को भी सम्यग्दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। वो इसलिए पुकारा जाता है कि नवतत्त्व के विचार तक यदि ये नहीं पहुँचेगा तो फिर इसको सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ हो ही नहीं सकेगा, ये कर ही नहीं सकेगा!**

कैसे नहीं कर सकेगा? क्योंकि नवतत्त्व में जो जीव है पहला, वो

तो ये मनुष्यादि पर्यायवाला है। दूसरा जो अजीव है, वो तो इससे अन्य और पर है - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आस्रव और बंध को जानेगा कि वर्तमान में मेरी दशा बहुत कलंकित है, बहुत खराब है, बहुत दूषित है, बहुत मैली है। ये जानेगा तो उसे मिटाने के लिए संवर और निर्जरा का विचार करता है और अंत में ये सब समाप्त हो जाने पर मुक्ति हो जाती है।

जब तक ऐसा नहीं जानेगा तब तक उस आस्रव और बंध को समाप्त करने के लिए शुद्धात्मा की ओर क्यों ढलेगा? क्यों ढला है ये शुद्धात्मा की ओर क्योंकि आस्रव और बंध को इसने जाना है कि इन आस्रव-बंध का जन्म कैसे हुआ? कि जब मैं शुद्धात्मा से चूका, शुद्धात्मा से स्खलित हुआ, शुद्धात्मा से मैं फिसल गया और अन्य में मोहित हो गया तो आस्रव-बंध का जन्म हुआ। अब मैं उन सबको उपेक्षित करके और एकमात्र शुद्धात्मा की अपेक्षा करूँ और उसी में अहम् रूप प्रवर्तूं तो आस्रव और बंध समाप्त हो जायेंगे। इस तरह नवतत्त्व के विचारपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है - ये उसका सीधा अर्थ है।

इसलिए भूतार्थनय से जाने, भूतार्थ से जाने हुए नवतत्त्व सम्यग्दर्शन ही हैं। उसका अर्थ क्या हुआ? भूतार्थ से जाने हुए उसमें वजन है। केवल नवतत्त्व का जानना और नवतत्त्व का विचार वो तो मिथ्यादर्शन है।

**मुमुक्षु :-** अभी तो कहा कि ....(सम्यग्दर्शन ही हैं)

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! अभी तो कहा कि भूतार्थनय से जाने! भूतार्थ से जाने हुए अर्थात् इसे भूतार्थ का ज्ञान हो कि एक शुद्धात्मा ही ध्रुव है और वही उपादेय है - ऐसा जानकर वो नवतत्त्व में प्रवर्ते, नवतत्त्व के विचार में..ये सिर्फ जानने की, विकल्प दशा की बात चल रही है।

नवतत्त्व के विचार में प्रवर्ते और ये जाने कि वर्तमान में मुझे आस्रव-

बंध है और ये बहुत दुखदायी है। ये दुख सहा नहीं जाता। इस दुख को तो नष्ट करना है – ऐसा जानकर वहाँ से हटे। अपनी दृष्टि माने ज्ञान को, उपयोग को वहाँ से हटा ले और शुद्धात्मा पर उस ज्ञान को स्थापित कर दे,तो आस्रव–बंध टल जाते हैं।

दूसरा क्या है ? कि जगत में जो अन्य दर्शन हैं, उनमें तत्त्व अनेक प्रकार से कहे हैं और ये नवतत्त्व की बात यदि यहाँ नहीं कही जाती, तो ये किसी भी दर्शन के तत्त्वों को जानकर गृहीत मिथ्यात्व से शुद्धात्मा को पाने की चेष्टा करता। तत्त्व तो बहुत कहे हैं न ! जैसे सांख्यमत भी तत्त्व कहता है, नैयायिक कुछ कहता है, वैशेषिक कुछ कहता है, मीमांसक कुछ और कहता है। इस तरह से अलग–अलग प्रकार से अलग–अलग वस्तु का स्वरूप बताया है। अगर ये नवतत्त्व की बात सर्वज्ञ–उपदिष्ट है, भगवान सर्वज्ञ ने जो कहे हैं सात तत्त्व अर्थात् नव पदार्थ अथवा नवतत्त्व, वो एक ही बात है। उसमें पुण्य और पाप का भेद कर दिया है। सात तत्त्व में पुण्य और पाप का भेद नहीं है। भेद किया अर्थात् जितना भेद है उतना भेद जानना चाहिए।

ये नवतत्त्व अगर नहीं जाने गये, जो भगवान सर्वज्ञ ने कहे हैं, तो सचमुच वो शुद्धात्मा की ओर जाएगा ही नहीं क्योंकि बहुत से दर्शन आत्मा को एकमात्र शुद्ध ही कहते हैं कि पुरुष जो है, वो तो पवित्र है और जो प्रकृति है, वो जड़ है। प्रकृति जड़ है और प्रकृति के संयोग से पुरुष जो मैला हो जाता है। माने पुरुष तो वास्तव में पवित्र है तो वो विकार को स्वीकार ही नहीं करते।

यहाँ तो पहले विकार को स्वीकार करना। अध्यात्म–पद्धति भी यह है और आगम–पद्धति भी यह है कि पहले विकार को स्वीकार करे, विकार को दुखद माने, विकार को महाकष्टप्रद माने, आकुलतामय माने। जब ये आकुलता का अनुभव करेगा, तो उस आकुलता को मिटाने के

लिए उपाय सोचता है और उसका उपाय है कि ये पैदा कैसे हुए थे ? कि मैं स्वरूप से चिगा, शुद्धात्मा से चिगा क्योंकि जगत में कोई भी अपना मानने लायक नहीं है। केवल शुद्धात्मा ही अपना मानने लायक है। शुद्धात्मा से चिगा तो आस्रव-बंध का जन्म हो गया। कैसे हो गया ? कि शुद्धात्मा से चिगा तो अन्य में ममत्व कर बैठा, इसका नाम आस्रव-बंध है। अन्य में राग-द्वेष कर बैठा, इसका नाम आस्रव-बंध है।

इस प्रकार अच्छी तरह से संपूर्ण निदान करके, युक्तियों से उसने आस्रव-बंध को जानकर, आस्रव-बंध एकदम आकुलतामय हैं - बस, ऐसा विचार करके वो शुद्धात्मा की ओर ढला तो आस्रव और बंध समाप्त हुए और संवर-निर्जरा प्रगट हुए और अंत में मोक्ष प्रगट हो जाता है।

इसलिए नवतत्त्व वो भगवान सर्वज्ञ के कहे हुए हैं। नौ ही हैं, दस नहीं है और आठ नहीं हैं अर्थात् सात ही हैं, आठ नहीं है, छह नहीं हैं। इस तरह से उनकी श्रद्धा करके और उनके स्वरूप को जानकर.... श्रद्धा करके ऐसा कहना तो सारी बात ज्ञान परक ही है। ज्ञान में ही होगी क्योंकि सम्यग्दर्शन में श्रद्धा तो केवल आत्मा की ही है, बाकी और तो नवतत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि जो व्यवहारी है, उसको भी नवतत्त्व का श्रद्धान होता है, लेकिन वो मिथ्यादर्शन है।

**मुमुक्षु :-** नवतत्त्व को जानने से एक तो गलती क्या है, वो समझ में आती है और गलती सुधर जाने के बाद फल क्या पाता है, वो भी समझ आता है!

**पूज्य बाबूजी :-** फल क्या पाता है और गलती क्यों पैदा हुई। गलती है एक बात! गलती क्यों पैदा हुई वो दूसरी बात! गलती कैसे टलेगी और उसका फल क्या होगा ? इसलिए साथ में भूतार्थ शब्द दिया है। केवल नवतत्त्व को जाने तो वो तो मिथ्यादर्शन की ही प्रवृत्ति है,

क्योंकि आत्मा को जो एकरूप है, शुद्ध है, ध्रुव है, उसको नौ रूप माना तो इसका नाम मिथ्यादर्शन है। आत्मा को नौ प्रकार का माना और आत्मा नौ प्रकार का होता नहीं है। व्यवहारनय जरूर पर्याय की ओर से उसे नौ प्रकार का कहता है; ये पर्यायार्थिकनय का विषय है। सारे ही नवतत्त्व पर्यायार्थिकनय के विषय हैं। इसलिए पर्यायार्थिकनय भले ही कहे, क्योंकि वे हैं इसलिए वो कहेगा जरूर, लेकिन पर्यायार्थिकनय के द्वारा कही गई बात क्योंकि उसमें दुख भी शामिल है, इसलिए दुखद होने से वो ग्राह्य और उपादेय नहीं हो सकती। इसलिए वो भूतार्थ के आश्रय से, शुद्धात्मा के आश्रय से नवतत्त्वों को जानता है और जो नवतत्त्व का विचार करता है, तो नवतत्त्वों का विचार रुककर शुद्धात्मा में स्थापित हो जाता है। इसका नाम भूतार्थ से जाने हुए नवतत्त्व वो सम्यग्दर्शन हैं।

तो ये बताना कितना सुंदर रहा कि तुम्हें यदि सम्यग्दर्शन पैदा करना है, तो तुमको पहले ये नवतत्त्वों तक आना पड़ेगा। सात तत्त्व तक आना पड़ेगा अथवा संक्षेप में कहें तो जीव और अजीव तक आना पड़ेगा। संक्षेप में ये हो जाएगा, तो यहाँ आना ही पड़ेगा। इनका भेद जानकर ये मैं नहीं हूँ और इनसे भिन्न मैं एकदम शुद्ध ज्ञायक हूँ, ये बात गुरु के प्रसाद से जो प्राप्त हुई – उसे जानना ही पड़ेगा और यदि उसे नहीं जानता है, तो शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिए निमित्त की ओर से और व्यवहार की ओर से वो बात कही गई है। वो व्यवहार के विषय हैं, उनको कहा है कि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तम् (समयसार गाथा 13) तीर्थधर्म की प्रवृत्ति के लिए। तीर्थ माने व्यवहार-धर्म। शुभभाव!

**मुमुक्षु :-** व्यवहार-धर्म माने ?

**पूज्य बाबूजी :-** शुभभाव की प्रवृत्ति। आस्रव-बंध का विचार करता है तो भी शुभभाव होते हैं।

**मुमुक्षु :-** वाह! ये पाप है इतना विचार करे वो भी शुभभाव?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! ये पाप है ऐसा कहना पाप नहीं है, कहना तो पुण्य है।

**मुमुक्षु :-** और ये जाने कि यह तो पाप है ये भी पुण्य है।

**पूज्य बाबूजी :-** जाने तो भी पुण्य है कि ये आस्रव-बंध आकुलतामय हैं ये जाना, तो वो तो पुण्यभाव है। ज्ञानभाव है साथ में और उसका फल जो है वो पुण्यभाव है।

**मुमुक्षु :-** तो व्यवहार-धर्म की प्रवृत्ति का अर्थ जो आया 13वीं गाथा में....

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! उसको तीर्थ कहा। तीर्थ इसलिए कहा क्योंकि तीर्थ तो वास्तव में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। लेकिन निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति यहाँ आने पर होती है, इसलिए इसको तीर्थ कहने से कितना लाभ हुआ? कि हम यदि यहाँ आकर उस आत्मा की प्राप्ति के लिए भिन्न पुरुषार्थ करें, तो सम्यग्दर्शन हो सकता है। इसलिए इसको तीर्थ कहना, मात्र कहना उपयुक्त है। कहना सही है, पर मानना मिथ्यादर्शन है।

**मुमुक्षु :-** माने नवतत्त्वों को तीर्थ कह सकते हैं?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! नवतत्त्व का विचार ही हुआ न, व्यवहार-धर्म की प्रवृत्ति के लिए!

**मुमुक्षु :-** नवतत्त्व का विचार तीर्थ है। भूतार्थ से जाने....।

**पूज्य बाबूजी :-** भाई! व्यवहार-धर्म की प्रवृत्ति कहा न, तो शुभभाव हुए। पाप भाव तो व्यवहार-धर्म में होते नहीं हैं। व्यवहार-धर्म कहा न, केवल व्यवहार नहीं कहा। केवल व्यवहार कहे तो पापभाव भी

आ जाए। तो व्यवहार-धर्म माने पुण्य, शुभभाव; और उसके साथ ज्ञान के स्वरूप को जाने। ज्ञान के स्वरूप को जाने तो उसका फल होता है पुण्यभाव! पुण्यभाव भी साथ चलता है। ज्ञान अगर उनके स्वरूप को न जाने और केवल पुण्य के विकल्प करे, तो कुछ नहीं होगा। उनके स्वरूप को जानने से ही कार्य होता है, इसलिए उसको तीर्थ नाम देना बहुत सुंदर है।

## व्यवहार कथन की उपयोगिता

उदाहरण के लिए जैसे अपने घर में कोई एक कमरा है और उसमें हम भोजन बनाते हैं, तो उस कमरे को भी रसोई के नाम से पुकारते हैं। उस कमरे को रसोई के नाम से पुकारना बहुत अच्छा है मगर उपादेय नहीं है, श्रद्धा करने लायक नहीं है। लेकिन यदि उसे रसोई नहीं कहा जाएगा तो भोजन की उपलब्धि ही नहीं होगी, तो फिर हम उपादेय से भी वंचित रह जायेंगे। क्योंकि जैसे बच्चा ये कहता है कि माँ भूख लगी है। अब रोटी कहाँ है? तो अगर वो ये जवाब दे कि रोटी जो है वो तो रोटी में है अथवा रोटी तो कटोरदान में है। तो वो पूछता है कि कटोरदान कहाँ है कि कटोरदान कटोरदान में है, लेकिन ऐसा कहने से रोटी की प्राप्ति नहीं होगी।

इसलिए कहना ही पड़ेगा कि वो रसोई में है और रसोई तो वास्तव में भोजन को कहते हैं; रसोई के पत्थर को नहीं कहते और उसको कोई खाता भी नहीं है। लेकिन उसको अगर रसोई नाम न दें, तो असली रसोई की प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह इन नवतत्त्वों को तीर्थ नाम ना दें तो असली तीर्थ की उत्पत्ति नहीं होती।

ये तो बम्बई है न! अब मुझे यदि कोटा जाना है, तो मैं बम्बई स्टेशन पर जाकर ये पूछूँगा कि कोटा का प्लेटफॉर्म कौनसा है? तो कोटा का

प्लेटफॉर्म तो कोटा में होता है। बम्बई में कोटा का प्लेटफॉर्म कहाँ से आया ? लेकिन यदि मैं ये नहीं पूछूँ और ये पूछूँ कि बम्बई का प्लेटफॉर्म कौनसा है, तो कोटा नहीं पहुँच सकूँगा। इसलिए मुझे ये असत्यार्थ कहना ही पड़ेगा वहाँ। इस प्रकार का असत्यार्थ-झूठ कहना ही पड़ेगा कि कोटा का प्लेटफॉर्म कौनसा है ?

**मुमुक्षु :-** माने कोटा जानेवाली गाड़ी का प्लेटफॉर्म कौनसा है ?

**पूज्य बाबूजी :-** इसका यही अर्थ हुआ न ! पर कहना ये पड़ेगा कि कोटा का प्लेटफॉर्म कौनसा है और कोटा से बम्बई आना हो तो बम्बई का प्लेटफॉर्म कौनसा है ऐसा कहना पड़ेगा, यद्यपि वो कोटा में नहीं है। व्यवहार को असत् कहा न ! अविद्यमान कहा न ! है विद्यमान ? नहीं है। तो भी कहा तो वास्तविकता की उपलब्धि हो गई न ! अर्थात् मुझे मात्र ऐसा पूछने से बम्बई मिल गया, और यदि मैं केवल कोटा का प्लेटफॉर्म पूछता रहता तो मुझे वो नहीं मिलता।

**मुमुक्षु :-** माने सही तीर्थ के लिए नवतत्त्व को तीर्थ कहना, वो प्लेटफॉर्म है ?

**पूज्य बाबूजी :-** प्लेटफॉर्म है वो ! उस प्लेटफॉर्म तक आना पड़ेगा। अन्य कोई प्लेटफॉर्म इस विश्व में नहीं है, ये भी साथ में मानना पड़ेगा। अन्य कोई प्लेटफॉर्म दुनिया में नहीं हैं, केवल है तो सर्वज्ञ प्रतिपादित ये सात तत्त्व हैं, और कुछ नहीं, ये अर्थ है उसका !

**मुमुक्षु :-** माने नवतत्त्वों का विचार शुभभाव की प्रवृत्ति है। वो शुभभाव की प्रवृत्ति अगर एकांत से पुण्य के भाव की होती तो पाप के साथ की ही होती थी और ये नवतत्त्व का जो विचार होगा वो तीर्थ कहलाया जाता है !

**पूज्य बाबूजी :-** नवतत्त्व का होगा तो उनके स्वरूप के ज्ञानपूर्वक

पुण्यभाव प्रवर्तित होगा। शुभभाव प्रवर्तित होगा, क्योंकि ज्ञान नहीं होगा तो फिर छोड़ने की और उपादेय की बात कहाँ से पैदा होगी? ज्ञान होगा तभी तो मालूम पड़ेगा कि ये छोड़ने लायक है और उपादेय एकमात्र भूतार्थ अर्थात् मेरा शुद्धात्मा है; गुरुदेव ने ऐसा ही फरमाया ही था।

**मुमुक्षु :–** माने नौ ही तत्त्व के ज्ञानपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है, वो ज्ञानपूर्वक वाली प्रवृत्ति को तीर्थ कह दिया?

**पूज्य बाबूजी :–** वहाँ शुभभाव होते हैं उसको तीर्थ कहा है।

**मुमुक्षु :–** और कर्ता–कर्म की प्रवृत्तिवाला पुण्यभाव होता है, वो पाप सहित होता है?

**पूज्य बाबूजी :–** वो पाप सहित होगा, मिथ्यात्व का पाप!

**मुमुक्षु :–** पर यहाँ तो ये बात आई बाबूजी कि शुद्धनय से भूतार्थ को जानने से...तो अब सही जानना कहा?

**पूज्य बाबूजी :–** भूतार्थ से जाने हुए नवतत्त्व सम्यग्दर्शन ही हैं। अब इसका अर्थ क्या हुआ? उसमें भूतार्थ मुख्य है। भूतार्थ से जाने गए, शुद्धात्मा की दृष्टि से जाने गए जो नवतत्त्व हैं, वे सम्यग्दर्शन हैं। तो भूतार्थ शुद्धात्मा हो गया और जो नवतत्त्व हैं, वो व्यवहार सम्यग्दर्शन में चले गए!

**मुमुक्षु :–** तो भूतार्थ साधन बन गया या भूतार्थ को जानना साधन बन गया?

**पूज्य बाबूजी :–** साधन कोई भी नहीं बना। नवतत्त्व साधन नहीं हैं। लेकिन साधन कहना इसका नाम व्यवहारनय और बाधक मानना इसका नाम निश्चयनय!

बाधक हैं, क्योंकि मुझे विचार नहीं करना है, मुझे तो अनुभूति करना

है, मुझे ज्ञायक तक पहुँचना है। ज्ञायक तक पहुँचने में ये बाधक हैं क्योंकि ये विचार आता है और मुझे तो वहाँ पहुँचना है, ये तो बीच में व्यवधान है इसलिए वास्तव में बाधक है। लेकिन यदि ये नहीं हों, यहाँ तक मैं नहीं आऊँ, इस प्लेटफॉर्म तक! तो वो प्राप्त नहीं हो सकेंगे। इसलिए यहाँ मुझे आना पड़ता है। वो जाने गये प्रयोजनवान हैं - ऐसा 12वीं गाथा में आया है। व्यवहार जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है। जान लिए गये हेयबुद्धि से जान लिये गये। बस! हो गया काम!

**मुमुक्षु :-** बराबर! तो पहले भूतार्थ को जानना वो कार्य बनकर रह गया?

**पूज्य बाबूजी :-** भूतार्थ को जानना वो वास्तविकता है। बात तो दोनों ही आएगी न! कि ये नवतत्त्व हैं वो तू नहीं है। इनसे न्यारा एक शुद्ध चैतन्य की बात आई न! तो वो नवतत्त्व पर विचार करने लगा और उधर शुद्धात्मा का स्वरूप जाना, तो नवतत्त्व का विचार करते-करते विचार रुका और शुद्धात्मा में स्थापना हो गयी।

**मुमुक्षु :-** नवतत्त्व का विचार करते-करते विचार रुका और शुद्धात्मा में स्थापना हो गयी।

**पूज्य बाबूजी :-** इसलिए यहाँ पर व्यवहार और निश्चय ये दोनों बताये हैं। ये दोनों बताए कि निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार कैसा चाहिए क्योंकि व्यवहार के अनेकरूप होते हैं। **हम यदि यहाँ व्रत, समिति, गुप्ति का व्यवहार लावें तो उससे नहीं होगा। मुनियों के 28 मूलगुण का लावें तो नहीं होगा। श्रावक के 12 व्रतों का व्यवहार लायें तो नहीं होगा। नवतत्त्व के विचार को लायें तो सम्यग्दर्शन हो सकेगा। होने की ग्यारंटी नहीं है। भूतार्थ का निश्चय हो और उसकी महिमा हो तो हो जाएगा।**

**मुमुक्षु :-** तो ग्यारंटी वाली बात ही लेवें न फिर! व्यवहार क्यों सोचें?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! जिसकी ग्यारंटी है वही करें न! लेकिन उसका अर्थ कुछ का कुछ किया जाता है, उसका वो अर्थ नहीं है। उसका सीधा अर्थ ये है कि व्यवहार-निश्चय ये दो बताए हैं। व्यवहार की भूमिका कैसी होती है? सम्यग्दर्शन के लिए व्यवहार की भूमिका सात तत्त्वरूप, सात तत्त्व के विचाररूप है। पुण्यभाव उसके साथ-साथ चलता है।

सात तत्त्व का विचार – ये उसकी भूमिका है। और फिर होगा वो पुरुषार्थ इससे भिन्न होगा। नवतत्त्व कोई साधन हों या नवतत्त्व कोई कारण हों, तो ऐसा नहीं है। लेकिन नवतत्त्व के विकल्प तोड़कर और फिर शुद्धात्मा का विकल्प करे और शुद्धात्मा का विकल्प भी तोड़कर शुद्धात्मा में स्थापित हो जाए, तो होगा।

**मुमुक्षु :-** बड़ा लंबा काम दिखता है?

**पूज्य बाबूजी :-** लंबा तो नहीं है, एक क्षण में हो जाता है। नवतत्त्व का विचार किया कि इनमें से मैं हूँ ही नहीं। पहला जीवतत्त्व भी मैं नहीं! पहला जीव तत्त्व माने देव-नारकी कहलाता है और पहला जीवतत्त्व मनुष्य, तिर्यंच, नारकीवाले जीवतत्त्व से न्यारा ज्ञायक है, चिन्मात्र है।

इसलिए नवतत्त्व को यदि पर्यायार्थिकनय से लें, तो फिर वो ज्ञायक दसवाँ होता है। ये सब पर्यायार्थिकनय के विषय हैं। पहला जीवतत्त्व भी पर्यायार्थिकनय का विषय है।

**पूज्य बाबूजी :-** वो जीव तत्त्व नौ से ही भिन्न है। नौ को परद्रव्य कहा है तो मिथ्यादृष्टि को जो नवतत्त्व का श्रद्धान होता है, वो मिथ्यादर्शन है, क्योंकि वो उनको भूतार्थ से नहीं जानता है। नवतत्त्व को जानता है!

ये जानता है कि नवतत्त्व के विचारपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है – ऐसा जिनवाणी में लिखा है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है – ऐसा लिखा है, तो वो तत्त्वों का श्रद्धान करने लगता है। नौ हैं, नौ का स्वरूप ये है – इस तरह विचार करने लगता है। मेरे को आस्रव-बंध हैं। इन आस्रव-बंध को तोड़कर संवर-निर्जरा प्रगट करके मोक्ष चला जाऊँगा। बस! ऐसा करता है। ये मिथ्यात्वरूप प्रवृत्ति है, क्योंकि नौ की श्रद्धा है – आत्मा एक है और एकरूप है और जो नौ तत्त्व हैं, वो नौ रूप हैं।

## आत्मा का एकरूपत्व

**मुमुक्षु :**– एक है और एकरूप है, माने क्या?

**पूज्य बाबूजी :**– एक है, सदा एकरूप रहने वाला। ये नौ हैं, ये नौ रूप हैं और आत्मा नौरूप है ही नहीं, लेकिन वो रहता है नौ के बीच में ही। ये नौ के बीच में, पर नौ के बीच में रहने पर भी वो नौ रूप नहीं होता, वो सदा ही एकरूप ही रहता है। कुछ भी हो लेकिन वो बिगड़ता नहीं है।

प्रकाश है जैसे, प्रकाश! इस पृथ्वी पर सब जगह प्रकाश फैला हुआ है। अब उस प्रकाश में हम कितना इत्र छिड़कें कि वो प्रकाश सुगंधित हो जाए? या फिर यूँ कहें कि अटैची बंद करो वरना ये प्रकाश हमारे नोट ले जाएगा! तो प्रकाश पर इतना भरोसा रहता है। उसी तरह ज्ञान पर, ज्ञानमय चिदात्मा पर इतना भरोसा होना चाहिए।

नवतत्त्व सम्यग्दर्शन के विषय अर्थात् सम्यग्दर्शन के निमित्त कहे जाते हैं यदि सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ नवतत्त्व के विचार से अलग किया जाए, तो निमित्त कहे जा सकते हैं। अन्यथा निमित्त भी नहीं हैं। कार्य हो तो निमित्त कहलाता है।

वह आत्म ज्योति नवतत्त्व में छिपी हुई अर्थात् नौ में रहती है – इसमें

एक प्रश्न और होता है कि वह आत्मज्योति जीवतत्त्व में तो रही, पहले तत्त्व में! जैसे मनुष्य है तो ये मनुष्य देह है, मनुष्याकार और ये पुद्गल का आकार है, तो इसके भीतर आत्मा है कि नहीं है? है न! ज्ञायक है न इसके भीतर। शुद्धात्मा है या नहीं? इसी तरह अजीव तत्त्व है लेकिन शुद्धात्मा अजीव में तो होता नहीं है, फिर नवतत्त्व में छिपी हुई ज्योति क्यों कहा है? तो आचार्य को वह बात तो सार्थक करना पड़ेगा न! तो वो आत्मा अजीव में कैसे छुपा हुआ है? **तो यहाँ अजीव नहीं, अजीव के संबंध में चलने वाले विकल्प को अजीव कहा है। अजीव में तो आत्मा होता ही नहीं है। उसमें तो होगा ही नहीं। तो अजीव के संबंध में चलनेवाले जो विकल्प हैं - ये मेरा नहीं है, ये भिन्न है इत्यादि विकल्पों की बात है।**

**मुमुक्षु :-** देह अजीव है, अभी उसकी बात तो है ही नहीं?

**पूज्य बाबूजी :-** वो तो है ही सही अजीव लेकिन ये उसके सम्बन्ध में होने वाले विकल्प भी अजीव है।

**मुमुक्षु :-** माने भूख का ज्ञान होवे वो विकल्प अजीव है। यहाँ अजीव में से जीव खोजना है?

**पूज्य बाबूजी :-** उन विकल्पों में तो जीव बैठा है, शुद्धात्मा बैठा है। वरना नौ कैसे रहेंगे? आठ रह जायेंगे फिर तो! आचार्यों का वचन नौ का है, नवतत्त्व में छिपी हुई आत्मज्योति! और में तो जीव होता ही है, आस्रव में होता है, बंध में होता है, संवर में होता है और निर्जरा में होता है, मोक्ष में होता है। और का जब अभाव हो जाता है, तो वो मोक्ष में रहता है। मोक्ष में रहता है, लेकिन वो रहता ज्ञायक ही है, जो शुरू से चला था।

**मुमुक्षु :-** आस्रव-बंध में कैसे रहता है?

**पूज्य बाबूजी :- आस्रव-बंध में भी है, वहीं तो है। आस्रव-बंध ही नहीं होगा अगर आत्मा नहीं हो तो। किसको होगा ? पत्थर को होगा क्या ? दीवार को होगा ? तो पहले आत्मा तो होना चाहिए।** पहले आत्मा हो फिर उसकी पर्याय बिगड़े तो उसका नाम आस्रव-बंध कहा जाए। आत्मा को नहीं जानने से आत्मा की पर्याय बिगड़े, मलिन हो, उसका नाम आस्रव-बंध है।

**मुमुक्षु :-** पर्याय का जो बिगाड़ है, उसे आस्रव-बंध कहते हैं।

**पूज्य बाबूजी :-** उसको आस्रव-बंध कहते हैं। कर्म नोकर्म तो अजीव में चला जाएगा।

**मुमुक्षु :-** बराबर ! पर्याय में जो विकार है, वो आस्रव है। कभी-कभी हम भावकर्म को परद्रव्य भी कह देते हैं।

**पूज्य बाबूजी :-** भावकर्म, पुद्गल है !

**मुमुक्षु :-** जीव के भाव कर्म ?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ ! जीव के हैं ! ये तो हमने पहले कहा था। अब chapter (पाठ) बदल गया। पाठ बहुत आगे बढ़ गया। बीस बरस तक हमने बेटी को अपना कहा लेकिन सातवे फेरे के एक क्षण के बाद अपना कहना छोड़ दिया। भले ही कहने को अपना कहें, लेकिन मानना तो बिल्कुल छोड़ ही दिया कि एक percent (प्रतिशत) भी अब हमारी नहीं है। बीस बरस तक कहा है। इसलिए ये बात पहले chapter (पाठ) की थी। अब chapter (पाठ) बदल गया और प्रयोग का पाठ चल गया।

**मुमुक्षु :-** निश्चयनय आश्रित मुनिवरा - आश्रय करना तो पर्याय का स्वभाव है। तो आश्रय के समय में कर्ता-कर्म की अनुभूति होती है ?

**पूज्य बाबूजी :–** नहीं! नहीं! आश्रय करने का अर्थ वो पर्याय अपने भीतर ही आश्रयरूप–लक्षरूप प्रवर्तित होती है, उसका नाम आश्रय है। पर्याय अपने भीतर ही भीतर उस शुद्धात्मा के लक्षरूप प्रवर्तित होती है, उसका नाम आश्रय कहलाता है। आश्रय माने साक्षात् आश्रय – जैसे कोई दीवार का सहरा लेकर बैठता है, ऐसा आश्रय नहीं।

**मुमुक्षु :–** भीतर माने क्या?

**पूज्य बाबूजी :–** भीतर माने मैं ज्ञायक हूँ, बस ये। इसका नाम आश्रय है।

**मुमुक्षु :–** पर बाबूजी! ये इतना नजदीक है कि ऐसा लगता है कि मानो अपने में आ गया हो!

**पूज्य बाबूजी :–** वो विषय बन जाता है।

## ज्ञान और राग के बीच की संधि

**मुमुक्षु :–** ये जो रागादिभाव हैं, वो इतने नजदीक हैं कि जैसे हमारे क्षेत्र में आ गये हों, ऐसा भी तो लगता है न!

**पूज्य बाबूजी :–** ऐसा लगता है, यही सबसे बडी झंझट है – ऐसा लगता है...तो और बारीक अनुसंधान करना चाहिए, दोनों में क्योंकि मेल तो है नहीं। वो शुद्ध है, पवित्र है, निर्मल है, निर्दोष है, नित्य है, और इधर ये विकार उससे बिल्कुल विपरीत है। इसका अर्थ ये कि दोनों में कहीं न कहीं, कोई न कोई संधि है। बस! उस संधि पर प्रज्ञा की चोट करना चाहिए तो दो दिखाई देते हैं। दो हैं और दो ही दिखाई देंगे।

**मुमुक्षु :–** ये संधि देखना मुश्किल है क्योंकि ये बहुत पास में हैं!

**पूज्य बाबूजी :–** मुश्किल कुछ भी नहीं है। दोनों अपने स्वलक्षणों से जाने जाते हैं – ये आचार्यों ने कहा है। अच्छा तो कैसे जानें? कि ज्ञान

का जो लक्षण है, वो जाननेरूप है, वो चेतन है। और इनका जो लक्षण है वो बिल्कुल अचेतन है क्योंकि ये चेतन में पाए जाने पर भी वास्तव में इनका जो स्वभाव है, वो अचेतन है। चेतन जैसा इनका स्वभाव और स्वरूप बिल्कुल नहीं है। बस! इनकी ये संधि जान ली। बारीक से बारीक जान लेते हैं न! नकली-असली कैसे जानते हो आप?

**मुमुक्षु :-** क्योंकि ये लक्षण जो है, एक जड़भावरूप और एक चेतनभावरूप, वो वर्तमान में भी थोड़ा सा स्थिरता से विचार करें तो दोनों के लक्षण अलग हैं, वो समझा जा सकता है। पर प्रदेश इतने बाजू में हैं कि वो समझने पर भी गलती हो जाती है!

**पूज्य बाबूजी :-** प्रज्ञा तीक्ष्ण हो तो कुछ भी गलती नहीं होती है। एक जो ज्वेलर होता है न! वो सोने की एक डली लेता है। उसमें आधा सोना है और आधा तांबा है और वो बिल्कुल उसमें संधि कर लेता है। संधि है या नहीं उसमें? और बिल्कुल एक दिखाई देती है। चीज एक दिखाई देती है लेकिन दो हैं और उसमें बीच में संधि है। तो वो संधि को देख लेता है कि आधा सोना है और आधा तांबा है।

बस! इसी तरह ये देखे कि यह डली है। ये आस्रव-बंध और ज्ञायक - ये एक डली, एक स्कन्ध जैसा है। पुद्गल के जैसा स्कन्ध नहीं है पर एक पिंडरूप स्कन्ध है - ज्ञानी जान लेता है कि इसका तो बिल्कुल स्वरूप ही अलग है। बस! वो प्रज्ञा से अर्थात् ज्ञान से सोने को भिन्न जान लेता है।

एक जो इत्रवाला है, वो किसी राजा के पास इत्र लाया। और वो बहुत अच्छा इत्रवाला कहलाता था। तो उसको तो ये विश्वास था कि मेरे इत्र को कोई ठुकरा नहीं सकता। माने pass (उत्तीर्ण) न करे ऐसा नहीं हो सकता। वो राजा के पास लाया और राजा को उसने गुलाब का इत्र

दिया। राजा ने सूँघकर कहा कि जाओ जहाँ भैंसें बाँधते हैं, इसको वहाँ फैंक दो। तो वो इत्रवाला बड़ा हैरान हुआ कि क्या बात है? तलाश करना चाहिए।

फिर इत्रवाले ने तलाश किया तो क्या था कि वो जो गुलाब की बाड़ी थी, उस गुलाब के फूलों की बाड़ी में जो पानी आता था वो प्याज के खेत से आता था। तो राजा ने कहा कि इसमें प्याज की बू आती है। अब ये संधि कैसे देख ली उसने?

ये राजस्थान के नरेश की बात है। सच्ची घटना है! राजस्थान में ऐसे नरेश हुए हैं कि नौकर पानी लाता है तो वो राजा कह देगा कि ये यह बीकानेर के घड़े का पानी है, फिर कोई दूसरा लाएगा तो कहे कि ये जैसलमर के घड़े का है।

**मुमुक्षु :-** खुशबू से मालूम पड़ जाता है!

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! उससे पता लगता है।

सामान्य आदमी होता तो उसको तो इत्र की खुशबू आती! लेकिन उसने तो ज्ञान को बहुत बारीक, सूक्ष्म और तीक्ष्ण करके देखा न कि इसमें से तो प्याज की गंध आती है। इसको वहाँ फेंक दो जहाँ अपन भैंसें बाँधते हैं।

**मुमुक्षु :-** पर बाबूजी! वहाँ तो दो मूर्त्त पदार्थ हैं। यहाँ तो एक मूर्त्त है और एक अमूर्त्त है। वो दिक्कत वाली बात है?

**पूज्य बाबूजी :-** लक्षणों से आराम से हो सकता है। मूर्त्त-अमूर्त्तपने का कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। लक्षणों से देखा जाए तो तुरंत समझ में आता है।

**मुमुक्षु :-** ज्ञान है जाननभावरूप है और राग आकुलताभावरूप है!

**पूज्य बाबूजी :**– राग तो आकुलतारूप है ही सही। वो स्थिर नहीं रहता, उसका कोई विषय नहीं है। सबसे बड़ी कमजोरी उसकी ये है कि वो जिसको विषय बनाता है उसको ग्रहण ही नहीं कर पाता। अभव्य शुभ राग भी करता है, अशुभ भी करता है, सभी तरह का राग करता है लेकिन एक भी विषय का एक कण भी ग्रहण नहीं कर सकता। ये उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है। इसलिए वो राग व्यर्थ है – ये राग की व्यर्थता है और ज्ञान जब अपने स्वरूप में जमता है तो आनंद के फव्वारे चलते हैं। ज्ञान का श्रम ऐसा है, इसलिए राग के लिए तो श्रम करना ही व्यर्थ है, चाहे शुभ हो चाहे अशुभ हो।

**मुमुक्षु :**– ज्ञान कभी खाली हाथ नहीं आता। राग तो खाली हाथ आता–जाता रहता है!

**पूज्य बाबूजी :**– खाली हाथ आता है बिल्कुल! वो तो एकदम छोड़ो! आचार्य तो यूँ कहते हैं कि एकदम छोड़ दो। आचार्यों का उत्साह ऐसा है; क्योंकि इनसे कभी भी कुछ नहीं मिल सकता है। इसलिए वो व्यर्थ है। उसके लिए किया गया श्रम भी बिल्कुल व्यर्थ है क्योंकि उसका कोई उत्पादन नहीं है, उत्पादन है तो मात्र आकुलता है, क्योंकि उससे कुछ प्राप्त तो होता नहीं है और सर्वत्र आकुलता ही आकुलता है।

**मुमुक्षु :**– ज्ञान कभी खाली हाथ नहीं आता। यदि ज्ञायक के सन्मुख होवे तो भी थोड़ी बहुत तो खुशी लेकर आता है।

**पूज्य बाबूजी :**– उसमें जो भरा हुआ है वो उसको लेकर ही आता है। खुशी होती है न! विषय जैसी खुशियाँ नहीं होती।

**मुमुक्षु :**– हाँ! मगर वो अलग किसम की होती है। वो बात सही है एकदम।

**पूज्य बाबूजी :**– इसलिए उसको सविकल्प स्वसंवेदन कहा।

## नव तत्त्व अवस्तु हैं

**मुमुक्षु :**- बाबूजी! ये नवतत्त्व को अवस्तु जो बोला है वो कितना यथार्थ है?

**पूज्य बाबूजी :**- अवस्तु हो गई न! मैं नौ प्रकार का नहीं हूँ, मैं केवल एक ही प्रकार का हूँ। बस! ऐसा जानकर उनसे छूट गया तो वो अवस्तु हो गई! वस्तु तो अब केवल ज्ञायक बन गया। अगर उनको भी वस्तु माने तो ज्ञान फिर उधर भी ज्ञान जाएगा।

जब ये ज्ञायक की ओर सन्मुख होता है, तो इससे पूछा जाए कि तुझे क्या दिख रहा है? तो उसके आसपास सब हैं, जहाँ ज्ञायक है वहीं पर ही ये नवतत्त्व हैं, लेकिन जिसने ज्ञायक को एकदम सीधा लक्ष्य-वेध करना उद्देश्य बनाया है, तो उससे पूछा जाए कि तुझे क्या दिखाई दे रहा है? मुझे तो एकमात्र ज्ञायक दिखाई दे रहा है। और नौ कहाँ गए? कि नौ हैं ही नहीं, अवस्तु हैं। नौ हैं ही नहीं। अगर वो उनकी भी सत्ता स्वीकार करे, तो वो कभी भी ज्ञायक का लक्ष्य-वेध नहीं कर सकेगा। लक्ष्य-वेध का तरीका ही यही है।

**मुमुक्षु :**- अर्जुन क्या दिखता है तुझे?

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! लेकिन अर्जुन का उदाहरण कि एक आँख दिखती है, ये जरा अच्छा नहीं लगता है, क्योंकि अर्जुन हिंसक थोड़े ही था। चाहे भले ही कि कोई कहे कि वो तो मिट्टी की थी, तो मिट्टी की हो तो भी पाप तो बराबर का लगता है, इसलिए वो उदाहरण देना नहीं चाहिए। दूसरे प्रकार का देना चाहिए।

## पर्याय सत् है या असत्

**मुमुक्षु :**- दो-तीन दिन पहले एक दूसरी बात आई थी कि पर्याय

की जो बात चल रही थी कि कथंचित् सत् और कथंचित् असत् – ये किस तरह से स्पष्ट होता है?

**पूज्य बाबूजी :**– विद्यमान पर्याय केवल वर्तमान समयमात्र होती है, शेष जो भूत और भविष्य की पर्यायें हैं वे अभी नहीं हैं, इसलिए वे असत् हैं। असत् तो हैं लेकिन वे होने वाली हैं, वे होंगी और होंगी तो वर्तमान पर्याय का व्यय होकर और नई पर्याय आएगी। ये नई पर्याय पहले नहीं थी और नई आई है – इस ओर से देखा जाए तो असत् का जन्म मालूम होता है, और सर्वथा असत् के जन्म से जैनदर्शन इनकार करता है, बल्कि सारे ही दर्शन इनकार करते हैं। गधे के सींग कभी नहीं हो सकते, आकाश में फूल कभी नहीं हो सकते।

इस तरह जो असत् है उसका जन्म नहीं हो सकता। इसलिए जैनदर्शन कहता है कि ये कथंचित् असत् है। कथंचित् असत् है अर्थात् इसके पीछे एक शक्ति पड़ी है, एक गुण पड़ा है, और वो गुण पड़ा है तो वो पर्याय पैदा होती है। **अगर गुण न हो तो ये पर्याय पैदा नहीं होती। इसलिए सत् रूप गुण पड़ा है और वहाँ से ये उत्पन्न हो रही है इसीलिए ये कथंचित् सत् है; सर्वथा असत् नहीं है। सर्वथा असत् तो तब हो जब उसके पीछे गुण ही नहीं हो।**

बिना गेहूँ की रोटी बन जाए तब तो ठीक माना जा सकता है। लेकिन रोटी बन रही है तो वहाँ गेहूँ नहीं दिखायी देता, लेकिन कैसे बनी? कहते हैं कि वहाँ गेहूँ था।

**मुमुक्षु :**– रोटी बन रही है तो गेहूँ दिखायी नहीं देते। फिर भी हैं कि नहीं? वो सत् भी है और असत् भी है?

**पूज्य बाबूजी :**– इस तरह शक्ति पड़ी है। इसलिए विद्यमान पर्याय कथंचित् सत् है और कथंचित् असत् है। 'कथंचित् असत् है' का अर्थ

ये हुआ कि पहले नहीं थी और नयी पैदा हुई है – ये तो हुआ कथंचित् असत्। और कथंचित् सत् का अर्थ ये हुआ कि इसके पीछे एक ध्रुव नित्य गुण पड़ा है। इसलिए वहाँ से यह पर्याय आई है तो ये कथंचित् सत् हुई। सर्वथा असत् नहीं है।

**मुमुक्षु :**– कथंचित् सत् है, उस अपेक्षा से वो गुण की पर्याय कही जाती है।

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! गुण की पर्याय कही जाती है।

**मुमुक्षु :**– वो चाहे हो न हो पर उसके पीछे कोई था, है और रहेगा। उस अपेक्षा से वो सत् है। और जो वर्तमान में वो पहले नहीं थी.... इसलिए असत् है।

बाबूजी! इसी तरह कथंचित् भिन्न-अभिन्न का concept (सिद्धांत) थोड़ा clear (स्पष्ट) कीजिए।

**पूज्य बाबूजी :**– हो गया न! पर्याय आत्मा से कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है क्योंकि वो एक ही पदार्थ की है। एक पदार्थ के जितने अवयव होते हैं, वे सब अभिन्न भी होते हैं और भिन्न भी होते हैं। तो कथंचित् भिन्न है अर्थात् अलग-अलग हैं, न्यारे-न्यारे हैं और अपना काम न्यारा-न्यारा करते हैं और ये सारे एक पदार्थ के ही हैं उससे अलग नहीं हैं इसलिए अभिन्न भी हैं।

जैसे हाथ है तो इस शरीर से अलग कर दिया जाए, तो फिर इसको क्या मनुष्य कहेंगे ? होगा ही नहीं। इसलिए अभिन्न भी है और भिन्न भी है। दोनों भिन्न-भिन्न, न्यारा-न्यारा अपना अपना काम करते हैं, और अभिन्न इसलिए हैं कि वो कभी द्रव्य से अलग होते नहीं हैं।

**मुमुक्षु :**– तो भिन्न-अभिन्न दोनों ही ज्ञान अपेक्षा से लेना ? एक में ज्ञान अपेक्षा और दूसरे में श्रद्धा अपेक्षा ले सकते हैं ?

**पूज्य बाबूजी :-** दोनों ज्ञान ही हैं। अनेकांत में ज्ञान ही लगता है।

**मुमुक्षु :-** तो बाबूजी! हर समय की ऐसी ही स्थिति चलती है न? हर समय कथंचित् भिन्न-अभिन्न?

**पूज्य बाबूजी :-** वो हर समय की स्थिति है, एक बार जानकर छोड़ देना, और भिन्न को ले लेना क्योंकि अभिन्न किया तो अभिन्न करने से कुछ लाभ नहीं होगा, फायदा नहीं होगा। ज्ञान में सोचने की इतनी ताकत है और अभिन्न कर देने पर तो दोष भी बहुत आयेंगे। लेकिन अभिन्न नहीं कहे तो फिर उसको कोई दूसरा ले जाएगा। इसलिए पर्याय उसी वस्तु की है अन्य की नहीं है ऐसा कहा। लेकिन दोनों के स्वरूप न्यारे-न्यारे हैं इसलिए भिन्न है। तो दोनों में से जब हेय-उपादेय की ओर से हम बात करेंगे, तो पर्याय कभी भी उपादेय नहीं हो सकती, क्योंकि वो स्थिर नहीं रहती, वो आती है और चली जाती है। यदि उसे आत्मा मान लिया जाए और उपादेय मान लिया जाए, तो फिर प्रतिसमय मृत्यु का अनुभव होगा और तीव्र वेदना होगी।

**मुमुक्षु :-** माने दूसरे की अपेक्षा अभिन्न है और हेय-उपादेय की अपेक्षा वो भिन्न है?

**पूज्य बाबूजी :-** हेय-उपादेय की अपेक्षा लिया जाए, तो हम पर्याय को हेय-कोटि में रखेंगे। और केवल द्रव्य है वो उपादेय-कोटि में आएगा। तो दोनों की परीक्षा करेंगे कि दोनों में से मेरे लिए अहम् करने लायक कौन है? - ये परीक्षा करना है। तो इस परीक्षा में जो द्रव्य है, वो pass (उत्तीर्ण) होगा और पर्याय fail (अनुत्तीर्ण) हो जाएगी।

**मुमुक्षु :-** मेरे लिए दोनों में से उपादेय करने लायक कौन है? ये परीक्षा?

**पूज्य बाबूजी :-** ज्ञान परीक्षा करेगा। ज्ञान ये प्रश्न करेगा और फिर

दोनों का स्वरूप जानकर दोनों में से select (चयन) करेगा और फिर ये विचार भी करेगा कि अब तक तो पर्याय का अवलंबन रहा, लेकिन एक क्षण के लिए भी आराम नहीं मिला। इसका अर्थ ये है कि आराम किसी दूसरे के अवलंबन से होगा, इसके अवलंबन से नहीं हो सकता। और दूसरा कोई है तो वो इसके अलावा केवल चिन्मात्र ज्ञायक ही है, इसके इसलिए उसी की उपादेयता से होगा।

**मुमुक्षु :**- माने उसके पास अभी कोई चारा ही नहीं रहा। द्रव्य को स्वीकृत करने के सिवाय चारा ही नहीं रहा क्योंकि पर्याय को स्वीकृत करते-करते तो अनंतकाल से दुखी हुआ है!

**पूज्य बाबूजी :**- वो इस बात को जानेगा कि - ये प्रयोग तो मैंने किया है।

**मुमुक्षु :**- और वहाँ रहते-रहते सुख की इच्छा तो रही है जागृत। इस अपेक्षा से सोचा जाए तो बहुत सरल लगता है कि दोनों में से एक ही choose (चयन) करना है!

**पूज्य बाबूजी :**- दोनों में से selection (चयन) कर ले, और उसमें क्या है? बात तो सरल है।

**मुमुक्षु :**- पर्याय को एक समय का सत् कहते हैं, वो किस प्रकार से?

**पूज्य बाबूजी :**- एक समय की सत् है। ठीक है! और क्या है? एक समय ही रहती है। क्षणभंगुर है,क्षण भर रहती है और फिर भंग हो जाती है - इसका नाम क्षणभंगुर! और क्षणभंगुर का आश्रय है कभी भी आराम नहीं दे सकता। जैसे बालू की दीवार के सहारे खड़ा हो जाए फिर क्या होगा? उसी समय गिर जाएगा।

**मुमुक्षु :**- बाबूजी! 13वीं गाथा में लिखा है कि शुद्धनयरूप से

स्थापित आत्मा की अनुभूति होती है। इसमें शुद्धनयरूप से स्थापित आत्मा और अनुभूति होती है। बाबूजी इन दो का थोड़ा स्पष्टीकरण कीजिए!

**पूज्य बाबूजी :**– एक ही बात है। क्या है वचन?

**मुमुक्षु :**– शुद्धनयरूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति होती है।

**पूज्य बाबूजी :**– शुद्धनयरूप से स्थापित आत्माकी अनुभूति होती है — जिसका लक्षण आत्मख्याति है शुद्धनय है वो आत्मा की अनुभूतिस्वरूप ही है। वो अनुभूति शुद्धनयरूप से स्थापित है माने शुद्धनय है वो स्वयं गायब होकर आत्मा का अनुभव करता है।

**पूज्य बाबूजी :**– हो गया समय?

**मुमुक्षु :**– सही बात तो ये है कि हो गया अनुभव!

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 20

(13 फरवरी 1999)

***इस चर्चा में व्यवहार श्रुत केवली, चिंतन का योगदान एवं क्रमबद्ध पर्याय सम्बन्धी मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।***

**मुमुक्षु :**- पूज्य बाबूजी! प्रश्न है कि 9-10वीं गाथा से, जो द्वादशांग को जानता है वह तो श्रुतकेवली है और आत्मा को जाननेवाले को भी श्रुतकेवली कहा जाता है।

द्वादशांग को जानना तो पर का जानना होता है और आत्मा के जाननेवाले को श्रुतकेवली कहें - तो ये बात में जरा समस्या है, समझाइये!

**पूज्य बाबूजी :**- द्वादशांग का केन्द्र एकमात्र शुद्धात्मा है। द्वादशांग के हृदय में जो बैठा है, वो एकमात्र शुद्धात्मा है। द्वादशांग में से जो शुद्धात्मा अलग कर दिया जाए तो कुछ बचता नहीं है। इसलिए द्वादशांग के निमित्त से अर्थात् द्रव्यश्रुत के निमित्त से जो शुद्धात्मा को सीधा जानता है, शुद्धात्मा के अभिमुख होकर जो शुद्धात्मा का वेदन करता है, उसको निश्चय श्रुतकेवली कहा है और शुद्धात्मा का वेदन ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है और श्रुतकेवली इसलिए कहा कि श्रुत उसमें निमित्त है।

श्रुत से पहले शुद्धात्मा का स्वरूप जानता है और उसके बाद उसका निर्णय करके, विचार करके उसकी महिमा लाकर, शुद्धात्मा का निर्विकल्प स्वसंवेदन करता है। इसलिए वो निश्चय श्रुतकेवली रहा और द्वादशांग को जाननेवाला भी ज्ञान है। द्वादशांग श्रुतकेवली नहीं है, पर द्वादशांग को जाननेवाला ज्ञान श्रुतकेवली है अर्थात् श्रुतकेवली माने व्यवहार श्रुतकेवली है क्योंकि निश्चय के साथ व्यवहार घटाना आवश्यक है! ये उत्कृष्ट बात

है! लेकिन जो शुद्धात्मा को जानते हैं, वे द्वादशांग को जानते ही हों – ऐसा नहीं है।

**मुमुक्षु :–** ये क्या कहा ?

**पूज्य बाबूजी :–** वो तो है ही सही न! शुद्धात्मा को जो जानते हैं, जिन्हें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ है, वे द्वादशांग को जानें ही जाने – ऐसा आवश्यक नहीं है। द्वादशांग का सार तो वो जानते हैं। लेकिन पूरा द्वादशांग जाननेवाले ये द्वादशांग के पाठी वो व्यवहार श्रुतकेवली कहलाते हैं; क्योंकि वो द्वादशांग को जानते हैं। द्वादशांग को जानकर आत्मा को जाने, वो निश्चय श्रुतकेवली होता है और द्वादशांग को जानने वाले वो व्यवहार श्रुतकेवली होते हैं।

द्वादशांग को जानने में भी यही आशय रहता है कि मुझे द्वादशाँग के द्वारा शुद्धात्मा को जानना है। द्वादशांग निमित्त होता है इसलिए जो निर्विकल्प स्वसंवेदन में शुद्धात्मा को जानते हैं तो निमित्त की अपेक्षा उस निर्विकल्प स्वसंवेदन को श्रुत नाम दिया, उनको श्रुतकेवली कहा और जो सर्व द्वादशांग को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं – ये व्यवहार है।

लेकिन क्योंकि वो सबको संभव नहीं होता है। जैसे तुष–माष भिन्नम् जैसा वो शिवभूति मुनि का ज्ञान था, तो उसमें द्रव्य–श्रुतरूप द्वादशांग का पूरा ज्ञान कहाँ था ? तो भी उनको द्रव्यश्रुत के सारभूत शुद्धात्मा का ज्ञान था। वो द्वादशांग का ज्ञान है वो आत्मा ही है। पहली बात तो ये है कि ज्ञान द्वादशांग का नहीं है।

**मुमुक्षु :–** ज्ञान द्वादशांग का नहीं है ?

**पूज्य बाबूजी :–** नहीं! ज्ञान आत्मा का है, लेकिन द्वादशांग इसकी उत्पत्ति में निमित्त हो जाता है। अगर हमारे ज्ञान का उपादान थोड़ा अच्छा हो तो वो निमित्त हो जाता है, इसलिए उसको श्रुतकेवली संज्ञा दी जाती

है। लेकिन हर कोई नहीं जानता है न! इसलिए वो जितना कुछ ज्ञान होता है, उस ज्ञान में आत्मा का चिंतन चलता है, तो उसमें भेद उत्पन्न होता है। माने ज्ञान सो आत्मा – ये भेद भी बहुत अंतिम भेद है, सूक्ष्म भेद है।

ये ज्ञान सो आत्मा – इस विचार में चिंतन में जो प्रवृत्त हो रहा है, वो तो हुआ व्यवहार श्रुतकेवली! यानि द्वादशांग का जाननेवाला तो उत्कृष्टरूप से श्रुतकेवली है ही। लेकिन सबको द्वादशांग का ज्ञान नहीं होता और निश्चय के साथ व्यवहार आवश्यक है। तो सबको नहीं होता, तो जो द्वादशांग के सारभूत आत्मा को जानता है, वो भी व्यवहार श्रुतकेवली हुआ, चाहे उसे द्रव्य श्रुत का ज्ञान कितना ही कम हो! वो ज्ञान सिर्फ इतना हो कि ये जो ज्ञान है सो आत्मा है। बस! ये तिर्यंच भी ऐसा कर लेता है कि ये जो ज्ञान है सो आत्मा है। तो वो तिर्यंच भी व्यवहार श्रुतकेवली हुआ और ऐसा करते हुए वो शुद्धात्मा पर पहुँच जाता है, तो वो तिर्यंच, नारकी सब निश्चय श्रुतकेवली हैं।

## आत्मा का निर्णय करने वाला ज्ञान भी व्यवहार से श्रुत केवली है

**मुमुक्षु :**– माने ज्ञानस्वरूप आत्मा के निर्णय को भी व्यवहार श्रुतकेवली कहा जाता है।

**पूज्य बाबूजी :**– हो गया! वहाँ अनुभूति कहाँ है? वहाँ तो चिंतन है, विचार है। ज्ञान सो आत्मा, बस इतना! इतना भेद जहाँ पड़ा और लंबा-चौड़ा देव-शास्त्र-गुरुवाला भी नहीं। बस! ज्ञान सो आत्मा – इतना जो भेद पड़ा, तो वो व्यवहार हो गया। तो वो व्यवहार श्रुत-केवली है।

**मुमुक्षु :**– हाँ! पर वो अगर अनुभूति के साथ हो तो....

**पूज्य बाबूजी :-** अनुभूति होनेवाली हो तो उसका नाम व्यवहार श्रुतकेवली – बस इतना! अनुभूति नहीं होने वाली हो और वो केवल भेद में, विचार में, चिंतन में प्रवृत्तमान हो, तो इसका अर्थ है कि चिंतन उसे प्रिय लगा। चिंतन के प्रति उसे ममत्व हो गया तो वो शुद्धात्मा को भूल गया, इसलिए मिथ्यात्व और अज्ञान आ गया।

**मुमुक्षु :-** ज्ञान सो आत्मा, उतना अनुभव के पहले भी विचार चिंतन यथार्थरूप से करे, उसे भी श्रुतकेवली कहा जाता है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! कहा जाता है, पर वो व्यवहार से है, वास्तव में तो जिस समय निश्चय श्रुतकेवली होते हैं, शुद्धात्मा की अनुभूति करते हैं, तभी उसको व्यवहार संज्ञा मिलती है। **लेकिन ये भी अनुचित नहीं है कि जिसे शुद्धात्मा का वेदन होनेवाला है, उसके पहले जो ज्ञान सो आत्मा, दर्शन सो आत्मा – ऐसा विचार चलता है उसको व्यवहार श्रुतकेवली कहना सर्वथा अनुचित हो, ऐसा नहीं है। वो कहना चाहिए, कहना चाहिए। उसको सर्वथा व्यवहार-श्रुतकेवली कहें ही नहीं – ऐसा नहीं है, क्योंकि वो तो प्राप्त करनेवाले हैं। इसलिए प्राप्त कर लिया है, इस रूप में उसको स्वीकार किया जाता है।**

**मुमुक्षु :-** बराबर! और प्राप्त करने के बाद अगर फिर विचार कर रहे हैं, या ज्ञान खुल गया द्वादशांग का, तो उसे भी व्यवहार श्रुतकेवली कहते हैं?

**पूज्य बाबूजी :-** वो भी व्यवहार है।

**मुमुक्षु :-** माने व्यवहार श्रुततकेवली के दो प्रकार बन गए! एक तो अनुभूति के पहले ही जिसको अनुभूति होनेवाली है, उसे भी व्यवहार श्रुतकेवली कहेंगे और अनुभव के बाद उसको जब सविकल्पदशा में

शास्त्रों का ज्ञान या तो द्वादशांग का ज्ञान खुल गया हो तो उसे भी श्रुतकेवली कहा जाता है!

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! उसे भी श्रुततकेवली कहते हैं। जब आत्मा की जब अनुभूति होती है तो उसकी process (विधि) ये ही है कि उसे पहले आत्मा के किन्हीं विशेष गुणों का चिंतन चलता है, और महिमा बढ़ती है तो फिर वो तुरंत शुद्धात्मा पर पहुँचकर उसका संवेदन कर लेता है। ये ही तरीका है बस! और कोई दूसरा तरीका नहीं है।

**मुमुक्षु :**– आत्मा के गुणों का चिंतन चलता है?

**पूज्य बाबूजी :**– आत्मा के जो मुख्य गुण हैं, मुख्य में भी फिर ज्ञान रह जाता है तो उसका चिंतन चलता है। ज्ञान और आनंद स्वरूप हूँ – ऐसा चिंतन चला, लेकिन क्योंकि इस चिंतन में तो विकल्प है, विचार है, तरलता है, चंचलता है। स्थिरता नहीं है और यह अनुभूति का स्वरूप नहीं है तथा आत्मा का भी स्वरूप नहीं है, इसलिए आत्मा इस तरह चिंतनपूर्वक खंड–खंडज्ञान से अपना अनुभव कर सके – ऐसा नहीं है। इसलिए इन दोनों को ही ये आत्मा न होने के कारण उनको व्यवहार कहा है। लेकिन ये व्यवहार साधन अवश्य बन जायेंगे यदि ये आत्मा का अनुभव कर लेगा, तो व्यवहार साधन है।

**मुमुक्षु :**– क्योंकि चिंतन से महिमा बढ़ती है।

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! और वो वास्तव में तो बाधक है।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! सविकल्प स्वसंवेदनवाले जो भगवान आत्मा हैं, उनको व्यवहार केवली बोल सकते हैं?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! बोल सकते हैं।

**मुमुक्षु :**– यहाँ सम्यग्दृष्टि को केवली कहा? यहाँ सम्यग्दर्शन वाला, चौथावाला जो है उसको केवली क्यों कहा?

**पूज्य बाबूजी :-** केवली कहा न! वो केवल को जानता है, केवल माने मात्र शुद्धात्मा। शुद्धात्मा को जानता है। शुद्धात्मा का नाम केवल है। इसलिए केवली कहा है और श्रुत उसमें निमित्त है इसलिए श्रुतकेवली कहा।

**मुमुक्षु :-** आपने अभी बताया कि द्वादशांग का ज्ञान वास्तव में द्वादशांग का नहीं है।

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं है। द्वादशांग का नहीं है, आत्मा का है। इसलिए वो द्वादशांग का कोई भी भाग जानकर आत्मा पर आ जाता है। उसको बस इतना सा विकल्प रहता है कि ज्ञान सो आत्मा। तो ये उसने सारे द्वादशांग को ज्ञान बना लिया न!

द्वादशांग का ज्ञान द्वादशांग का नहीं है, पर ज्ञान आत्मा का है। इसलिए यह जो ज्ञान है सो मैं ही हूँ अर्थात् आत्मा ही है - ये ज्ञान, व्यवहार श्रुतकेवली हो गया। ऐसा करते-करते ये विचार रुक जाता है और अनुभूति प्रगट हो जाती है।

**मुमुक्षु :-** माने अनेकाकार ज्ञान में से उसने एकाकार ज्ञान के स्वरूप को जाना?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! एकाकार करना ही पड़ता है न! ये जो अनेक भेद हैं, वो सब उसमें से निकल जाते हैं और जो अकेला ज्ञान सामान्य है वो शुद्धात्मा का अनुभव कर लेता है। स्वयं ज्ञायक बन जाता है - ऐसी अभेदता! यहाँ तो भेद है। वहाँ अभेदता ऐसी होती है कि - ये है तो अनुभूति, पर्याय है, लेकिन ये स्वयं ज्ञायक बनकर बोलती है। ज्ञायक बनकर बोलती है कि मैं ज्ञायक हूँ, चिन्मात्र हूँ, चैतन्य हूँ - ऐसा इसका स्वर होता है।

**मुमुक्षु :-** तो वो पर्याय का स्वर पर्यायमय नहीं बल्कि ज्ञायकरूप हो जाता है!

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! पर्याय का स्वर पर्यायमय नहीं रहता, पर पर्याय का स्वर द्रव्य बन जाता है।

**मुमुक्षु :-** तो व्यवहार श्रुतकेवली निश्चय श्रुतकेवली बन जाता है?

**पूज्य बाबूजी :-** निश्चय श्रुतकेवली वही होता है। इसलिए जो ऐसा अनुभव करते हैं - नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव, वे सभी निश्चय श्रुतकेवली हैं, क्योंकि उसमें भेद कैसे होगा? क्योंकि सब एक ही विधि से उस शुद्धात्मा को पा रहे हैं। दूसरी कोई विधि है ही नहीं! बस ये ही विधि है कि ज्ञान सो आत्मा, आनंद सो आत्मा। ऐसा करते-करते अनुभूति हुई, तो वो निश्चय श्रुतकेवली हो गया और ये व्यवहार रह गया।

**मुमुक्षु :-** माने इसका मतलब तो ये हुआ बाबूजी कि स्वरूप का सही चिंतन करने वाले को, माने ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करनेवाले को भी व्यवहार श्रुतकेवली कह दिया है?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! कहा है! वो है! कहा है माने वो व्यवहार श्रुतकेवली है, क्योंकि है तो उसका भी ज्ञान श्रुत ही! उसके ज्ञान में भी तो श्रुत ही निमित्त है, तो श्रुत निमित्त होने पर भी वो श्रुत का विकल्पात्मक चिंतन कर रहा है, इसलिए वो अभी अनुभूति में न होने के कारण व्यवहार हो गया।

**मुमुक्षु :-** इससे तो ऐसा लगता है कि एक गरीब को राजमहल में बिठाकर राजा बना दिया! आत्मा के चिंतन करने वाले को व्यवहार श्रुतकेवली बोल दिया!

**पूज्य बाबूजी :-** आत्मा सदा ही अमीर है न! गरीब नहीं है, इसलिए जो पर्याय गरीब है न! वो महारानी बन जाती है, साम्राज्ञी बन जाती है। वो शुद्धात्मा तो सम्राट है और वो साम्राज्ञी बन जाती है। गरीबी

तो पर्याय में है कि मैं दुखी हूँ। ये गरीब ही बोलता है कि मैं अज्ञानी हूँ; ये पर्याय की गरीबी है। ये पर्याय की गरीबी समाप्त होकर ऊँचाईओं को छूती है।

ऐसा हो ही जाता है न! कोई गरीब कन्या किसी राजा के घर चली जाये, तो फिर उसकी क्या स्थिति होती है? और वो अपने आपको क्या मानती है? बल्कि सिर्फ संबंध भी हो जाए तो क्या मानती है? महारानी मानती है। अब उस गरीबी को कौन याद करे? वो तो गई! समाप्त हो गई!

**मुमुक्षु :-** यूँ भी बुरे दिन किसी को याद आते अच्छे नहीं लगते!

**पूज्य बाबूजी :-** बुरे दिन लोक में बाकी प्रकरण में तो याद करने चाहिए। अध्यात्म में आत्मा के बुरे दिन होते ही नहीं हैं। आत्मा के कभी बुरे दिन आए ही नहीं। अब कल्पना में कोई ऐसा बन जाए तो उसका कोई क्या करे? कल्पना में, भ्रम में किसी भी रूप से आत्मा को भूलकर जो दीन हो गया, हीन हो गया। हीन हो गया माने अपने आपको पर्याय में हीन मानने लगा, स्वयं अत्यंत उच्च होने पर भी, ओजस्वी-तेजवाला होने पर भी अपने आप को पर्याय में दीन और हीन मानने लगा! लेकिन इससे जो परम तत्त्व है, उसमें हीनता नहीं आई, उसमें दीनता नहीं आई। वो तो ऊँचा ही रहा, वो आसमान को ही चूमता रहा!

इस पर्याय को आज समझ में आ जाए और इसकी समझ ठीक हो जाए तो ये उस जैसी बन जाती है और ऐसी बनती है कि फिर अपना स्वर ही बदल देती है। स्वर बदलकर बिल्कुल जैसे कोई छाती से छाती लगाकर ऐसा एकाकार मिलन होता है कि जिसमें वो स्वयं गायब हो जाती है।

## अनुभूति की प्रक्रिया में चिंतन का योगदान

**मुमुक्षु :**– एक दूसरा प्रश्न है? अनुभूति के पहले की विचारधारा में स्व–पर के भेद की धारा का चिंतन कार्यकारी है कि ज्ञायक की महिमा का चिंतन कार्यकारी है?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! ज्ञायक की महिमा का। स्व–पर का भेद तो पहले ही कर लेना चाहिए। वो तो पहले ही किया जा चुका होता है । स्व–पर का भेद करके जो पर है, वो तो मेरे किसी काम का नहीं है, किसी प्रयोजन का नहीं है – ये मैंने जान लिया है। उसको कहते हैं जानना! अब उनको ज्ञेय की कोटि में रखना कि वे मेरे किसी काम के और किसी मतलब के नहीं हैं। सारे के सारे ज्ञेय तत्त्व हैं और अहम् करने लायक नहीं हैं। मैंने जो अब तक उनमें अहम् किया वो सारा का सारा बरबाद हुआ, व्यर्थ हुआ और उसमें जो श्रम किया गया वो भी सारा का सारा बरबाद हुआ। ऐसा जानकर पर से विमुख होकर अपनी पर्याय को पर से खाली कर देता है, विविक्त कर लेता है । ज्ञान की पर्याय को पर–पदार्थों से विविक्त करके उसमें एकमात्र चैतन्य को भर देता है और चैतन्य को भरकर चैतन्य का चिंतन करने लगता है कि मैं तो शुद्ध, बुद्ध, एक, एकरूप और अनंत समृद्धि सम्पन्न हूँ, अनंत वैभव सम्पन्न हूँ, अगर ज्ञान ने ऐसा वास्तव में दृढ़ता से स्वीकार किया तो इस चिंतन में प्रसन्नता नहीं होगी क्या? होगी ही होगी न! क्योंकि निश्चितरूप में, अत्यंत निश्चितरूप में वो इस बात को स्वीकार करता है। ज्ञान ने दृढ़ता से स्वीकर किया कि इसके सिवाय और कुछ नहीं है बस! ये एक ही मेरा उपादेय और अहम् करने योग्य है – ऐसा जानकर और ऐसा माना कि इसका वैभव अनंत है और अपार है, अर्थात् मेरा वैभव अनंत और अपार है और वो वर्तमान में विद्यमान है। वो कोई लाया जाएगा और पर्याय उसे पैदा करेगी – ऐसा नहीं है। लेकिन वो वर्तमान में विद्यमान है और

उसकी महिमा अपरंपार है। इस तरह जिसने महिमा को जाना, तो तुरंत विकल्प छूटकर महिमा-मग्न हो जाता है।

अपनी महिमा और उसका स्पष्ट ज्ञान रहा! बाकी सबको निकाल दिया, उसने सारे जगत को निकाल दिया। अपनी पर्याय को सारे जगत से खाली कर लिया, राग-द्वेष नहीं बचे! क्योंकि राग-द्वेष तो कब पैदा होते थे ? कि जब उन पदार्थों को यह अपने साथ जोड़ता था, ममत्व में, अहम् में जोड़ता था, तब न मिथ्यादर्शन और राग-द्वेष पैदा होते थे! अब जब वो सारे पदार्थ मेरे से न्यारे ही हैं, तो उनके ममत्व से उत्पन्न होने वाले मिथ्यादर्शन और राग-द्वेष भाव क्या वे अब पैदा होंगे ?

फिर से! जब सारे पदार्थों को अपने से बिल्कुल न्यारा मान लिया तो वे राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन न्यारापन होने से बचे क्या ?

जब सभी को अलग माना तो उनसे ममत्व करने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। कोई अवकाश ही नहीं रहता। इसलिए वो ममत्व और राग-द्वेष से भी खाली हो गया! वो भी पर में चले गए। पर के साथ वो भी पर में चले गए क्योंकि ये जो भाव हैं, ये पैदा तो मेरे में ही होते थे, लेकिन इनका संबंध अन्य पदार्थों से था। इसलिए उनको परपदार्थों में ही रख दिया। इस तरह वो सबसे विविक्त हो गया। मोह-राग-द्वेष और पर-पदार्थ इन सबसे विविक्त होकर, खाली होकर वो पर्याय ज्ञायक से भर गई और ज्ञायक से भरकर ज्ञायक का धारावाहिक चिंतन महिमापूर्वक करने लगी और अंत में समय आया...ये जो चिंतन है, उसको भी हेय जानता था; शुरू से ही हेय जानता था और आत्मा का स्वरूप निश्चित हो ही चुका है, इसलिए ये चिंतन है भी विराम पाकर अंत में आत्मा में आत्मस्थ हो जाता है। ये तरीका है -

पहले तो कई गुणों के आधार से विचार करे, उसके बाद गुणों की अनेकता भी घटती जाती है ज्ञानमात्र, ज्ञानमात्र, आनंदमात्र, बस! अंत में

जाकर इतना रह जाता है। जैसे बरफ जमते-जमते वो तरंग भी दिखाई नहीं देती। इस तरह अंतिम स्थिति ऐसी हो जाती है कि बस एक ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायक ही हूँ; अभी भी विकल्प है लेकिन इसको भी हेय जान रहा है और बस अगले कदम में शुद्धात्मा में पदार्पण कर लेता है। अनुभव पूर्व के अंतिम क्षणों का परिणमन ऐसा ही होता है।

ये बहुत मधुर प्रकरण है, बहुत मधुर! दुनिया में इतना मधुर, इतना सुंदर प्रकरण कोई सुनने को मिल जाए, ऐसा आज तक हुआ नहीं और होगा भी नहीं - आत्मानुभूति का और उसकी विधि का इतना मधुर प्रकरण है।

इसकी यही विधि है, इसमें भी बहुत मधुरता है, बहुत मधुरता है! उछलता है जैसे भीतर ही भीतर! भीतर ही भीतर उछलता है कि ये मिला, ये मिला, ये मिला, वो आ गया।

**मुमुक्षु :-** आहाहा! आपने पर को जानना कहा, तो इसका मतलब ये मेरे नहीं हैं - ये पर को जानना हुआ?

**पूज्य बाबूजी :-** ये हुआ पर को जानना क्योंकि मेरा अस्तित्व स्वीकृत हो गया, तब ही कहा न इसने कि ये मेरे नहीं हैं और इनका मेरे से कोई संबंध नहीं है। ये कब कहा? कि जब उनका अस्तित्व स्वीकार कर लिया! तो हो तो गया तीनलोक का जानना!

**मुमुक्षु :-** पर पदार्थ कैसे हैं - ये जानना उनका जानना नहीं!

**पूज्य बाबूजी :-** नहीं! वो कैसे हैं उनसे मतलब नहीं है।

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! ये बात तो विचारकोटि में भी आना मुश्किल लगता है!

**पूज्य बाबूजी :-** मुश्किल लगती है क्योंकि उसमें दिल नहीं लगता

है। विस्तार में जाता है। उसकी आदत विस्तार में जाने की पड़ी है इसलिए अनेक पदार्थों पर विचार करने लगता। शरीर मेरा नहीं है, इंद्रियाँ मेरी नहीं हैं। अरे भाई! एक में डाल दे न सबको! अजैन-अजैन सब एक कोटि के हैं बस! हो गया खतम! मैं जैन हूँ बस! बाकी सब एक ही कोटि के हैं।

**मुमुक्षु :-** बहुत सुंदर! पर को जानना अर्थात् पर मेरे नहीं हैं - ऐसा जानना, ये पर का जानना है।

**पूज्य बाबूजी :-** पर को जानने का, ज्ञान का प्राण है ये। उसी में ये परम सदाचारी हो गया, परम सदाचारी! एक अणुमात्र भी मेरा नहीं है।

जिसने इतने बड़े विश्व के साथ फैले हुए अपने ममत्व को समेटकर जिस क्षण में ये बोला कि अणुमात्र भी मेरा नहीं है, तो फिर केवलज्ञान का ताज किसको पहनाया जाएगा? इसको नहीं पहनाया जाएगा क्या? और कौन है जो केवलज्ञान के लायक है? क्योंकि केवलज्ञान में तो दिखाई अनेक देंगे। इसने इतने थोड़े से श्रुतज्ञान में सारे ही विश्व को परत्व दे दिया! और केवलज्ञान भी सारे विश्व को परत्व देता है, तो इसमें और केवलज्ञान में कहाँ अंतर रहा? और यदि अंतर माना भी जाता है तो केवलज्ञान का उत्तराधिकारी कौन है? कहते हैं कि ये तुष माष भिन्नम् जितना ज्ञान है । इस अल्पज्ञान में ताकत कितनी कि संपूर्ण विश्व में अणुमात्र भी मेरा नहीं है। कितनी ताकत! कितना ईमान-धर्म! इसको कहते हैं ईमान-धर्म।

**मुमुक्षु :-** हमने तो ये सोचा था कि आपने कह दिया कि पर को जानना मत, तो जानना ही बंद कर दिया था। लेकिन ये मेरे नहीं है - इतना जानना बाकी रह गया था, अब उसका समाधान मिल गया।

**पूज्य बाबूजी :**- बस! तो हो गया! जानना बंद हो गया और यहाँ पर पूर्णाहुति हो गई। पूर्ण ज्ञान हो गया बस! ये मेरे नहीं हैं। अब कोई संबंध भी नहीं है, था भी नहीं और है भी नहीं। केवल मानने की कल्पना में था, वो ख़त्म हो गई। वो मेरे से जुदा हो चुकी है, बस!

**मुमुक्षु :**- तो ज्ञायक की महिमा फलदायी होती है!

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! ज्ञायक की महिमा इसी तरह आवे कि उसे वो समृद्धशाली माने। जगत का सबसे समृद्धशाली पदार्थ मैं हूँ। वो इसलिए हूँ कि जगत में भले ही मेरे जैसे जीव हैं, लेकिन उनकी समृद्धियाँ उनके पास हैं। वे तो मुझे एक दाना भी नहीं देते हैं। इसलिए सबसे समृद्धशाली मैं हूँ, क्योंकि मैं उनके भी सामने नहीं जाता, मैं उनसे कभी भीख नहीं माँगता।

मेरा आत्म-गौरव है सबसे ऊँचा है। सबसे ऊँचा! मैं तो भगवान सिद्ध से भी नहीं माँगता तो और की तो क्या बात है? और की क्या बिसात है? क्योंकि जो मेरे पास है वो क्या काम आएगा? मेरा टिफिन क्या काम आएगा अगर मैं भगवान से माँगूँगा तो? और वो क्यों देंगे?.. पूजा में लिखी है ये बात कि अगर दे देवें तो वो अपराधी हैं, क्योंकि उन्होंने जगत में भीख माँगने का व्यवसाय शुरू करा दिया! ये बड़ा भारी अपराध है। इससे विश्व का ही नहीं बल्कि जीव का सौन्दर्य समाप्त हो गया सारा जीवलोक भिखारी बन गया।

अज्ञानी तो चाहता ही यही है कि कोई दे दे! बिना मेहनत के मिल जाए और क्या है! अज्ञानी को तो प्रमाद ने घेर रखा है, इसलिए वो शुद्धात्मा की ओर आना ही नहीं चाहता। उसको तो ये है कि भगवान दे दें और क्या है? उनके पास तो बहुत है, वे उसका क्या करेंगे? मेरे पास भी है उसका बोध इसको नहीं है।

ज्ञान को भगवान के सामने ले जाया जाये, केवल राग को नहीं ले जायें - हम तो राग को ले जाते हैं इसलिए फेरी लगाकर आ जाते हैं। ज्ञान को भगवान के सामने ले जाए तो निश्चितरूप में कुछ लेकर लौटता है अर्थात् ये स्वीकार करके लौटता है कि अरे! मैं तो स्वयं ही भगवान हूँ। ये मैंने क्या किया कि मैं भगवान के सामने गया और उनसे माँगा ?

**मुमुक्षु :-** आहाहा! ज्ञान को भगवान के पास लेकर गया तो भगवान के द्रव्य, गुण और पर्याय से मिलान हो गया!

**पूज्य बाबूजी :-** अनेक करोड़पति हों, उसमें कौनसे करोड़पति को यह याद आवे कि ये दूसरे और भी अपने जैसे करोड़पति हैं तो अपन देखें, एक दिन चलें तो सही न उनके पास! कुछ थोड़ा-बहुत माँगकर तो देखें! ऐसा विचार आएगा ? अरे अपन तो खुद ही करोड़पति हैं। वो भी हैं तो होंगे, वो उनके घर के हैं। भगवान भगवान के घर के हैं।

**मुमुक्षु :-** एक प्रश्न है कि सम्यग्दर्शन होते ही श्रद्धा परिपूर्ण हो जाती है और ज्ञान केवलज्ञान होने पर परिपूर्ण होता है। त्रिकाली ध्रुव तो अकार्यकारणत्व का धारक है, तो फिर श्रद्धा-ज्ञान की परिपूर्णता का असली कारण कौन है ? कृपया समाधान कीजिए।

**पूज्य बाबूजी :-** वैसे तो वे स्वयं ही हैं। दोनों बातें आती हैं कि शुद्धात्मा को कारण परमात्मा भी कहते हैं। वो इसलिए कहते हैं कि पर्याय सारे जगत से लौटकर उसकी ओर झाँकती है, इसलिए उसे कारण भी कहा जाता है। लेकिन वो तो हमेशा से ही बना हुआ है। इसलिए पर्याय में दोष का निवारण कहाँ हुआ ? लेकिन जब पर्याय ने अपना अपराध छोड़कर उस कारण परमात्मा की ओर झाँका, तो वो स्वयं कारण परमात्मा बन गई, स्वयं परमात्मा बन गई, इसलिए पर्याय में ही होता है।

और केवलज्ञान में सम्यग्ज्ञान पूर्ण होता है – ऐसा नहीं है। सम्यग्ज्ञान तो हो गया, जिस समय श्रद्धा पूरी हुई उस समय ज्ञान भी सम्यक् रूप में तो पूरा हो गया। अब ये केवलज्ञान की बात है तो वो तो पदार्थों की गिनती की बात है। वो दिखाई दें अथवा न दें, इससे क्या मतलब है इसको ? भगवान को दिखाई देते हैं, तो भी भगवान को उनके प्रति पूरी उपेक्षा है।

जिनके प्रति उपेक्षा है तो उसके संबंध में इसको अपेक्षा होगी क्या कि मैं केवलज्ञान लूँ ? ऐसा केवलज्ञान लूँ कि जिसमें लोकालोक दिखाई दे..और फिर केवलज्ञान उसको क्या कहेगा ? कि भाई ! तेरे श्रुतज्ञान में ये लोकालोक, जो अपनी छाती में दबाकर बैठा है, वो दिख रहा है तो तू उस केवलज्ञान को लेकर क्या करेगा ? इस तरह केवलज्ञान की प्रीति तोड़ने पर केवलज्ञान दौड़ा चला आता है।

**मुमुक्षु :**– ज्ञान भी सम्यक् प्रकार से परिपूर्ण हो गया !

**पूज्य बाबूजी :**– सम्यक् हो गया। ये सभी सम्यक् हैं ये मति सम्यक्, श्रुत सम्यक्, अवधि सम्यक्, मनःपर्यय सम्यक् और केवलज्ञान सम्यक्।

**मुमुक्षु :**– कार्य परमात्मा को निश्चय से कारण परमात्मा की अपेक्षा है ?

**पूज्य बाबूजी :**– कारण परमात्मा निरपेक्ष है। तो उसकी अपेक्षा से कार्य परमात्मा सापेक्ष है, क्योंकि कार्य परमात्मा तो नया बना है और कारण परमात्मा पुरातन है।

**मुमुक्षु :**– शुद्धात्मा कारण परमात्मा है – ऐसा जो कहा गया है उसका अर्थ क्या है ?

**पूज्य बाबूजी :**– शुद्धात्मा कारण परमात्मा यानि कि उसके होने पर

शुद्धि हो ही हो – ऐसा आवश्यक नहीं। लेकिन फिर भी जब–जब शुद्धि प्रगट होगी, तो उसकी ओर ही पर्याय को झाँकना पड़ेगा। इसलिए उसे कारण परमात्मा कहते हैं। जगत में और कोई पदार्थ नहीं कि जिसकी ओर ये देखे! केवल उसी की ओर देखेगा तो पर्याय कार्य परमात्मा बन जाएगी। इसलिए उसे कारण कहते हैं। वरना वो तो शुद्धात्मा शुद्ध चैतन्य है और भावरूप में अनुभव में आता है। किसी नाम से अनुभव में नहीं आता। इसलिए एक चैतन्यमात्र हूँ बस! मैं एक चैतन्यमात्र हूँ, ऐसा सामान्य भाव अनुभव में आता है, उसको चिन्मात्र कहते हैं। चिन्मात्र नाम से अगर करें तो नहीं आता, क्योंकि नाम में तो विकल्प हो जाएगा इसलिये नामरूप से नहीं आता। सीधा जैसा उसका स्वरूप निर्णय किया, ठीक वैसा का वैसा ज्ञान में भासित होता है।

**मुमुक्षु :**– उसी भाँति का एक प्रश्न है कि पर्याय का षट्कारक पर्याय है। ये माननेवाला ज्ञानी हो और अज्ञानी, दोनों के अभिप्राय में फर्क होता है क्या?

**पूज्य बाबूजी :**– अज्ञानी तो इस बात को जानता ही नहीं है, वो तो पर्याय के षट्कारक मानता ही नहीं है क्योंकि वो पर्याय को पराधीन मानता है, वरना अन्य के साथ ममत्व क्यों जोड़ेगा? और पर्याय को पराधीन क्यों बनाएगा? इसलिए वो तो इस बात को मानता ही नहीं है क्योंकि वस्तु व्यवस्था... कहे भले ही! कहे भी और नहीं भी कहे।

और वस्तु–व्यवस्था ऐसी है कि पर्याय के कारक उसके पास हर समय रहते हैं – ऐसा ज्ञानी जानता है – कारक सामग्री अर्थात् काम बनाने वाली, काम करने वाली सामग्री, उसका नाम कारक है। तो ये छह प्रकार के कारक जो हैं, वो कार्य की सामग्री हैं। ये पर्याय अपने षट्कारकों से पैदा होती है। इसमें द्रव्य भी कारण नहीं और गुण भी कारण नहीं है – ऐसा जानकर वो पर्याय से भी निरपेक्ष हो जाता है।

उसकी भी उपेक्षा कर देता है कि ये जो होगी तो अपने षट्कारक से होगी। इसमें अपने द्रव्य और गुण का कहाँ काम है? तो उससे विमुख हो जाता है, तो पर्यायदृष्टि छूट जाती है। इसमें भी पर्यायदृष्टि छूट जाती है क्योकि उसमें मेरा कोई काम नहीं है।

## क्रमबद्धपर्याय व्यवस्था

**मुमुक्षु :**– पर्याय में राग–द्वेष हुआ तो अज्ञानी बोलता है कि उसको होनेवाला था तो हुआ, उसमें हमें क्या? तो उसमें दोष आता है क्या ?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! होनेवाला था सो हुआ – ऐसा वो मानता है क्या? अज्ञानी बोला कि जो होनेवाला था सो हुआ, तो पहली बात तो ये है कि ऐसा वो मानता है कि नहीं मानता है? **अगर वो खाली कहता ही है और मानता नहीं है, तो फिर उसने कहाँ माना कि होनेवाला है सो होता है? और यदि उसने मान लिया हो तो फिर उसकी दशा ही बदल जाती है,** क्योंकि होनेवाला था तो हुआ – ऐसा जिसने जाना, उसका पर्याय की ओर से उपयोग हट जाता है; कि इसमें मैं क्या करूँगा? जो उसमें होना है वो सिद्ध भगवान, केवली भी नहीं लौटा सकते। तो मैं भी इसको नहीं लौटा सकता।

और इसको क्यों लौटाऊँ मैं? ये तो मेरे घर की व्यवस्था है, शान है मेरी कि मेरा कार्य कभी भी, तीन लोक, तीन काल में इधर–उधर होता ही नहीं है। इतना निश्चित timetable (समय–सारिणी) है कि वो इधर से उधर कभी होगा ही नहीं। ये तो मेरे द्रव्य की इतनी सुंदर व्यवस्था है कि जैसी अज्ञानी के पास है ही नहीं! ये तो मेरे द्रव्य का गौरव है न! कि वहाँ जो कुछ कार्य निश्चित है वो कार्य अपने समय पर होना है। तो ये गौरव है या नहीं?

उसने जाना कि ये जो होना है ये अपने समय पर होना है। तो इसमें

मेरा कोई हिस्सा वास्तव में नहीं है। इसमें मुझे उलट-फेर करना भी नहीं है और ऐसी ताकत भी किसी में नहीं है, ज्ञानी इस तरह जानता है। ताकत नहीं है ऐसा माने तो कमजोरी आती है। उलट-फेर करना ही नहीं है। क्यों करे ? व्यवस्था है, ये तो अपने घर की शान है। **व्यवस्थित को व्यवस्थित करने का नाम अव्यवस्था है।**

तू उस व्यवस्थित को व्यवस्थित करना चाहता है। वो कहता है कि होना था सो हुआ, होना था सो हुआ, होना था सो हुआ - जब ये व्यवस्थित है तो तू इसलिये बात को सौ बार क्यों दोहराता है ? इसका मतलब कि तू उसमें अपनी व्यवस्था थोपना चाहता है। होना तो ये चाहिए कि जब व्यवस्थित मान लिया तो तू वहाँ से हट जा एकदम ! क्योंकि उसकी ओर देखना भी तेरे लिए पाप है। उसकी ओर देखना भी पाप है। क्यों देखा तूने उधर ? इसका मतलब तुझे उसकी व्यवस्था पर विश्वास नहीं है इसलिए देखता है तू ! और बार-बार उसको छेड़ता है।

जैसे नक्की हो गया है कि सवेरे बारात आनेवाली है और रात को हमने सारी सामग्री व्यवस्थित कर ली। सारी कुर्सियाँ, सोफा-सेट और दुनियाभर का सब व्यवस्थित कर लिया। अब एक व्यक्ति आता है कि नहीं ये कुर्सी यहाँ नहीं, यहाँ। ये कुर्सी यहाँ नहीं, यहाँ। ये सोफा यहाँ नहीं, यहाँ - तो वो तो व्यवस्था बिगाड़ने वाला है। अरे भई ! हमने तो सब सोच समझकर पहले किया था। ये क्या करता है तू ? तो उस व्यक्ति को वहाँ से हटा दिया जाएगा कि छेड़ना मत बिल्कुल ! ऐसा का ऐसा रहने देना।

तू उससे छेड़खानी क्यों करता है ? इसलिए उस सारे कक्ष को ही, पर्याय के कक्ष को ही तू उपेक्षित कर दे। और उपेक्षित किया तो तेरी पर्यायदृष्टि छूट जाएगी। इसलिए जो होना है सो होता है, यदि ये तूने माना है तो तेरी ये पर्याय दृष्टि छूट जाएगी। **बल्कि और कहें**

**इससे भी बड़ी बात ? क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा ही छूट जाएगी। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करके और क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा छूट जाएगी।**

**मुमुक्षु :-** क्योंकि अक्रम स्वरूप से एकरूप हो जाता है।

**पूज्य बाबूजी :-** एकदम एकरूप हो गया न! तो अब पर्याय कि श्रद्धा थोड़े ही रहेगी। क्रमबद्ध भी पर्याय है न! उसकी श्रद्धा छूट जाएगी पर्यायमात्र की! क्योंकि उधर क्यों देखेगा ये ? उसमें अगर थोड़ी भी बुद्धि है, वो तो इतना सेट है, ऐसा सेटिंग है कि तीन लोक और तीन काल में उसमें जरा भी तो फरक नहीं पड़ सकता है। तो ये उधर क्यों झाँकेगा ? और क्यों जाएगा उधर ?

बस! तो उससे विमुख हुआ कि यहाँ तो ठीक है। मेरी पर्याय का कक्ष तो बिल्कुल सेट है, तो प्रसन्नता होती है। और प्रसन्न होकर वहाँ से विमुख हो जाता है कि बस! अब यहाँ तो कोई तीन लोक और तीन काल में कोई इसमें कुछ कर ही नहीं सकता। और उसमें मुझे भी कुछ करना नहीं है। बस! वहाँ से हटा, फिर तो द्रव्य ही दिखता है और कौन दिखता है ? दूसरी कोई जगह है ही नहीं। ये उसका फल होता है। असल में फल तो हम समझते ही नहीं हैं। जो होना था सो हुआ, जो होना था तो हुआ, ऐसा कहकर तू भीतर से तो रो रहा है और बाहर से ये बोल रहा है।

अरे भाई! तेरा उनमें क्या है ? होना था सो हुआ। उनमें क्या है ? कि तेरे घर में हुआ, नोटों में हुआ, बंगले में हुआ, बंगले की दिवार गिरी! जो कुछ होना था सो हुआ। तेरा क्या हुआ इसमें ? इसमें क्या होना-होना करता है तू ? इसमें क्रमबद्ध पर्याय लगाता भी क्यों है ?

तू तो अपनी जो पर्याय होती है, उसमें क्रमबद्ध लगा! कि ये मेरी

पर्याय एकदम, त्रैकालिक सेट है, बस! उसका सेटिंग जानकर वहाँ से हट जा। वहाँ क्या करेगा? कोई भी बुद्धिमान होगा तो वहाँ से हट जाएगा कि यहाँ कुछ होनेवाला ही नहीं है। फिर क्या है? तीन लोक में किसी की शक्ति ही नहीं है, और मुझे करना नहीं है क्योंकि अगर मैं पर्याय को इधर-उधर करूँ तो इससे तो मेरा घर अव्यवस्थित दिखता है। ऐसा दिखता है कि इसके घर में व्यवस्था नहीं है। लेकिन मेरा घर व्यवस्थित है। पर्याय का कक्ष इतना सुव्यवस्थित है कि अब मुझे वहाँ झाँकना ही नहीं है, और विश्व में झाँकूँगा ही नहीं - ऐसी शपथ लेता हूँ। ऐसी शपथ लेता हूँ कि उधर झाँकूँगा भी नहीं। क्यों झाँकूँगा? किसलिए झाँकूँगा? इसका अर्थ ये हुआ कि तुझे विश्वास नहीं है तेरी setting पर, तेरी व्यवस्था पर।

**मुमुक्षु :**- तो व्यवहार को जाना हुआ प्रयोजनवान है कहा है - तो पर्याय की ही बात कही है?

**पूज्य बाबूजी :**- हो गया न! ये सारी पर्याय व्यवहार हुई। जाना हुआ प्रयोजनवान का अर्थ ये कि वो उसे जानता रहे - ऐसा नहीं है, लेकिन जानने में कभी आ जाए तो, बस इतना। अपने ज्ञान की क्रमबद्ध दशा में कभी जानने में आ जाए वो जाना हुआ प्रयोजनवान है बस इतना! और जो जाना हुआ प्रयोजनवान होता है, उधर ज्ञान बार-बार क्यों जाए? उसे तो सिर्फ जानना ही है, कुछ करना तो नहीं है। तो ज्ञान उधर जाएगा भी क्यों? नहीं जाएगा। ज्ञान समझदार होगा तो नहीं जाएगा।

**मुमुक्षु :**- पर्याय की क्रमबद्धता निश्चित करके वो क्रमबद्ध से भी अलग हो जाता है!

**पूज्य बाबूजी :**- ये तो लोक के पदार्थों में लगा है। अब क्या करे? अब तेरा बस नहीं चला तो तू कहने लगा और रोने लगा! और यदि बस

चलता तो कहता कि ये कैसे हो सकता है? तो जब सारे प्रयत्न fail (अनुत्तीर्ण) हुए तब ये यहाँ आया है। पर आया क्या? आया ही नहीं, वो तो रो रहा है। वो तो भीतर से महादु:खी है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय तो एकदम सुख पैदा करता है कि अरे! इतना बड़ा ये पर्याय समुदाय और इसमें मुझे कुछ करना नहीं है। इतनी मेरी शान! इतनी मेरी व्यवस्था कि मुझे इसमें कुछ करना ही नहीं है।

क्रमबद्ध पर्याय का तो topic ही बहुत बड़ा है कि एक पर्याय को दूसरी जगह रखे तो सारा द्रव्य ही नष्ट होता है।

**मुमुक्षु :**- बाबूजी! उसका संक्षिप्त में हो सकता है तो बाबूजी, थोड़ा बोलिये न! क्योंकि जो आप इतनी बड़ी बात करते हैं और हम इससे विमुख रह जायें! तो भले आप इसमें अपना limited time (सीमित समय) लगाएँ, जितना प्रयोजनभूत है बोलिये जरूर!

**पूज्य बाबूजी :**- पर्याय को इधर-उधर कर सकता है का अर्थ ये हुआ कि इसको पर्याय को इधर-उधर करने का अधिकार मिल गया। ठीक हो गया न? नहीं?

क्योंकि ये पर्याय स्वयं इसकी है, इसलिए ये उस पर्याय को इधर-उधर कर सकता है, ऐसा इसको अधिकार है - ऐसा इसने माना तो फिर ये कौनसी पर्याय को लायेगा? और वर्तमान में पर्यायें जो चल रही हैं, वो तो चल ही रही हैं। लेकिन इसका मन संतुष्ट नहीं है कि मुझे तो ये दुख नहीं चाहिए और दीनता नहीं चाहिए, हीनता नहीं चाहिए, अज्ञानता नहीं चाहिए। तो फिर उसको क्या करना पड़ेगा कि वो जितना पर्याय का रास्ता है, जहाँ ये चल रही हैं पर्यायें, उन सारी पर्यायों को तो वो हटाएगा, क्योंकि उनको हटाने का उलट-फेर करने का इसको अधिकार मिल गया न! उनको तो हटाएगा और उनके स्थान पर अब कमी भी क्यों रखेगा? फिर वो तो सिद्ध दशा ही लाएगा। ठीक हो गया? अच्छा!

अब जो पर्यायें हटायी हैं उनका क्या हुआ? वो तो आगे-पीछे कभी आयेंगी तो सही न! तो वो सिद्ध भगवान करेंगे मोह का अनुभव?

**पूज्य बाबूजी :-** क्योंकि उसने उनको उस समय हटा दिया था और वो सुख की पर्याय को ले आया था। लेकिन वो हटी हैं, लेकिन आयेंगी तो सही कभी न कभी! वो नष्ट थोड़ी ना हो गई हैं। तो वहाँ आयेंगी। इसलिए भगवान सिद्ध मोही-रागी-द्वेषी होंगे।

**मुमुक्षु :-** संपूर्ण द्रव्य कैसे नष्ट होता है इसमें?

**पूज्य बाबूजी :- संपूर्ण द्रव्य तो नष्ट हो ही जाएगा जब वो पर्याय का प्रवाह टूट जाएगा! पर्याय का एक सुनिश्चित प्रवाह है और उस प्रवाह में से हमने एक पर्याय को निकाल दिया, तो वो प्रवाह टूटा कि नहीं? तो वो द्रव्य टूट गया, खतम हो गया!**

पर्याय को तोड़े बिना उसे निकलना नहीं हो सकता है, क्योंकि पर्याय तो अपनी जगह बिल्कुल set है और उसका प्रवाह एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक सुनिश्चित है। ये मानता है कि पर्यायें इकट्ठी पड़ी हैं तो जो मेरी इच्छा हो उसे लें आऊँ तो कहते हैं कि तू ला तो, फिर बाकी का क्या होगा? जो विकारी हैं उनका क्या होगा? क्योंकि ऐसा थोड़े ही है कि तू कहेगा कि मैं सम्यग्दर्शन! ....ना ना! सम्यग्दर्शन से क्या होता है? मुनि बन जाओगे, तो मुनि से भी क्या होगा? और अरिहंत हो जाओगे तो अरिहंत भी क्यों? फिर सिद्ध ही बनो न! जब अधिकार मिल गया है तो इसलिए सबको हटाओ! तो सिद्धदशा में उन पर्यायों को लाना पड़ेगा क्योंकि वो भी वहाँ रहेंगी।

**मुमुक्षु :-** इसका मतलब तो ये है कि वो उत्पाद और व्यय अपने आप होता है?

**पूज्य बाबूजी :-** होता है! वस्तु-व्यवस्था यही है, वो अटल है,

अचल है। एक-एक पर्याय भी पार्वती है – पर्वत की पुत्री है, जो अपनी जगह से हट नहीं सकती।

## क्रमबद्ध व्यवस्था में पुरुषार्थ का स्थान

**मुमुक्षु :-** बराबर! बिल्कुल सही बात है। कोई भी हिला नहीं सकता, लेकिन जब पर्यायें इतनी व्यवस्थित हैं तो फिर पुरुषार्थ की जगह कहाँ रही?

**पूज्य बाबूजी :- हो गया न पुरुषार्थ! माने पर्याय को उलट-फेर करने का, इधर-उधर करने का जो पुरुषार्थ करता था, वो तो wastage ( बर्बाद ) होता था। अब इसने वो wastage तो छोड़ा और जहाँ वो सार्थक होता है, जिसके पास जाकर वो बिल्कुल निहाल होता है, जिससे सुंदर production ( उत्पादन ) होता है, तो वो पुरुषार्थ ही तो हुआ!** इधर-उधर करने को तो हम पुरुषार्थ मानें और इधर-उधर न करके, जैसा होना है वैसा करने को हम पुरुषार्थ न मानें, तो ये तो हमारी गलती है न! सारा का सारा काम पुरुषार्थ पूर्वक ही हो रहा है।

अरे! जैसे खिड़की से हमें टिकट लेना है तो एक तो पुरुषार्थ का अर्थ ये (है) कि सबको मारो, सबको हटाओ। और एक जो है चुपचाप खड़े रहो। तो अब ये समझता है कि चुपचाप खड़े रहना – ये कोई मेरा धर्म है क्या? कुछ करना चाहिए। तो वो पुरुषार्थ है या नहीं चुपचाप खड़े रहना? कितना धीरज है उसमें! कितना उद्यम है उसमें चुपचाप खड़े रहने में, उतना क्रम पार करने में। शांति रखना भी पुरुषार्थ है न! माने अशांति में तो पुरुषार्थ है और शांति में पुरुषार्थ नहीं है। ये कैसे हो सकता है? Production (उत्पादन) तो दोनों है न? तो वो दोनों पुरुषार्थ से ही होते हैं production (उत्पादन) तो।

**मुमुक्षु :**- स्थिरता का भी पुरुषार्थ होता है कि नहीं?

**पूज्य बाबूजी :**- स्थिरता का पुरुषार्थ है न! किसी को कह दिया जाए कि यहीं खड़े रहना तो उसमें पुरुषार्थ नहीं है क्या? बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। क्रमबद्ध का स्वीकार बहुत-बहुत बहुमूल्य बात है।

**मुमुक्षु :**- बाबूजी! आपने तो एक ही पासा (पड़खा) लिया कि स्वतंत्रता दे दी है पर्याय को पलटने की! अभी यदि ये स्वतंत्रता नहीं दी जाये तो अभी इसकी बात करें। आपने तो बोला कि मान लो वो तो हमने assumption किया कि उसको स्वतंत्रता दे दी!

**पूज्य बाबूजी :**- स्वतंत्रता दे दी न! तो फिर अब हम उसमें झाँककर या उसे छेड़कर उसे परतंत्र क्यों करना चाहते हैं? ये ही है न परतंत्र करने की हमारी मनशा? वरना जो वो बिल्कुल स्वतंत्र और व्यवस्थित है तो फिर हम उसकी ओर देखकर या झाँककर बार-बार उसकी ओर निगाह करके हम उसे परतंत्र ही तो करना चाहता है...कि ये नहीं ये! ये हमारा मन है। और वो हो नहीं सकेगा तो इसलिए अज्ञानी कष्ट पाएगा।

पर्याय में उलट-फेर करने का कष्ट यही रहा कि अब वो हो नहीं सकता? ये मानता है कि पर्याय मेरी है तो कैसे नहीं होगी? वो तेरी है, तो तेरी शान इसमें है कि वो व्यवस्थित हो! घर की शान तो इसमें है। ऐसा नहीं है कि इसको उठाकर वहाँ रखो और इसको उठाकर वहाँ रखो। वो तो पागलपन है। घर की भी Setting होना चाहिए, तब वो सुंदर लगता है और फिर इसे तो कभी फुरसत मिलेगी ही नहीं। यदि उस एक पर्याय में उलट-फेर करना शुरू किया तो ये पर्यायें तो अनंतानंत हैं, तो ये पूरी तरह से अनंतानंत काल तक फँस गया।

**मुमुक्षु :**- माने कि सही बात तो ये है कि पर्याय को उसके हाल पर छोड़ दो!

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ बिल्कुल! मेरे कई कक्ष हैं। एक द्रव्य कक्ष है, एक गुण कक्ष है और एक पर्याय कक्ष है। तो पर्याय कक्ष बिल्कुल एकदम व्यवस्थित है। उसके दरवाजे ही बंद कर दो। गुण भी वैसे ही हैं। गुणों में तो कोई बात ही नहीं है। उनमें कहाँ उलट-फेर होता है?

**मुमुक्षु :-** बाबूजी! क्रमबद्ध के स्वीकार में द्रव्यदृष्टि आ गई?

**पूज्य बाबूजी :-** ये आई न! इसी से आती है।

**मुमुक्षु :-** जो पर्याय को बार-बार देखता है, उसको फेर-फार करने की दृष्टि बनी रहेगी?

**पूज्य बाबूजी :-** हाँ! फेर-फार की दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। ये उसका मिथ्या प्रयास है कि वो पर्याय को बार-बार देखता है, क्योंकि वो उसको इधर-उधर करना चाहता है, अपने स्थान से हिलाना चाहता है और वो अपने स्थान से हिलती नहीं है। ये आत्मा का जो सदन है, राजमहल है, उसकी शान है ये। ये सचमुच द्रव्य की शान कि मेरी पर्याय ऐसी व्यवस्थित है कि उसमें तीन लोक और तीन काल में कभी कुछ नहीं बदलना है। अब हम उसे दीनता मानते हैं कि फिर तो पुरुषार्थ नहीं रहेगा, लेकिन वो निहाल हो जाएगा, तुरंत आनंद को लेकर पुरुषार्थ उत्पन्न होगा।

अब एक ही वस्तु बची है बस! उसी वस्तु में तन्मय हो जाएगा तो आनंद का जन्म होगा क्योंकि उसके भीतर आनंद ही आनंद है। पर्याय में तो ये था ही नहीं, वो तो मैली-कुचैली न मालूम कैसी-कैसी आ रही थी, तो उससे क्या मिलने वाला था?

**मुमुक्षु :-** पर बाबूजी पर्यायदृष्टि के छूटने के बाद गुण-भेद के ऊपर भी तो दृष्टि जा सकती है?

**पूज्य बाबूजी :-** जा सकती है तो उसको भी छोड़ देगा क्योंकि उसे मिला कहाँ उसे? उसका जो इष्ट था उसकी उपलब्धि नहीं हुई, तो वो उसको छोड़ देगा। **इसमें इन गुणों को गिना थोड़े ही जाता है। गुणों को तो आम की तरह चूसा जाता है।**

वो सारे के सारे गुण इकट्ठे कैसे हों? कि वो एक द्रव्य को मैं देखूँ तो सब इकट्ठे हो जाते हैं। सब इकट्ठे पड़े हैं उसमें और मैं अलग-अलग देखूँगा तो एक भी नहीं आएगा। खाली विकल्प का धुआँ होकर रह जाएगा - ये आत्मा का अनुभव करने की पद्धति है। कहाँ उसके टुकड़े करो? जो अखंड है, उसको अखंड अनुभव करो। बस! उसमें मिल जाएगा। टुकड़ों में क्या मिलता है? इसलिए गुण-भेद के भी विकल्प नहीं हैं और पर्याय के भी नहीं हैं, दोनों छूट जाते हैं।

**मुमुक्षु :-** बद्ध क्यों कहा, क्रमबद्ध?

**पूज्य बाबूजी :-** क्रम-नियत शब्द है शास्त्र का! और उसका जो हिन्दी है वो बद्ध है। बद्ध का अर्थ ये कि वो बंधी हुई। बंधे हुए क्रम में चलती है। बंधा हुआ क्रम माने जिस समय होना है उस समय होती है।

**मुमुक्षु :-** जुड़ी हुई नहीं?

**पूज्य बाबूजी :-** क्रमबद्ध माने बद्ध-क्रम अर्थात् क्रम नियत - ये शास्त्र का शब्द है। क्रमबद्ध जो का अर्थ ये है कि पर्याय बद्ध-क्रम में चलती है, बंधे हुए क्रम में चलती है। एक के बाद एक चलती है, वो सिर्फ तो क्रम हुआ। लेकिन बद्ध-क्रम वो होता है कि वो उसमें फरक भी नहीं पड़ता है। जो आनेवाली है वो ही आएगी, दूसरी नहीं आ सकती।

**मुमुक्षु :-** क्रमसर तो आती है, पर....।

**पूज्य बाबूजी :- ये तो सब दुनिया मानती है, लेकिन पर्याय में कहाँ फर्क पड़ा ? अगर हमने इधर-उधर भी की तो भी पर्याय के बाद पर्याय ही तो आई। उसमें क्या फर्क पड़ा ? लेकिन बद्ध-क्रम है उसका। बहुत व्यवस्थित है और हर चीज में से वो ही वो शुद्धात्मानुभूति ही निकलती है। हर चीज में हर सिद्धांत में से वही निकलती है।**

**मुमुक्षु :-** तो इसका मतलब तो ये हुआ कि क्रमबद्ध को नहीं माने तो कर्म से बद्ध हो जावे।

**पूज्य बाबूजी :-** बिल्कुल! ये अपराध करता है कि जो अपनी जगह सुव्यवस्थित है, ये उसको जाकर और disturb करता है। तो कितना बड़ा अपराध हुआ? बहुत बड़ा अपराध हुआ न ये? एक officer का बंगला हो और वहाँ दो-चार आदमी जाकर उसकी टेबल को भी उलट दें, कुर्सियाँ भी उलट दें (और) officer को भी पटक दें, तो क्या होगा उनका? आखिर कारावास ही तो होगा!

ये पर्याय के कक्ष को, उसकी व्यवस्था को ये क्यों बिगाड़ना चाहता है? और वो बिगड़ेगी ही नहीं, तो अपराधी है, इसलिए कर्म बंधते हैं। चेष्टा ही है न ये, बिगड़ता थोड़े ही ना है।

केवल चेष्टा है ये! मिथ्यात्व में भी, मिथ्याज्ञान में भी और मिथ्याचारित्र में भी केवल चेष्टा है। उसके विषय में कोई काम होना नहीं है, चेष्टा का अपराध माने intention का अपराध! चेष्टा अर्थात् प्रयत्न करता है पर सफल नहीं होता और नियत अच्छी नहीं है। Intention (नियत) खराब है।

कोई बहुत बड़ी भीड़ हो। अब उसमें से पुरुष भी निकल रहे हैं, स्त्रियाँ भी निकल रही हैं और बहुत बड़ी भीड़ है। तो ऐसे ठसाठस

निकल रहे हैं, एक दूसरे को छूकर। वहाँ कौन किसी को दोष देता है? कोई दोष नहीं देता, क्योंकि नियत खराब नहीं है। उसमें तो ये है कि मुझे निकलना है बस! नियत खराब नहीं है। और ऐसा ही वो किसी दूसरे समय पर कर ले कि जहाँ पर खुला सा हो मैदान और खुला सा बाजार हो, तो वहाँ चप्पल पड़ जाएगी।

एक स्त्री को कोई बदनियत पुरुष हाथ लगाता है और एक डॉक्टर पूरा का पूरा investigation (निरीक्षण) करता है। कौन है अपराधी? और डॉक्टर पूरा investigation करता है फिर भी निर-अपराध है।

**मुमुक्षु :**– पर्याय की व्यवस्था को बदलने की नियत खराब है।

**पूज्य बाबूजी :**– नियत खराब है! नियत खराब है क्योंकि वो होती नहीं है। होती नहीं है तो इसे करना नहीं चाहिए। ये स्वयं अपनी व्यवस्था बिगाड़ता है। अपने घर की व्यवस्था बिगाड़ता है न! इसलिए ये अपराधी है। सारे जीव लोक की व्यवस्था को बिगाड़ना चाहता है।

**मुमुक्षु :**– जो खुद का बिगाड़ेगा वो तो पूरे जीव-लोक का बिगाड़ेगा। एक छोटी सी दिखनेवाली गलती के पीछे कितनी गलतियों की बौछार लगी हुई है। मालूम नहीं पड़ता! अपराध के पीछे अपराध होता है। अपनी पर्याय को फेर-बदलना चाहा, तो पूरे विश्व की व्यवस्था...।

**पूज्य बाबूजी :**– पूरे विश्व को पराधीन मानता है। जड़-चेतन सबको पराधीन कर दिया!

**मुमुक्षु :**– महासिद्धांत है ये बाबूजी!

**पूज्य बाबूजी :**– महासिद्धांत! ये सब महासिद्धांत ही हैं, जैनदर्शन

में सभी महासिद्धांत ही हैं – एक-एक सिद्धांत महान है, कोई छू नहीं सका उनको, कोई विचार ही नहीं कर सकता। उसमें क्या है अपनी पर्याय है, कैसे भी करो, बस हो गया! उसमें पर्याय में क्या दिक्कत है? कैसी भी लाओ, कैसी भी ले जाओ, कहीं रखो। तुम्हारी इच्छा हो जिसे आने दो, तुम्हारी इच्छा नहीं हो तो मत आने दो। सीधी सी बात! सबको समझ में बैठ जाती है कि हाँ! बात तो ठीक है कि जब अपनी है तो फिर क्या है? अपनी है, अपनी व्यवस्था है घर में! फिर भी कोई बच्चा है, वो उसको अगर गड़बड़ करता है तो उसको चपत पड़ती है कि क्या करता है ये? क्यों बिगाड़ता है? ये तो व्यवस्था को बिगाड़ना है। उधर झाँकना ही व्यवस्था खराब करता है। झाँकना ही व्यवस्था खराब करता है। तुमने देखा क्यों आखिर? किसके लिए देखा?

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 21

(14 फरवरी 1999)

***इस चर्चा में कारण शुद्ध पर्याय, गुणों का अनुभूति में योगदान, अनुभूति के पहले का विवेक पूर्ण व्यवहार एवं द्रव्य कर्म से भिन्नता में आत्मा की शुद्धता आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।***

**मुमुक्षु :-** कल एक प्रश्न आया था, उसके अनुसंधान में ही पुनः प्रश्न है कि त्रिकाली ध्रुव तो अकार्यकारणत्व का धारक कहा है। तो फिर श्रद्धा और ज्ञान की पर्याय की परिपूर्णता का असली कारण कौन है? तो कुछ जो प्रश्न का उत्तर दिया गया था उससे ज्यादा स्पष्टीकरण हो जाए कि असली कारण कौन है? जैसे उपादान से तो बता दिया और उपचार से तो कारण परमात्मा बताया था, फिर भी थोड़ा सा!

**पूज्य बाबूजी :-** पर्याय का असली कारण तो पर्याय ही होती है। शुद्धात्माभिमुख पर्याय ही असली कारण अर्थात् उपादानकारण है। उसी के षट्कारकों से शुद्धात्मानुभूति होती है। असली कारण तो ये ही है।

**मुमुक्षु :-** तो इसमें कारणशुद्धपर्याय का क्या कार्य होता है?

**पूज्य बाबूजी :-** कारणशुद्धपर्याय का काम इसमें नहीं है, लेकिन वो शुद्धात्मा के साथ चलती है, शुद्धात्मानुभूति में कारणशुद्धपर्याय नहीं है। कारणशुद्धपर्याय कोई नयी पैदा नहीं होती, पर **कारणशुद्धपर्याय तो द्रव्यस्वरूप ही है। यानि द्रव्य का जो प्रतिसमय एकरूप रहनेवाला जो वर्तमान है, एकरूप रहनेवाला....द्रव्य तो त्रैकालिक है न! वो**

**भूत-भविष्य-वर्तमान सबको एकदम अपने में समेटे बैठा है और एकरूप रहता है।**

द्रव्य की जो वर्तमानकालिक एकरूपता है, उसको कारणपर्याय कहते हैं। माने त्रैकालिक का तात्कालिक, उसका नाम कारण शुद्धपर्याय है। और द्रव्य कैसा है ? जैसे आत्मानुभूति का अवसर हो, तो उस समय क्या विचार किया जायेगा कि कौनसे द्रव्य का अनुभव करूँ ? कल वाले का करूँ ? या आगे आने वाले कल का करूँ ? या वर्तमान का करूँ ? कौनसे द्रव्य का करूँ ? कि कुछ नहीं ! ये वर्तमान में जो है इसका करो ! तो वो वर्तमान में जो कारणपर्याय है, कारणपर्याय सहित जो द्रव्य है उसकी अनुभूति होती है।

**मुमुक्षु :-** प्रश्नकार का ये प्रश्न था कि उपादान से तो पर्याय का कारण पर्याय मानी गई और उपचार से जो कारणशुद्ध परमात्मा कहा गया ? - वो उपचार है। तो जो कार्यरूप से श्रद्धा-ज्ञान की पर्याय परिपूर्ण हुई है तब कारणशुद्धपर्याय भी कारण बनती है क्या ?

**पूज्य बाबूजी :-** कारण परमात्मा भी कहने की बात है न ! उपचार है न ! तो कारणशुद्धपर्याय भी उपचार ही हो गई - अनुभव दशा में कारणशुद्धपर्याय सहित शुद्धात्मा की अनुभूति होती है। तो जैसे वो द्रव्य उपचार से कारण बना, उसी तरह ये भी उपचार से कारण बनती है, क्योंकि ये पर्याय उत्पाद-व्ययवाली नहीं है। **पर्याय कहने से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उसमें परिणमन हो ही हो। असल में भेद को पर्याय कहते हैं।**

जैसे जब गुणों का विचार किया जाता है, तो वो पर्यायार्थिकनय से होता है। और गुणों को द्रव्य के साथ लेकर जब विचार किया जाता तो वो द्रव्यार्थिकनय से, निश्चयनय से, शुद्धनय से होता है।

आत्मा की महिमा बढ़ाने के लिए जब गुणों का विचार जब किया जाता है, वो पर्यायार्थिकनय से होता है क्योंकि जिस अंश का हम विचार कर रहे हैं उस अंश को भेद कहते हैं। वो पर्यायार्थिकनय का विषय होता है। गुण पर्यायार्थिकनय के विषय कैसे होते हैं? और द्रव्यार्थिक के कैसे हो जाते हैं? क्योंकि द्रव्य अपने में सारे ही गुणों को समेटे बैठा है, इसलिए जब अनंत गुणों को द्रव्य के साथ लेकर अनुभव किया जाता है, तो वो द्रव्यार्थिकनय का या शुद्धनय का विषय होता है। 7वीं गाथा में आया है न! **परमार्थ से देखा जाए तो अनेक पर्यायों को एक द्रव्य पी जाता है। तो अनेक पर्याय माने? अनेक पर्याय माने गुण! गुण-भेद नहीं गुण! अनेक गुणों को द्रव्य पी जाता है, इसलिए फिर आगे कहा कि किंचिन्मिलितास्वादम् ( समयसार आत्मख्याति टीका गाथा 7 ) किंचित् मिला हुआ स्वाद अनुभव में आता है।** उसका अर्थ ये कि गुण और द्रव्य अथवा गुण और पर्याय - ये दोनों मिलकर एक भी नहीं हो जाते और सर्वथा अलग-अलग भी नहीं रहते। **अनंत गुणात्मक द्रव्य, अनुभव करनेवाली पर्याय और उससे उत्पन्न होनेवाला आनंद - ये सर्वथा अलग-अलग भी नहीं होते और सर्वथा एक भी नहीं हो जाते।** इसलिए किंचिन्मिलितास्वादम् किंचित् मिला हुआ स्वाद! सारे गुणों का स्वाद तो न्यारा-न्यारा उनकी योग्यता के अनुसार पर्याय में परिणमित होता है -जितनी शुद्धि होती है उतना उसमें आता है। वो हर एक गुण का अलग-अलग है, तो इस दृष्टि से वो स्वाद बिना मिला हुआ है, क्योंकि हर एक गुण की शुद्ध पर्याय का स्वाद न्यारा-न्यारा हुआ और सब गुणों की पर्याय का स्वाद एकरूप होकर एक बार में अनुभव में आता है। वो हुआ किंचिन्मिलितास्वादम् किंचित् मिले हुए स्वादवाला। इसलिए किंचित् शब्द दिया आचार्य ने कि पर्यायें रहती हैं न्यारी-न्यारी! लेकिन न्यारी-न्यारी होने पर भी ये अनुभूति की गरिमा है, उसकी विशेषता है कि वो सबका निचोड़... जैसे ठंडाई को

पीते हैं निचोड़ कर, इस तरह से वो पी जाती है, तब आनंद प्रगट होता है। अगर अलग-अलग अनुभव करे तो आनंद प्रगट नहीं होता।

इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपादान कारण पर्याय ही है। लेकिन मुख्यता क्या है कि तीन लोक में जितने पदार्थ हैं और जितने अन्य भाव हैं, रागादिक-द्वेषादिक, पुण्य-पाप इत्यादिक, इनमें से कोई भी शुद्धात्मा की अनुभूति के लिए काम का नहीं है। ये बताने के लिए कहा, तो कौन है कारण? कोई कारण नहीं है। कि जो बचा हुआ है ज्ञायक चिन्मात्र, वो ही कारण है - ये कहा जाता है। इसलिए उसे कारण परमात्मा कहा।

वैसे न्याय की दृष्टि से देखा जाए तो अगर कारण कहा जाए तो वहाँ कार्य की उत्पत्ति होना ही चाहिए। उसकी परिभाषा ये है कि पूर्वक्षणवर्तित्वं कारण लक्षणम् और उत्तरक्षणवर्तित्वं कार्य लक्षणम्। **जो पूर्व क्षण में रहता है वो कारण है और जो उत्तर क्षण में होता है वो कार्य है। लेकिन यहाँ ऐसी विवक्षा नहीं है!** यहाँ तो तीन लोक, तीन काल में एकमात्र शुद्ध ज्ञायक के अवलंबन से ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मानुभूति होती है। इसलिए ये बताने के लिए कि सारे विश्व में कौन है कारण? तो एकमात्र ज्ञायक ही कारण है, इसलिए कहा गया। पर वास्तव में वो कारण नहीं, क्योंकि कारण अगर बन जाएगा तो वो क्षणिक हो जाएगा क्योंकि कारण बदलता रहता है।

जैसे पहली पर्यायवाला जो द्रव्य है वो कारण, तो उत्तर पर्यायवाला जो द्रव्य है वो कार्य! फिर उत्तर पर्यायवाला द्रव्य कारण है और उसके आगे आनेवाली पर्यायवाला द्रव्य कार्य है। इस तरह अनंतर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण है और अनंतर उत्तर क्षणवर्ती द्रव्य कार्य है - ऐसा होता है। ये है असली परिभाषा कारण-कार्य की! और इससे भी आगे चलें तो पर्याय का कारण पर्याय ही है। बस!

उसको तो ये बताने के लिए कहा कि तीन लोक में जो अनंत-अनंतानंत वस्तुयें हैं, इनमें से सम्यग्दर्शन और स्वसंवेदन ज्ञान, शुद्ध आत्मानुभूति किसके अवलंबन से प्रगट होगी? ये एकमात्र चिन्मात्र ज्ञायक के अवलंबन से प्रगट होगी, इसलिए वही कारण है, तो अब अन्य सब जगह जाना छूट गया न! अपनी पर्यायों और जगत का भी अवलंबन छूट गया न? ये ही है एकमात्र अवलंबन लेने लायक, आश्रय करने लायक, अनुभव करने लायक - इस तरह समझना चाहिए।

**मुमुक्षु :**- तो बाबूजी! कारणशुद्धपर्याय का प्रयोजन क्या हुआ?

**पूज्य बाबूजी :**- ये हुआ न! कि उसमें उलझन नहीं रही कि कौन-से द्रव्य का अनुभव करूँ, कल वाले का कि आज वाले का? या आने वाले कल वाले का? वो त्रैकालिक है न! **इसलिए सीधा ये जो विद्यमान है न! इसका अवलंबन करो। वो कारणशुद्धपर्याय है, कारणशुद्धपर्यायवाला द्रव्य! अनुभूति केवल कारणशुद्ध-पर्याय की नहीं होती। कारणशुद्धपर्यायमय द्रव्य की अनुभूति होती है।**

**मुमुक्षु :**- तो साहब! कारणशुद्धपर्याय पर्याय नहीं है, तो पर्यायमय द्रव्य उसका अर्थ क्या?

**पूज्य बाबूजी :**- पर्यायमय माने कारणशुद्धपर्यायमय। कारण-शुद्धपर्याय की वार्ता चलती है न? कारणशुद्धपर्यायमय जो द्रव्य है उसकी अनुभूति होती है।

**मुमुक्षु :**- कारणशुद्धपर्याय स्वयं ही द्रव्य है, तो फिर उसमय द्रव्य क्यों कहा?

**पूज्य बाबूजी :**- उसमय कहा जाएगा न इसे! जब दो भेद हमने किए तो उसमय ही तो कहा जाएगा।

**मुमुक्षु :**– वर्तमानमय त्रैकालिक ? त्रिकाल में वर्तमान तो है ही है। तो उसको त्रिकाली बोला जाता है – ऐसा है ?

**पूज्य बाबूजी :**– त्रिकाल में वर्तमान आया न ! पर वर्तमान में वो भी तो आए भूत और भविष्य भी ! **इसलिए उसका विकल्प टूट जाता है और केवल ये जो विद्यमान है, बस इसका अनुभव करता है। उसमें काल संबंधी विकल्प टूट जाते हैं। ये जो वर्तमान है वो त्रिकाली से अलग नहीं है।**

## आत्मानुभूति के पहले का व्यवहार

**मुमुक्षु :**– एक प्रश्न है कि आत्मदर्शन होने के पहले आत्मार्थी का व्यवहार कैसा होता है ? अथवा कैसा होना चाहिए ?

**पूज्य बाबूजी :**– आत्मदर्शन होने के पहले का व्यवहार, गतियों की अपेक्षा न्यारा-न्यारा है क्योंकि सब गतियों में एक से साधन नहीं मिलते। लेकिन उसमें मुख्य जो है वो आत्मा की वो विशुद्धि है कि जिस विशुद्धि तक पहुँचकर शुद्धात्मा का पुरुषार्थ अलग से किया जा सकता है। विशुद्धि तो वहाँ रहे। विशुद्धि तो वहाँ रहे अर्थात् अस्तित्वरूप रहे और उस विशुद्धि से हटकर, वहाँ से उपयोग को हटाकर और शुद्धात्मा के अभिमुख होकर, उसके स्वरूप के अभिमुख होकर उसका चिंतन करे और फिर उसका अनुभव करे, तो उस विशुद्धि को कारण कहा जाता है। है वो बाधक लेकिन साधक कहा जाता है। वास्तव में वो बाधक है क्योंकि विपरीत है पर्याय है।

**विशुद्धि शब्द दो अर्थ में आता है। एक तो शुद्धि के अर्थ में आता है और एक शुभभाव के अर्थ में आता है। यहाँ शुभभाव से तात्पर्य है कि वो किस प्रकार का होना चाहिए।** लोक में जो अनेक प्रकार के शुभभाव होते हैं न बहुत से – जैसे अपात्रों को खाना खिलाना,

गायों को घास डालना या जानवरों को चारा डालना, धर्मशालायें बनाना इत्यादि और कोई संस्थायें खोलना ये कोई उसमें शामिल नहीं है। ये तो सभी करते हैं, सारी दुनिया ही करती है। इसलिए विशेष प्रकार की विशुद्धि चाहिए। भले वो दूसरे लोगों की विशुद्धि ज्यादा हो सकती है, उससे मतलब नहीं है। लेकिन एक विशेष प्रकार की विशुद्धि होनी चाहिए कि जिसके होने पर शुद्धात्मा का पुरुषार्थ किया जा सके, वो होती है।

जैसे अपन भोजन बनाते हैं न! तो stove (चूल्हा) होता है। तो stove की दो या तीन गति मान लो! एक तो ऐसी कि बहुत तेज, एक ऐसी कि बहुत धीमी और एक ऐसी कि मध्यम। तो मध्यम जो उसका ताप है, उसमें हम भोजन बना सकेंगे। बहुत तेज में बनायेंगे तो जल जाएगा। बहुत कम में बनायेंगे तो कच्चा रह जाएगा। इसलिए मध्यम ताप में भोजन बनेगा।

इसी प्रकार विशुद्धियाँ तो अनेक प्रकार की औरों को भी अर्थात् जैनेतर लोगों की भी होती है। पर वो विशुद्धि इधर बिल्कुल भी शामिल नहीं है। इसलिए यहाँ का जो व्यवहार भी विशेष प्रकार का होता है। वो नैतिकता नहीं! नैतिकता अर्थात् जगत में कोई आदमी हिंसा तो करता है लेकिन झूठ नहीं बोलता; इत्यादि, इत्यादि। इस तरह के पंगु व्यवहार होते हैं। उनके व्यवहार और कैसे भी हों, जैसे अगर वो उपवास करते हैं और रात में खाते हैं तो यहाँ वो व्यवहार नहीं है। यद्यपि वो होता है और वे भी बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं, लेकिन यहाँ वो व्यवहार बिल्कुल नहीं है। **यहाँ तो व्यवहार है शुद्ध, जो भगवान जिनेन्द्र की भक्तिपूर्वक और जो अन्य प्रकार का व्यवहार आत्मा में उत्पन्न होता है। एक तो भक्ति, वो भी व्यवहार है** और एक अन्य प्रकार का लौकिक व्यवहार है – जैसे अनुकंपा, दया का परिणाम आदि। तो दया का परिणाम कैसा

होता है ? और लोगों को तो ऐसा होता है कि भाई ! ये ठीक हो जाए ! मैं इसको ठीक करता हूँ, मैं इसको ठीक कर सकता हूँ, इसलिये मुझे इसकी सेवा करना चाहिये, इस तरह का व्यवहार अथवा भोजन दे देना, दवाई दे देना इस तरह का व्यवहार।

यहाँ तो व्यवहार ऐसा होता है कि वो जो अनुकंपा होती है, उसमें उसको ज्ञानी को ये विचार आता है कि ये भवार्णवों भव के दुखों से कैसे छूटे ? बस ! ऐसा जानकर उसके प्रति जो दया का भाव हो और उसमें फिर साथ-साथ उस रूप शारीरिक क्रिया भी हो जाए ! इस तरह की अनुकंपा होती है। अर्थात् यहाँ जैन दर्शन में सभी विशेष प्रकार के ही हैं। जितने भी अन्य प्रकार के विशुद्ध भाव कहे जाते हैं, वो सब भी यहाँ पर विशेष प्रकार के हैं।

अकलुष भाव अर्थात् जिसमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह इत्यादि का परिणाम न हो। जिस समय विशुद्धि हो उस समय वो नहीं होता है। होता तो है ! अपन सब लोगों को पापभाव तो होता है। लेकिन जिस समय वो विशुद्धि हो तो उस विशुद्धि में वो पापभाव नहीं होता, वो निमित्त नहीं बनता, और सत्य को तुरंत स्वीकार करता है।

इधर अहिंसा का परिणाम इतना जबरदस्त कि किसी एक जीव की मेरे से हिंसा न हो ! यद्यपि लोग इसको चारित्र में लेते हैं, लेकिन ये चारित्र नहीं है। ये तो व्यवहार-चारित्र कहलाता न ? पर यहाँ व्यवहार-चारित्र भी नहीं है क्योंकि असली चारित्र का अभी जन्म ही नहीं हुआ, इसलिए इसे व्यवहार भी नहीं बताया है। **ये तो उसके पहले की भूमिका है। जैसे हम भोजन बनाते हैं, तो उसके पहले रसोई को साफ करते हैं, तो ये एक तरह की सफाई है।**

ये भोजन बनाना नहीं है लेकिन एक तरह की ये सफाई है, इसलिए ऐसा परिणाम हो कि हमेशा दया में भीगा रहे। चित्त हमेशा दया में, अनुकंपा में भीगा रहे और वो इसरूप में कि ये जीव भवार्णव से कब छूटे! और उसके लिए जो भी करना हो, जो भी औषधि देना हो, भले उसकी वो सब सेवा हो,लेकिन भीतर से ऐसा परिणाम हो कि ये दया का परिणाम भी हमेशा के लिए कैसे छूट जाए!

और तो लोक व्यवहार के बारे में बहुत बातें हैं। जैसे व्यवसाय करता है, तो व्यवसाय में सत्यवादिता होनी चाहिए। झूठ-अझूठ बहुत अधिक न हो। अथवा जो राजकीय नियमों के विरुद्ध हो, जिसके कारण हमेशा tension (आकुलता) बनी रहे, हमेशा पापभाव बना रहे, भय बना रहे, चिंता बनी रहे! तो उस परिणाम में तत्त्व का सुनना ही नहीं हो पायेगा! इसलिए उसमें बन नहीं सकता अर्थात् इतना विरुद्ध कार्य करे कि जिसमें हमेशा शंका बनी रहे कि कहीं मैं पकड़ा नहीं जाऊँ! कहीं मेरे ऊपर कोई मुसीबत न आ जाए, इत्यादि-इत्यादि परिणाम नहीं होता।

आजकल तो क्या प्रचलन है कि घर में कोई बीमार हो, भले ही पिता मर रहा हो तो मरे, लेकिन वो hospital (अस्पताल) में दूसरों की सेवा करने जाएगा। वो अपनी सेवा दिखाने के लिए hospital (अस्पताल) जाएगा, लेकिन तत्त्वज्ञानी को या जो तत्त्वज्ञान के मार्ग पर है उसको ऐसा नहीं होता है। उसको तो पहले घर में सेवा करने का भाव आयेगा; अगर उसको ये दया नहीं है तो कहीं और दया हो ही नहीं सकती।

उदाहरण के लिए अपना जो परिवार है, एक पारिवारिक परिक्षेत्र है, तो उस क्षेत्र में अगर अपने अपने जो भाई हैं, बहन हैं या कुटुंब है, परिवार है, उनके प्रति तो दया नहीं हो और पंचकल्याणक करावे! वो तो भूखो मरते हों, उनको तो रोटियाँ भी बड़ी मुश्किल से मिलती हों

और ये, पंचकल्याणक करावे; वो जीव पंचकल्याणक नहीं करा सकता, भले ही करा लिया हो उसने, लेकिन वो करा नहीं सकता है। उसको उतना पुण्यभाव नहीं होगा। इसलिए उसका पहला कर्तव्य ये है कि वो अपने परिवार को संभाले। दान न दे, क्योंकि वो परिवार का दान नहीं कहलायेगा, लेकिन ये उसका पहला कर्तव्य है।

इसलिए सबसे पहले तो वो सेवा और दया का जो परिणाम परिवार से शुरू हो! जैसे परिवार में कोई ऐसा है कि बहुत कष्टसाध्य बीमार है; जैसे बूढ़ी स्त्रियाँ जो होती हैं, तो उनको क्या होता है कि उनको कुछ नियम जैसे होते हैं। तो उन नियमों में क्या होता है कि – मुझे तो जल्दी मंदिर जाना है। 6 बजे मंदिर पहुँचना है और फिर वहाँ जाकर पाठ सुनना है, फिर वहाँ जाकर मुझे पूजा करना है, ये करना है; तो घर में जैसे कोई बीमार है तो वो उसकी उपेक्षा करके मंदिर चली जाएगी। और उसको कह जाएगी कि ये ले! ये दवा ले लेना और ये-ये कर लेना और मेरा तो मंदिर का टाइम हो गया! तो उसको समझना चाहिए कि उसका मंदिर पहले ये है, उसका पहला मंदिर बीमार को संभालना है। इसलिए उसको उसकी सेवा करनी चाहिए; भले पूजा छूट जाए, दर्शन छूट जाए और सब छूट जाए लेकिन उसको पहले उसकी सेवा करना चाहिए। तो इस तरह का छल-कपट न हो!

घर में जैसे अपन ये नौकर वगैरह लगाते हैं, तो उन नौकरों से अधिक काम न ले, इस बात का हमेशा ध्यान रखें – ये नहीं रखे कि हम पैसा देते हैं, इसलिए उनसे खूब डटकर काम लें – ऐसा भाव न रखे! लेकिन कितना ही पैसा दो, पर भाव ये रहे कि इन पर हल्के से हल्का वजन हो।

अपन भोजन करते हैं। तो भोजन की थाली में सब्जी की चार कटोरी की कहाँ जरुरत है? तीन सब्जी तो उसमें थाली में ही आ सकती

हैं, तो तीन कटोरी बच गईं। अब खाली एक दाल की कटोरी चाहिए! ये standard (स्तर) की बातें हैं? ये standard, महापाप है – घर में बीस आदमी हैं तो उस पर वजन कितना हो गया? इसी तरह कपड़ों में standard कि जल्दी-जल्दी रोज़-रोज़ ही धुलने डाले, क्योंकि इसे तो पैसे देते हैं न, तो धोएगा! ये महापाप के परिणाम हैं और इसमें कभी भी चाहे कितनी ही पूजा करो और कितने ही दर्शन करो, लेकिन इसमें काम नहीं हो सकता है।

एक ये परिणाम कि सत्य को तुरंत स्वीकार करे! भले ही वो कर न सके, लेकिन सत्य को तुरंत स्वीकार करे! और अहिंसा का भाव इतना हो कि एक भी प्राणी की हत्या मेरे से न हो। जैसे लोग नहाते हैं तो कितना पानी खर्च करते हैं? बाल्टियों की बाल्टियाँ पानी खर्च करते हैं। घर में गीजर लगे रहते हैं, उनमें अनछने पानी को उड़ेलते हैं। अनछना पानी जिसमें अनंत जीव हैं, अनंत त्रस, माँसवाले जीव....48 मिनट के भीतर अंतर्मुहूर्त में जो ठंडा पानी होता है छना हुआ, उसमें अंतर्मुहूर्त बीत जाने पर अनंत जीव पैदा हो जाते हैं, माँस वाले त्रस जीव! तो उसको वैसे ही पीता रहे, बिना छानकर दिन भर ही पीता रहे और geyser (गीजर) में खूब पानी डाले अथवा नहाने के लिए पानी इस तरह से उड़ेले, अथवा बहुत पानी खर्च करे, अनर्गल पानी खर्च करे – ये सारा का सारा महा पाप कहा है। बहुत आसानी से बहुत थोड़े पानी से नहा सकता है। एक व्यक्ति एक मग या दो मग से नहा सकता है। कितने से? दो मग से अच्छी तरह से नंहा सकता है, लेकिन वो पानी ज्यादा खर्च करेगा फिर भी नहा नहीं सकेगा, क्योंकि स्नान में जो रक्त-संचार होना चाहिए, वो तो हुआ ही नहीं। तो उसको टोवेल से करना चाहिए। टोवेल-बाथ (towel-bath) करना चाहिए। उससे पानी भी कम खर्च होगा और काम भी हो जाएगा। व्यवहार में ये सब ऐसी चीजें हैं।

खाने-पीने की चीजें, जिनमें बहुत अधिक हिंसा होती है, उनका त्याग करे। जो बिल्कुल त्याग करने लायक हैं, जिनमें बहुत अधिक हिंसा होती है और अनंत जीव जिसमें रहते हैं, उनका तो तुरंत त्याग करे ही करे! उसमें ऐसा नहीं सोचे कि इसमें vitamin ज्यादा है। यहाँ धर्म में विटामिनों का हिसाब नहीं लगाया जाता है कि इसमें vitamin ज्यादा हैं या कम हैं। यहाँ तो सबसे पहले धर्म कहा है। जो तत्त्वज्ञानी है, उसको धर्म प्रधान है। इसलिए उससे जितना बनता है, उतना त्याग अवश्य करे!

ऐसे अभक्ष्य के भेद तो बहुत हैं पर वो सारा नहीं कर पाता। अपन अभी मनुष्य-जीवन की बात कर रहे हैं। वो सारा नहीं कर पाता है, लेकिन जिसमें बहुत अधिक हिंसा होती है, बहुत अधिक जीव रहते हैं, जैसे वनस्पतियों में, तो उनका तुरंत त्याग कर देना चाहिए। जैसे गोभी है, आलू है, प्याज है, लहसुन है, शक्करकंद है, गाजर है, मूली है इत्यादि, इत्यादि। अब इसमें और दूसरी चीजें भी होती हैं कि जिनमें छूट दी जाती है।

ये सारा जो है चरणानुयोग का कथन है, तो एक तो इसमें अपनी बुद्धि नहीं लगाना कि किसने देखे हैं आलू में जीव? अरे! किसने देखे हैं? आत्मा शुद्ध है ये किसने देखा है? तो जिस सर्वज्ञ ने वो देखा, वो ही सर्वज्ञ ये देख रहा है। ये सारे वचन सर्वज्ञ के हैं। इसलिए ऐसी दुर्बुद्धि का तर्क नहीं करना चाहिए। जमीन के भीतर जो पैदा होते हैं और जिनमें अनंत जीव होते हैं, उनको जमीकंद कहते हैं, तो उनका त्याग करना चाहिए, क्योंकि उनमें बहुत जीव होते हैं।

वनस्पति दो प्रकार की होती है - एक साधारण और एक प्रत्येक। तो जो साधारण वनस्पति होती है उसमें अनंत जीव होते हैं और प्रत्येक में भी दो भेद होते हैं। प्रत्येक में एक तो ऐसी होती है कि जिसके आश्रित अनंत साधारण जीव रहते हैं; साधारण माने निगोदिया जीव! साधारण

कहें अथवा निगोद कहें – एक ही बात है। तो वो अनंत जीव उसके आश्रित रहते हैं और वो जिस समय बड़ी होती है तो वो अनंत जीव निकल जाते हैं।

कई ऐसी भी होती हैं कि वे जीव उनमें से नहीं निकलते हैं – जैसे आलू है, गोभी है, गाजर है इत्यादि। ये ऐसे हैं कि इनमें से वो जीव निकलते नहीं हैं। और कुछ ऐसी होती हैं कि उनकी अवस्था बहुत छोटी होती है। जैसे ककड़ी है, तो लोग सब्जी वाले से बिल्कुल बारीक ककड़ी छाँटते हैं। अब वो ककड़ी एकदम तोड़ते ही ऐसी टूटती है कि जैसे चाकू से तोड़ी हो! उसमें अनंत जीव होते हैं। जैसे केरी अभी आने लगी हो, छोटी हो और उसके भीतर जाली नहीं पड़ी हो तो उसमें अनंत जीव होते हैं। इन सब चीज़ों का त्याग कर देना चाहिए। इनके बिना मर थोड़े ही जाता है! मरेगा नहीं न! बस तो वहाँ इतना सोचना चाहिए कि मैं मर तो नहीं जाऊँगा!

दूसरा ये है कि जैसे द्विदल बहुत बड़ा अभक्ष्य होता है, जिन चीज़ों की दो दाल होती हैं, उनको दही–छाछ और दूध इन तीनों में मिलाकर खाना। मिलाने से नहीं कुछ भी नहीं होता, लेकिन वो जब मुँह में जाते हैं और उनका लार के साथ संयोग होता है, तब उसमें अनंत जीव त्रस जीव पैदा होते हैं; त्रस माँसवाले जीव अनंत जीव पैदा होते हैं। तो मुँह श्मशान बन जाता है। दाल तो सभी ऐसी होती हैं। और बाकी जिसकी भी दो दालें होती है, जैसे मिर्च का ही बीज है (तो) उसकी भी दो दाल होती है। अपन जो सब्जियाँ लेते हैं उनमें भी बीज निकलते हैं, उनकी भी दो दाल होती है। तो वो सब त्यागने लायक है।

अब उसमें दो विकल्प हैं कि एक तो ऐसे होते हैं कि जिनमें तेल निकलता है। तो उनकी कहीं तो छूट दी है और कहीं नहीं दी है। तो त्याग कर सके तो सबका त्याग कर देना चाहिए। और नहीं तो छूट भी

दी है उसके आगम के प्रमाण भी हैं कि जिन चीज़ों में तेल निकलता है, उसकी दो दाल होती हो तो भी दोष नहीं लगता।

जैसे तिल! तेल किसी में भी निकलता हो। जैसे ये सारे मेवे हैं, अब इनमें तेल निकलता है। तो इसमें दो मत मिलते हैं। एक क्रिया-कोष नाम की पुस्तक है। उसमें तो सब गिनाए हैं कि इनमें भी दोष लगता है। और कुछ और ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि जिनमें से तेल निकलता हो, तो भी उसमें द्विदल का दोष नहीं लगता है।

घर की बात तो बहुत दूर, लेकिन जहाँ हज़ारों लोगों का जीमन होता है, वहाँ भी लोग दही-बड़े और इस तरह के अनेक प्रयोग करते हैं। इसलिए आचार्य ने कहा कि अल्पफल कि जिसका फल तो हो थोड़ा और बहुत हिंसा हो, ऐसे जो मूली है, अदरक है, शंगबेर माने छोटे बेर आते हैं, वो लाल-लाल वो हैं और नवनीत माने मक्खन...मक्खन में बहुत जीव होते हैं। मक्खन खाने लायक ही नहीं है बिल्कुल, वो तो जैसे माँस का ही दूसरा नाम है।

इसलिए जो घी बनाने की विधि है, वो ये होती है कि 24 घंटे का जमाया हुआ होता है; और उसका रोजाना घी बनता है। उसको तो ऐसा करते हैं कि वो उधर तो छाछ में से निकाला और इधर उसको पात्र को पहले से ही अग्नि पर ही रखे रहते हैं और उसमें मक्खन को डालते जाते हैं। वरना वो उस मक्खन में बहुत जल्दी जीव पैदा होते हैं। और अपन तो बाजार में से लाते हैं, ना मालूम कबसे फ्रीज में रखा हुआ, बाजार से लाते हैं।

इसलिए ये बहुत सी चीजें हैं कि इन सबका त्याग एकदम कर देना चाहिए। उसका कारण ये है कि हम तत्त्वज्ञान चाहते हैं और तत्त्वज्ञान में भी हम शुद्धात्मा को चाहते हैं। तो शुद्धात्मा के लिए जितने नरम

परिणाम होने चाहिए, वो परिणाम तो होंगे ही नहीं, क्योंकि हमारे चित्त में कहाँ है इनके प्रति दया ? हमको तो जिनवाणी मिली है। जिनवाणी से ये सीखने को भी मिला है। सीखने को मिल गया तो हमें पालन करना चाहिए न ? तिर्यञ्च को कोई दोष नहीं देगा, क्योंकि उसको ना तो जिनवाणी मिली है और ना उसको कोई जिनवाणी सुनानेवाला मिला है, तो तिर्यंच को इस तरह का कोई दोष नहीं दिया जाएगा क्योंकि वो समझता ही नहीं है कि आलू में अनंत जीव होते हैं। इसलिए वहाँ दोष नहीं है। लेकिन यहाँ मनुष्य पर्याय में, जैन-कुल में पैदा हुआ और उसको जिनवाणी मिली, तो उसको अवश्य इसका पालन करना चाहिए। अन्यथा ये माना जाएगा इसका चित्त बिल्कुल पाषाण है, तो पाषाण-चित्त में तत्त्वज्ञान का बीज अगर डाल भी दिया जाएगा तो व्यर्थ जाएगा। खूब दिनभर भले समयसार पढ़ते ही रहो न ! मगर क्या होता है उससे ? चित्त तो ऐसा है।

**मुमुक्षु :-** ये जमींकंद में निगोदिया जीव रहते हैं ?

**पूज्य बाबूजी :-** जमींकंद में भी ऐसा ही होता है कि जमींकंद में कुछ चीजें ऐसी हैं, जैसे हल्दी, तो उसको माना है काष्ठाधिक ! काष्ठाधिक माने वो सूख जाने पर काष्टिक....तो मूँगफली गीली नहीं खाना चाहिए। लेकिन मूँगफली के छिलके में वो जीव होते हैं। भीतर दानों में वो जीव नहीं होते है। इस तरह से ये काष्ठाधिक माने गए हैं।

**मुमुक्षु :-** गीली माने गीली कैसे ?

**पूज्य बाबूजी :-** नीचे ज़मीन में से ही पैदा होती है। गीली, जो छिल्का होता है न, उसमें अनंत जीव होते हैं। भीतर जो दाना है उसमें नहीं होते। ये सारी बातें हमें आज्ञा मानकर, भगवान सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर इनको ग्रहण करना चाहिए। उसमें बुद्धि नहीं लगाना चाहिए।

एक बूँद पानी में बहुत जीव होते हैं और हम अनछना पीते हैं, होटलों का पीते हैं। और इधर कप–तश्तरी, काँच के ग्लास इत्यादि इन सबका व्यवहार करते हैं। वो तो बिल्कुल जूठा ही है – धोने से वो कैसे साफ हो गया? धर्म की दृष्टि से तो वो त्याज्य है ही, लेकिन अपने स्वास्थ्य की दृष्टि से भी वो बिल्कुल त्याज्य है। वो संक्रामक बीमारी वाला पानी पी गया। अब वहाँ कौन धोता है, होटल पर? हमने चाय पी, पानी पी लिया, तो उससे शारीरिक नुकसान भी है, पर उस नुकसान की चर्चा नहीं है। यहाँ तो धर्म की रक्षा कैसे हो? ये बात खास है, इसलिए इनका ऐसा करो कि अभी सभी त्याग कर दो, आज का विषय यही है। अब परसो तो जाना ही है; सब त्याग कर दो। और सुनाऊँ इनका पूरा वर्णन?

**मुमुक्षु :**– बोलो!

**पूज्य बाबूजी :**– आचार–मुरब्बे बहुत पुराने, इनकी सबकी बहुत कम म्याद होती है।

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! भूमि भीनी होनी चाहिए। कड़क भूमि है!

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ, कड़क भूमि है। नरम मिट्टी में बीज पैदा होता है।

देखो! वनस्पति को निगोद कहते हैं उसका लक्षण ये है कि उसमें शरीर एक होता है। जैसे आलू निगोद नहीं है पर उसके आश्रित निगोद जीव रहते हैं। ये हमेशा याद रखना। निगोद को साधारण वनस्पति कहते हैं – निगोद और साधारण वनस्पति एक ही बात है। जैसे बरसात के दिन हैं और अपने जो आचार हैं, उनके ऊपर सफेद–सफेद फफूँद आ जाती है, वो भी निगोद है। गीली ईंट के ऊपर हरा–हरा छा जाता है, वो भी निगोद है। बरसात के दिनों में सफेद–सफेद छतरी जैसी पैदा होती है, वो भी निगोद है। जल में जो काई होती है, वो भी निगोद है।

**मुमुक्षु :**- जल में काई मतलब ? शेवाल !

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ शेवाल ! उसमें भी अनंतानंत जीव होते हैं। और दूसरे जो अभी अपन ने बताए, ये आलू अदरक वगैरह। ये जो हैं। प्रत्येक वनस्पति उसे कहते हैं कि जिसमें एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो। तो उस शरीर का स्वामी तो एक ही जीव होता है। आलू में भी शरीर तो बहुत होते हैं, लेकिन फिर भी उसके जो भेद हैं, उसमें एक शरीर का धारक एक जीव होता है। और उस आलू के आश्रित निगोद वाले अनंत जीव दूसरे रहते हैं जो कभी निकल नहीं पाते हैं। आलू है, शक्करकंद है, गाजर है, मूली है - इनके जीव नहीं निकलते हैं। ककड़ी भी बड़ी हो गई, तो उसके जीव निकल जाते हैं, तब वो खाने लायक मान लेनी चाहिए।

वैसे तो वनस्पति मात्र का त्याग करना चाहिए। 10 लाख वनस्पति हैं। तो उनमें से अपने को कम से कम इतना अवश्य करना चाहिए कि अपन उसकी गिनती रख लें कि हम अपने जीवन में 100 वनस्पति से अधिक नहीं लेंगे अथवा 150 या 200 से अधिक वनस्पति नहीं लेंगे। तो उससे ये परिणाम होगा कि बाकी जितनी वनस्पतियाँ हैं, उनके पाप से हम बच गए। अगर हमने ये नियम नहीं लिया तो 10 लाख का पाप रोजाना लगता है, चाहे वो वनस्पति हम खावें ही नहीं। काम में ही नहीं आए, पर 10 लाख का पाप रोजाना लगता है क्योंकि वो परिणाम इतना कठोर है न ! हमारा परिणाम इतना कठोर है कि हम कौनसी नहीं खायेंगे उस दिन 10 लाख में से। वो निर्दयता का इतना भीषण परिणाम है।

उनको सूची बनाकर लिखने में कोई मुश्किल नहीं है। जो-जो चीज हम रखना चाहते हैं, जो हमारे नई-नई हमारे काम आती जाती हैं, उनको लिखते जायें। लिखने में दो महीने लगेंगे या छह महिने लगेंगे। वो लिखकर समाप्त कर दें कि भाई ! हमने ये 100 का रखा है। 150 का रखा है, 200 का रखा है।

**मुमुक्षु :-** वो तो बहुत easy (आसान) है।

**पूज्य बाबूजी :-** बहुत आसान है वो तो! फिर उससे परिणाम में निर्मलता कितनी आ गई।

इसी तरह पानी छानकर पीना! पानी गरम कर लिया जाए थोड़ा! तो वो छह घंटे तक पिया जा सकता है और यदि उसे उबाल लिया जाए तो वो 24 घंटे तक पिया जा सकता है। ठंडा पानी हो तो वो अंतर्मुहूर्त में माने 48 मिनट में उसमें त्रस जीव पैदा हो जाते हैं। त्रस माने दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय - इन जीवों को त्रस कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव में माँसादिक नहीं होते हैं, तो उनका दोष लगता है। इसलिए बस थोड़ा सा उसे गरम कर लिया तो छह घंटे तक पी लो!

निगोद माने अनंतपना है निश्चित जिनका, वे अनंत रहते हैं। ऐसे जीवों का एक ही क्षेत्र माने एक शरीर जो स्थान देता है उसको निगोद कहते हैं। शरीर तो एक होता है। अचार के ऊपर जो सफेद फूलन आ गई उसमें शरीर तो है एक और उसमें जीव हैं अनंतानंत! और हम क्या करते हैं कि उसको या तो निकालकर फेंक देते हैं या उसी में घोल देते हैं कि इसमें तो विटामिन ज्यादा रहते हैं। जैसे जल की काई, ईंट आदि की काई, कूड़े से उत्पन्न हुआ हरा नीलारूप। जटाकार कांजी आदि से उत्पन्न - ये सब बादरकाय निगोद जानना! बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के निगोद होते हैं। ये बादर तो दिखाई देते हैं। और सूक्ष्म जीवों से तो ये सारा लोक ही भरा हुआ है। सूक्ष्म निगोदिया से तो सारा लोक भरा है।

**मुमुक्षु :-** माने निगोद में भी दो प्रकार हैं - बादर और सूक्ष्म?

**पूज्य बाबूजी :-** दो प्रकार - बादर और सूक्ष्म।

अब सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक! प्रत्येक वनस्पति,

जैसे सेब है apple तो उसमें निगोदिया जीव नहीं हैं। तो वो एक है लेकिन उसमें भी असंख्यात् शरीर हैं, अर्थात् एक सेब में एक जीव नहीं है। एक वृक्ष को एक ही जीव मानते हैं। श्वेतांबरों में ये प्रवृत्ति है कि इसमें से तोड़ लिया तो उसमें जीव नहीं रहा, वो बिल्कुल गलत है। उसमें असंख्यात् शरीर रहते हैं और असंख्यात् शरीर में से एक-एक शरीर में एक जीव रहता है प्रत्येक कहते हैं, और जिस प्रत्येक शरीर के आश्रित ये निगोदिया जीव रहते हैं, जैसे वो बारीक ककड़ी इत्यादि...आलू वगैरह शक्करकंद वगैरह! तो इनमें से जीव निकलते नहीं हैं और उनमें से निकल जाते हैं, तो जिनमें से नहीं निकलते हैं उनका हमेशा के लिए त्याग करना चाहिए।

अब इनकी रचना बताई है। वो जानकर अपने को आश्चर्य हो जाएगा। एक निगोद शरीर में द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा से देखे गए जीव, सब अतीतकाल के द्वारा सिद्ध हुए जीवों से भी अनंत गुणे हैं। अब देख लीजिए! एक निगोद शरीर बहुत छोटा सा होता है, तो उस एक निगोद शरीर में कितने जीव होते हैं कि भूतकाल में जितने सिद्ध भगवान हो गए हैं उन सिद्ध भगवान से अनंत गुणे जीव उतने छोटे शरीर में होते हैं। जैसे आलू में सूई लगा दी अपन ने, तो उतनी सी जगह में इतने जीव हैं कि अनंतकाल तक भी 608 जीव जो छह महिने और आठ समय में मोक्ष जायेंगे, तो भी उनका अंत नहीं होगा! तो कितने जीव हो गए?

**मुमुक्षु :-** जीवराशि ....

**पूज्य बाबूजी :-** जीव राशि तो उतनी है कि आलू में एक सुई की नोंक लगा दी, तो उस शरीर में इतने जीव हैं कि पहले जो अनंत सिद्ध हो गए उन अनंत सिद्धों से अनंत गुणे जीव उस आलू के एक कण में हैं - अब और का क्या हिसाब लगायेंगे? पूरे आलू का क्या हिसाब लगायेंगे? और गोभी का क्या हिसाब लगायेंगे? कैसे होगा?

**मुमुक्षु :**- पत्ता-गोभी ?

**पूज्य बाबूजी :**- पत्ता-गोभी भी खाने लायक नहीं है क्योंकि पत्ता-गोभी में layers होती हैं। परत होती हैं न! उन परतों में बहुत त्रस जीव पैदा होते हैं, उड़ने वाले! माँसल जीव पैदा होते हैं। तो ये आलू वगैरह को सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं और जो सेब है, मौसम्बी है, उनको अप्रतिष्ठित कहते हैं अर्थात् उनके आश्रित निगोदिया जीव नहीं रहते हैं।

देखिए! अब यहाँ क्या कहते हैं रचना, इनकी रचना बताते हैं कि पहला होता है स्कंध, दूसरा होता है अंडर, फिर आवास, फिर पुलवी और फिर निगोद शरीर। ये पाँच भेद होते हैं। तो उनमें से जो बादर निगोदों का आश्रयभूत है, बहुत बखारों से युक्त है, ऐसे मूली, अदरक, थुवर आदि संज्ञाओं को धारण करनेवाला स्कंध कहलाता है।

**मुमुक्षु :**- थुवर माने ?

**पूज्य बाबूजी :**- थुवर माने थुवर एक वृक्ष होता है। थुवर वृक्ष बहुत काँटेवाला होता है। आप लोग क्या कहते हैं? गँवारपाठा, उसको कुमारी भी कहते हैं - वो गँवारपाठा भी साधारण है, वो इसी में आता है।

वो तो हुआ स्कंध और स्कंध के बाद अंडर होता है। उन स्कंधों के जो अवयव हैं, उन्हें अंडर कहते हैं। एक स्कंध में वे असंख्यात् लोक प्रमाण होते हैं। ये शरीर असंख्यात् लोक प्रमाण हुए और जो अंडर के भीतर स्थित हैं उन्हें आवास कहते हैं। एक अंडर में असंख्यात् लोक प्रमाण आवास होते हैं।

और जो आवास के भीतर स्थित हैं और पिशवियों के समान हैं, उन्हें पुलवी कहते हैं। एक-एक आवास में वे असंख्यात् लोक प्रमाण होती हैं। तथा एक-एक आवास की अलग-अलग - एक-एक पुलवी में

असंख्यात् लोक प्रमाण निगोद शरीर होते हैं। असंख्यात् लोक प्रमाण निगोद शरीर अर्थात् कितने शरीर हुए? असंख्यात् लोक प्रमाण निगोद शरीर। असंख्यात् लोक माने लोक के असंख्य प्रदेश ऐसे असंख्यात् लोक! तो इतने उसमें निगोद शरीर होते हैं ये तो, निगोद जीव नहीं।

**मुमुक्षु :-** निगोद शरीर!

**पूज्य बाबूजी :-** निगोद शरीर होते हैं। औदारिक तेजस कार्माण पुद्गलों के उपादान कारण होते हैं। ये औदारिक तैजस और कार्माण हर जीव में होते हैं और जो पुलवी के भीतर स्थित द्रव्यों के समान अलग-अलग अनंतानंत निगोद जीवों के ऐसे आपूर्ण होते हैं, कि वो जो अनंत निगोदिया शरीर हैं उनमें से एक-एक निगोद शरीर में अनंतानंत जीव होते हैं। एक पुलवी में असंख्यात् लोक प्रमाण निगोद शरीर और एक शरीर में अनंतानंत जीव। अब वो अनंतानंत जीव वो अनंत भविष्य बीत जाएगा, तो भी वो जीव मोक्ष के लिए पूरे नहीं हुए उस उतने से शरीर के! तो जगत में वनस्पतियाँ तो कितनी भरी हैं, इतना जबरदस्त पाप है।

**मुमुक्षु :-** निगोद शरीर की स्थिति?

**पूज्य बाबूजी :-** कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण, एक निगोद शरीर की स्थिति होती है। कम भी होती है, लेकिन अधिक जो नित्य निगोद होते हैं, जैसे सात नरक के नीचे हुए....सात नरक जो हैं उसके नीचे एक राजू की निगोद-भूमि है। उसे कलकल भूमि कहते हैं। उसमें नित्य निगोदिया जीव रहते हैं, उनमें ऐसी स्थिति होती है। सातवें नरक से तो जीव वापस आ सकता है!

नित्य निगोद से तो आते हैं, वहाँ से भी निकलते हैं - वहाँ भी पुण्य और पाप दोनों प्रकार के परिणाम होते हैं। ज्ञान कम होते हुए भी पाप-

पुण्य के परिणाम अंतर्महूर्त में बदलते रहते हैं। अपन लोगों के भी बदलते रहते हैं, इसी तरह उनके भी बदलते हैं। जब पुण्यभाव होता है, उसमें आयु बंध जाए तो सीधे मनुष्य हो जाते हैं। सीधे मनुष्य होकर आठ वर्ष की अवस्था में सम्यग्दर्शन धारण करके और अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष चले जायें! भरत के हैं न 923 पुत्र! उनका उदाहरण आता है न 923 पुत्रों का? वे बोले ही नहीं! बोले तो भगवान के सामने ही बोले कि हमको जैनेश्वरी दीक्षा दीजिए! आठ वर्ष तक बोले ही नहीं।

## निगोद में भी पुरुषार्थ!

**मुमुक्षु :**- बाबूजी! इसमें पुरुषार्थ क्या हुआ?

**पूज्य बाबूजी :**- बिना पुरुषार्थ के क्या होगा?

**मुमुक्षु :**- मतलब कि कौनसा और किस प्रकार का पुरुषार्थ हुआ?

**पूज्य बाबूजी :**- परिणति को Turn (घुमाव) देना उसको, परिणति जो जगत की ओर जाती है, विषय की ओर जाती है, पुण्य और पाप की ओर जाती है, उनमें आसक्ति किए बैठी है, वहाँ से तोड़ना और उपयोग को, ज्ञान को शुद्धात्मा की ओर लगाना! इसमें पुरुषार्थ नहीं है?

**मुमुक्षु :**- नित्य निगोद में भी पुरुषार्थ है?

**पूज्य बाबूजी :**- भीतर ही भीतर होता न! जैसे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य होता है और वो नहीं बनता, तो अपन भीतर ही भीतर विकल्प में जोर लगाते हैं कि नहीं लगाते? हो जाना चाहिए। इतनी जल्दी होना चाहिए वरना बहुत नुकसान हो जाएगा। क्या है ये? पुरुषार्थ है, लेकिन विकल्प अलग और ये जो परिणति होती है, इसका नाम पुरुषार्थ है।

सब तरफ से उपयोग को turn (घुमाव) देकर और केवल ज्ञायक

की ओर लगाना, इसमें महापुरुषार्थ है। पहले अनंत लोकालोक के साथ इसको ममत्व था और अपना मानकर बैठा था। और कर्ता-कर्म की जबरदस्त बुद्धि थी कि मैं सब कुछ कर सकता हूँ। सब कुछ कर सकता हूँ - इतना मानता था न ? अब उस सबको समाप्त किया तो क्या बिना पुरुषार्थ के समाप्त होगा ? तो उस पुरुषार्थ से उसको समाप्त करके और उपयोग को उसी अनंत पुरुषार्थ से शुद्धात्मा की ओर ले जाना। तो अनंत पुरुषार्थ होगा न! कितना ममत्व फैला हुआ है ? सारा लोकालोकव्यापी ममत्व, उसमें अनंतानंत पदार्थ और उन सबमें हमारा एक ही समय में ममत्व...तो कितना बड़ा काम हुआ!

## व्यवहार का अन्य स्वरूप

**मुमुक्षु :-** ये तो बाबूजी, खाने-पीने और रहन-सहन के बारे में व्यवहार हुआ! जीवन के दूसरे क्षेत्र में किस तरह का व्यवहार होना चाहिए ?

**पूज्य बाबूजी :-** इस तरह का हो कि बस मार्दव परिणाम रहें, कोमल परिणाम रहें तो सब हो गया बस! वो तीन प्रकार के शुभ भाव बताये न! कि देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति-अनुकंपा और अकलुष भाव। अकलुष भाव माने हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह इनका त्याग हो अथवा ये कम हों। इस बात का तो मंदिर में भी ध्यान रखें।

**और भी बहुत बातें हैं। जैसे मान लीजिए हम मंदिर में पूजा कर रहे हैं और वहाँ दूसरे लोग भी पूजा कर रहे हैं। अब हम जोर-जोर से बोल रहे हैं तो वो भी पाप है। उसको पता ही नहीं कि दूसरा भी पूजन कर रहा है तो उसको कितना विघ्न होगा।** बिना काम के झालरें बजा रहे हैं। लोग मंदिर में जाते ही घन्टी बजाते हैं न! अब इसकी क्या जरुरत है ? कोई माला फेर रहा है, कोई पूजा कर रहा है, कोई स्वाध्याय

कर रहा है तो घन्टी बजाने की क्या जरूरत है? भगवान को जगाना है क्या? ये तो एक अनुकरण चल गया है, जैसे दूसरी जगह भगवान को जगाते हैं। भगवान छह महिने सोते हैं न! और छह महीने जागते हैं – ऐसा आता है वहाँ! तो अपने यहाँ भी जबरदस्ती नकल हो गई!

**मुमुक्षु :–** वो तो आरती के समय का घंटा....आरती के समय का होता है?

**पूज्य बाबूजी :–** आरती का समय तो अब हमने बना लिया है। उसकी तो जरूरत ही नहीं है न! क्योंकि वो टाँगेंगे तो रोज ही बजायेंगे। बल्कि लोग तो खेल करते हैं कि अपने गोद में बच्चा ले जाते हैं और उससे बजवाते हैं। उसकी जरूरत कहाँ है? जिस समय कोई समारोह हो और उस समय बजाना हो तो उस समय दूसरी व्यवस्था रखो। बहुत व्यवस्थायें हैं इस तरह की।

**मुमुक्षु :–** माने ये दूसरे लोग भगवान के दर्शन कर रहे हों, उनको भी बाधा वर्जित है?

**पूज्य बाबूजी :–** कितना अविवेक हुआ? विवेक तो एक मशाल है – जीव को उसके प्रकाश में चलना चाहिए। तो हर जगह विवेक, हर समय.....सही बात को एकदम स्वीकार करना – उसमें अपनी कोई मौत थोड़े ही होती है। घर में कोई बड़ा है अथवा समझदार है, वो कोई बात कहता है, कोई भी बात, कोई दुनिया संबंधी, लोक संबंधी, धर्म संबंधी, उसको एकदम स्वीकार करे, क्योंकि वो तो बुरी आदत के बारे में कहते हैं, जो छोड़ने लायक है। उसमें क्या है? मैं भविष्य में नहीं करूँगा।

घर की व्यवस्था संबंधी बात तो लौकिक है, लेकिन लौकिक नहीं लोकोत्तर है, क्योंकि घर में अगर हम अव्यवस्था रखेंगे तो परिणाम में

tension (आकुलता) बहुत रहेगी। उदाहरण के लिए जैसे पति-पत्नी हैं। पति का स्कूटर है। स्कूटर की चाबी उसने पत्नी को दे दी और अब उसने कहीं भी डाल दी। पति रखता था अपनी जगह पर और तो पत्नी ने तो कहीं भी डाल दी। अब पति को जरूरी काम आया तो वो कहता है कि चाबी लाओ, मुझे जरूरी जाना है। जल्दी जाना है एकदम court अदालत जाना है। अब उसको चाबी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते दो घंटे हो गए और नहीं मिली। कितना पाप हो गया?

**मुमुक्षु :-** परिणाम बहुत कलुषित हो गए।

**पूज्य बाबूजी :-** कितनी tension हो गई दोनों को! तो इसकी अपेक्षा ये है कि ये यहाँ रहेगी चाबी - ये व्यवस्था है। इस जगह से ले लिया करो। इसलिए जो स्थान हमने नियत किये हैं, किसी वस्तु के लिए, उन्हीं स्थानों पर वो चीज हम अँधेरे में भी पा सकेंगे, और दूसरे भी पा सकें - ऐसी व्यवस्था घर में रखना चाहिये।

**मुमुक्षु :-** तो ये तो घर की व्यवस्था हो गई?

**पूज्य बाबूजी :-** घर की व्यवस्था नहीं हुई, ये मोक्ष की व्यवस्था हुई। उसमें परिणाम कितने शांत हुए! और ये व्यर्थ का प्रमाद है। ऐसे प्रमादी जीव को यदि मोक्ष भेजा जाएगा तो वहाँ वो खलबल नहीं करेगा क्या? खलबली नहीं मचायेगा?

बिना देखे वस्तु को उठा लेना-धरना, उसमें जीव पड़ जाते हैं अपने घरों में, वस्तुओं में जीव पड़ जाते हैं, तो उनको बेरहमी से निकालना, कहीं भी धूप में डाल देना - ये सब क्या हैं ये? करना पड़ता है। गृहस्थ में है तो करना पड़ता है, लेकिन उसमें इतना विवेक हो कि जीवों की हिंसा कम से कम हो और ये मंदिर में फल-फूल वगैरह, ये तो हिंसा है ही सही। इसमें तो क्या है? इसलिए हर चीज में विवेक होना चाहिये।

सेवा का भाव हो, अनुकंपा का भाव हो, दया का भाव हो। घर में जैसे बहू बीमार है। और सास को जो है वो मंदिर जाने का नियम है कि मुझे तो जल्दी पहुँचना है। तो ऐसा नियम होता नहीं, वैसे तो इस प्रकार का नियम लिया नहीं जाता है, सब नियमों में अपनी परिस्थिति का ध्यान रखकर नियम लिया जाता है और शक्ति के अनुसार लिया जाता है। तो वो बहू की सेवा तो नहीं करे और वो बुखार के मारे तड़फ रही है। जैसे न्यूमोनिया हो गया। अब ये क्या समझे ? जो बुढ़िया है वो तो समझे नहीं कुछ! मुझे तो मंदिर जाना है। और देख कहाँ है, कहाँ है बुखार ? देख! ठंडा तो हो रहा है शरीर। कहाँ है ? और वो कह दे कि, ये नहा लेना इससे, ये टंकी में पानी भरा है और सर्दी के दिन हैं और उस दिन सास तो मंदिर चली गई। तो उसने बिचारी ने क्या किया ? वो तो आज्ञाकारिणी थी, सो हो गया उसको तो डबल न्यूमोनिया हो गया और जब तक सास आई तब तक तो वो मर गई। अब उसकी सास की पूजा का क्या हुआ ? ये तो घर की बात है।

लोग दान करते हैं और अपने घर के लोग भूखे मरते हैं। पहला दान तो ये है, पहला कर्तव्य तो ये है कि इसको खिलाए। साहब! वो तो स्वार्थ है न! स्वार्थ क्या है उसमें ? माने तुम नहीं करते हो तो वो निर्दयता है कि नहीं ? कि तुम तो खाते हो और तुम देख लेते हो कि ये भूखा मर रहा है। तो जब तुम यहीं दया नहीं कर सकते तो औरों पर क्या करोगे ? तुम्हारे सामने ही जो रात-दिन तड़प रहा है, उस पर दया नहीं कर सकते तो औरों पर कैसे होगी ? उसको पैसा नहीं दे सकते तो पंचकल्याणक कैसे करोगे ?

**मुमुक्षु :**- करेगा तो दिखावे के लिए करेगा।

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! वो कर देगा! लेकिन ऐसे पाषाण हृदय वाले निर्दयी जीव को पंचकल्याणक का फल नहीं मिल सकता।

**शांतिभाई :**– द्रव्यकर्म का निमित्त लेकर भावकर्म और भावकर्म का निमित्त लेकर द्रव्यकर्म – तो थोड़ा सा करणानुयोग के बारे में कुछ कहिये !

**पूज्य बाबूजी :**– करणानुयोग में ये ही है द्रव्यकर्म और भावकर्म, ये दो न्यारे–न्यारे हैं। द्रव्यकर्म से भावकर्म नहीं होता लेकिन भावकर्म होता है तो द्रव्यकर्म का उदय अवश्य होता है। उदय रहता है। बस ! ये स्थिति है। लेकिन द्रव्यकर्म के उदय में भावकर्म हो और भावकर्म से द्रव्यकर्म का बंध हो, ऐसी संतति अगर चलती ही जावे तो फिर मोक्ष के लिए कौनसा क्षण है ? कौनसी परिस्थिति है कि वो बदल सकेगा ? इसलिए वो बदलेगा नहीं।

इसलिए आचार्य ने कहा कि ये दो द्रव्य हैं। इन दोनों द्रव्यों को न्यारा–न्यारा देखो। तो जहाँ हमने द्रव्यकर्म को आत्मा से न्यारा देखा, तो फिर द्रव्यकर्म के उदय में होनेवाले जो ममत्व और राग–द्वेष के भाव हैं, मोह–राग–द्वेष के भाव, वो कहाँ दिखाई देंगे ? जब हमने उसको न्यारा ही देखा कि ये तो आत्मा से बिल्कुल पृथक् है, भिन्न चीज है, पुद्गल है, तो वो न्यारा देखने पर, फिर उसके होने पर और उसका अनुशीलन करने पर कि द्रव्यकर्म के उदय में मुझे भावकर्म होता है और भावकर्म से फिर द्रव्यकर्म का बंध हो जाता है......ये जो मानना था मिथ्यात्व भरा ! ये मानना समाप्त हो जाता है। न्यारा–न्यारा देखने पर फिर वो निमित्त नहीं बनता, बल्कि वो ज्ञेय बन जाता है। न्यारा देखा न ! न्यारे हैं कि नहीं ? पहली बात तो ये है !

जैसे एक कैदी है, उसके पैर में लोहे की साँकल है। अब वो अपने को साँकलवाला मानता है। पर बिना साँकलवाला क्यों नहीं मानता ? अरे भाई ! आदमी का और लोहे का संबंध क्या है ? वो तो तेरे अपराध का परिणाम है लेकिन वो वर्तमान में भी न्यारी ही है। तूने अपराध छोड़ा

और वो खुली। और अपराध छोड़ना, साँकल के होते हुए भी हो सकता है। भले ही वो कारावास में हो, काल-कोठरी में हो! लेकिन तो भी अपना जो अपराध था उस अपराध के लिए प्रतिज्ञा कर सकता है कि भविष्य में नहीं करूँगा। तो जेल में भी उसका आदर होने लगता है, वो ऐसा कर सकता है।

इसी तरह द्रव्यकर्म का उदय है! लेकिन गुरु से जो देशना मिली उसको इसने हृदय से स्वीकार किया और स्वीकार करके अब कहने लगा कि द्रव्यकर्म मेरा कौन लगता है? ये क्या कर सकता है मेरा? ये तो मुझे जानता ही नहीं है।

इसमें वो भाव ही नहीं है जो मेरे को होते हैं। मोह-राग-द्वेष के भाव द्रव्यकर्म में हैं ही नहीं, तो ये मेरे को करायेगा कैसे? जो अनपढ़ है, वो अनपढ़ को कैसे पढ़ायेगा? अनपढ़ को पढ़ाने के लिए स्वयं उसे पढ़ा हुआ होना चाहिए न! उसमें यह ज्ञान होना चाहिए कि मुझे इससे बंधना है और इसको दुःख देना है, इसको मोह पैदा करना कराना है। वो ज्ञान उसमें है ही नहीं।

इसलिए देखने की पद्धति ये है कि न्यारा देखो। और न्यारा देखने पर फिर इधर जब न्यारा देखा, तो फिर इधर जो आत्मा रहा वो शुद्ध बचा या अशुद्ध बचा? कैसा बचा? कि बिल्कुल न्यारा देखा, पुद्गल से बिल्कुल न्यारा देखा। तो पुद्गल से न्यारा देखने पर मेरे को मिथ्यात्व-भाव होगा? कैसे होगा? जब तूने उसको बिल्कुल न्यारा देख लिया है तो अब मिथ्यात्व हो कैसे सकता है? मिथ्यात्व होगा कैसे? तू अपने आप को बंधा हुआ मानता है - यहाँ से मिथ्यात्व शुरू होता है। उसका प्रारंभ यहाँ से होता है। इसलिए न्यारा देख लेने पर वो निमित्त नहीं बनता है और इधर मिथ्यात्व आदि का नैमित्तिक भाव पैदा नहीं होता। तब वो ज्ञेय-कोटि में चला जाता है।

जैसे शरीर है, इससे ममत्व तोड़ना है। तो शरीर को ये शरीर के रूप में नहीं देखें, क्योंकि ये एक वस्तु नहीं है। इसमें अनंत परमाणु हैं। अब **हम क्या करें कि इन अनंत परमाणुओं को बिखरा हुआ देखें क्योंकि ये तो आगे जाकर बिखरेंगे ही सही ये। तो वर्तमान में ही इनको बिखरा हुआ देखें। तो फिर शरीर ही नहीं दिखाई देगा तो ममत्व किस से करेगा? किससे ममत्व करे? बिखरा हुआ एक-एक परमाणु दिखाई देगा कि एक-एक परमाणु से जुड़कर बना है, तो एक-एक परमाणु को देखे। शरीर को ही नहीं देखेगा, तो ममत्व का कोई आधार कहाँ रहा!**

ये देखने की पद्धति है। जब कर्म से बंधा हुआ मानता है, तो उसको नैमित्तिकभाव मिथ्यात्वादिक पैदा होते हैं। और जब कर्म को न्यारा देखता है, तो वो नैमित्तिकभाव पैदा ही नहीं होते हैं मिथ्यात्वादिक – ये देखने की पद्धति है। इनको निमित्त नहीं मानना कि ये मेरे भावों के निमित्त हैं। तू भाव करता है तब वो निमित्त कहलाते हैं। अगर तू भाव ही नहीं करेगा और उनको न्यारा मानेगा तो फिर मिथ्यात्व आदि भाव कैसे होंगे – मैं इनसे बंधा हुआ हूँ – ये भाव कहाँ से होगा? वो वस्तु बंधी हुई है तो भी एकदम न्यारी है क्योंकि उसने अपना स्पर्श-रस-गंध-वर्ण है, छोड़ा नहीं है। वो तो जिस समय आत्मा के साथ है उस समय भी स्पर्श-रस-गंध-वर्णवाली ही है।

तो कितनी युक्तियाँ आती हैं कि इसकी मेरी जान-पहचान ही नहीं है। तो ये मेरे को राग-द्वेष कैसे पैदा करायेगा? और इसमें राग-द्वेष नहीं है और ये खुद अपने को नहीं जानता है तो मेरे को क्या जानेगा? और फिर जिन भावों के लिए मैं कहता हूँ कि ये इसके उदय में मेरे को ये भाव होते हैं, तो उसमें तो वो भाव है ही नहीं। वो तो पूरी तरह (से) Cent-

Percent (शत प्रतिशत) निरपेक्षरूप से; तूने ही किये हैं, कर्म से बिल्कुल अलग तूने पैदा किये हैं।

**मुमुक्षु :**- अपनी गलती से रागभाव दिखते हैं।

**पूज्य बाबूजी :**- नहीं! अपनी गलती नहीं रही इसमें। इसमें अपनी गलती खत्म ही हो गई।

**मुमुक्षु :**- मेरा कहना क्या है कि राग कर्म में नहीं है?

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! कर्म में राग नहीं है,वो कहाँ से राग पैदा करायेगा? कैसे राग पैदा करायेगा?

कोई व्यक्ति यूँ कहता है कि मुझे तुमको देखकर एकदम क्रोध आता है। तो व्यक्ति तो यही कहेगा कि मैं क्या करूँ इसका? मैं तो भला आदमी हूँ भैया! मैं तो सच्चरित्र व्यक्ति हूँ।

❖❖❖

# तत्त्वचर्चा : क्रमांक 22

(15 फरवरी 1999)

*इस चर्चा में पिछली चर्चाओं में समागत स्व-पर प्रकाशक सम्बन्धी सभी बिन्दुओं पर आगम प्रमाण प्रस्तुत करते हुए उनका विश्लेषण किया गया है और अन्त में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति काव्य-सुमन समर्पित करते हुए चर्चा का समापन किया गया है।*

**मुमुक्षु :-** निवेदन है कि स्वपरप्रकाशक विषय के जो प्रमाण हैं वो शास्त्र के आधार देकर थोड़ा सा विश्लेषण कीजिए!

**पूज्य बाबूजी :-** शास्त्र के तो बहुत आधार हैं।

**मुमुक्षु :-** बस! वही जानना चाहते हैं कि किन-किन शास्त्रों से कहाँ-कहाँ जो शास्त्रों का आधार दिया गया है उससे इसका स्पष्टीकरण थोड़ा ज्यादा हो जाए!

**पूज्य बाबूजी :-** अब इतना सारा तो नहीं हो सकेगा। पर पहला तो देखो नियमसार का है। नियमसार की गाथा है, 159-169 इस तरह की हैं कुछ तीन-चार गाथायें। उनमें स्पष्ट है न बिल्कुल कि भगवान केवली निश्चय से अपने आत्मा को ही जानते हैं और जो लोकालोक है, परद्रव्य, उसको व्यवहार से जानते हैं।

व्यवहार की परिभाषा अपन सब समझते हैं। 'व्यवहार' शब्द जब भी आए, तब सबसे पहले तो उसका निषेध करना कि ऐसा नहीं है, तो लोकालोक को व्यवहार से जानते हैं, उसका अर्थ ये हुआ कि सचमुच लोकालोक जानने में नहीं आता, लेकिन निश्चय से अपना आत्मा ही

जानने में आता है। और उस आत्मा के जानने में ही लोकालोक समाहित हो जाता है। लोकालोक इसी में समाहित है क्योंकि आत्मा में ज्ञान है न! तो **केवलज्ञान जगत के जितने भी ज्ञेय हैं, उन ज्ञेयों जैसे आकार से वो स्वयं स्वतः निरपेक्ष ज्ञप्ति से परिणमन करता है, और जिनको ज्ञेयाकार कहते हैं उसका अर्थ द्रव्य-गुण-पर्याय है। आकार का अर्थ व्यंजन-पर्याय नहीं लेना लेकिन द्रव्य-गुण-पर्याय लेना, उसमें सब कुछ आ गया।**

जो कुछ उनके द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, ठीक वैसी की वैसी रचना अपने ज्ञान में ज्ञानरूप करते हैं। लोक में उदाहरण के लिए अपन ये कहें कि ये मेरे सामने दीवार है, मैं दीवार को जानता हूँ - इसतरह का भीतर एक विकल्प ज्ञान में पैदा हुआ; तो मैं दीवार को जानता हूँ, इसको हम अगर दीवार की ओर से देखें तब तो यही कहा जाएगा कि ये दीवार को देख रहा है। इसका जो ज्ञान है वो दीवार को जान रहा है अथवा दीवार को देख रहा है। लेकिन जब हम उसके अनुसंधान में उतरेंगे तो क्योंकि दीवार तो ज्ञान में है ही नहीं और ज्ञान जो जानता और देखता है, वो अपनी सीमा में जानता और देखता है।

## ज्ञान में ज्ञानमय ज्ञेय जैसा प्रतिभास

ये बहुत बड़ी बात! याद रखने लायक है कि ज्ञान जो जानता है वो अपनी सीमा में माने आत्मा की सीमा में जानता-देखता है। आत्मा जितना बड़ा है ज्ञान भी उतना ही बड़ा है। और ज्ञान का जितना भी परिणमन है वो परिणमन उसकी अपनी सीमा में ही होता है। इसलिए मैं अपने ज्ञान में, अपने ज्ञान से दीवार को देख रहा हूँ; तो दीवार ज्ञान में है नहीं। तो क्या है फिर? कि ज्ञान में तो ज्ञान ही होता है। और ज्ञान में दूसरा कौन आयेगा? इसलिए वो सचमुच तो दीवार जैसा आकार,

आकार माने द्रव्य-गुण-पर्याय है कि सफेद है, भारी है इत्यादि-इत्यादि। ज्ञान ये आकार अपने भीतर ही भीतर ज्ञानरूप,जाननरूप बनाता है। ज्ञान का वो दीवार जैसा आकार जो उसको भीतर ज्ञान में दिखाई दिया, उसको प्रतिभास कहते हैं। वह प्रतिभास दीवार का है - ऐसा कहना भी व्यवहार है, क्योंकि वो दीवार का नहीं है। वो सारा का सारा प्रतिभास ज्ञान की अपनी चीज़ है, ज्ञान का ही है,ज्ञानरूप है अर्थात् वो प्रतिभास ज्ञान का ही बना हुआ है, इसलिए वो जाननभाव स्वरूप भी है; अर्थात् वो प्रतिभास जानता भी है।

जानता भी वही है और जानने में भी वही आता है - ये बात निश्चय हुई। अब इसके अतिरिक्त हम जो भी बात कहेंगे कि वो लोकालोक को जानते हैं और हम जगत के बाह्य पदार्थों को जानते हैं, तो वो सारी बात व्यवहार में चली जाएगी। ये जो व्यवहार की जो बात अपन कहते हैं कि दीवार जानने में आई - ऐसा जो कथन हुआ, तो दीवार की ओर से तो सभी लोग ये कहेंगे कि हाँ! ये दीवार को जान रहा है; और मैं भी दीवार को जान रहा हूँ - ऐसा एक व्यवहारनयात्मक विकल्प इसके भीतर भी उठता है। **आत्मदर्शन के बाद वो व्यवहारनयात्मक विकल्प है और आत्मदर्शन के बिना मिथ्यादर्शन है। जानने की उस बात को उसकी ओर से कहें तो वो दीवार जानने में आई - ये भी स्वयं ज्ञान की ही पर्याय है। इसलिए वो जो परप्रकाशकता है वो स्वप्रकाशकता की ही पर्याय है।**

## ज्ञान को पर-प्रकाशक क्यों कहा!

पहली बात तो ये है कि परप्रकाशकता तो है नहीं; और यदि ज्ञेय पदार्थों की ओर से परप्रकाशकता कहें भी सही!...क्योंकि जो निश्चय की बात है कि मेरे को तो सिर्फ ज्ञान जानने में आता है। ये हुआ न

निश्चय ? तो यदि ज्ञान ही जानने में आता है, तो प्रतिसमय जो आकार पलटते हैं, ये आकार नहीं पलटने चाहिए। जब ज्ञान ही जानने में आ रहा है तो सिर्फ ज्ञान–सामान्य सपाट एकदम वही जानने में आना चाहिए! तो ये आकार प्रतिसमय क्यों पलटते हैं ? ये ज्ञान प्रतिसमय चित्र–विचित्र रंग–बिरंगा क्यों होता है ? तो इसका कारण है कि ऐसे के ऐसे पदार्थ जगत में बाहर विद्यमान हैं। तो इससे ज्ञेय की सिद्धि हो गई। और वो जो ज्ञेय हैं वो सारे के सारे ज्ञानरूप बनकर ही ज्ञान में आते हैं।

क्योंकि शास्त्र में कहा है कि आत्मा स्वपरप्रकाशक स्वभाववाला है। तो इसमें स्वपरप्रकाशक स्वभाव सिद्ध हुआ कि नहीं हुआ ? कि **भीतर जो ज्ञेय जैसे आकार हैं, उन ज्ञेय जैसे आकारों को हम ज्ञेय कहते हैं। वे हैं ज्ञान के ही आकार, जिसको प्रतिभास कहते हैं। वो हैं ज्ञान के आकार और उनको हम ज्ञेय का आकार कहते हैं।** जिनवाणी में भी कहा है, भगवान की वाणी में आया कि उनको ज्ञेय कहना! वो इसलिए कहा जाता है कि यदि उनको ज्ञेय न कहा जाए, तो वास्तविक बात समझ में नहीं आएगी। लेकिन तब कहा जाए कि जब ये समझ लिया जाए कि सचमुच ज्ञान ज्ञान को ही जानता है। आत्मा आत्मा को ही जानता है, अन्य को नहीं जानता है।

इस तरह आत्मदर्शन अर्थात् स्वभाव का दर्शन हो जाए कि ये जो ज्ञान है – ये ही मैं हूँ, ये ही ज्ञायक है और ये ही मैं हूँ। इस तरह जानकर और फिर भीतर ये विकल्प उठे कि मैं जगत को, लोकालोक को जानता हूँ। केवली भगवान को तो ऐसा विकल्प होता नहीं है, लेकिन अपन को ऐसा विकल्प होता है कि मैं लोकालोक को जानता हूँ, वो व्यवहारनय कहलाता है। **तो प्रतिसमय उस ज्ञेय जैसे अनेक आकार हुए, उन आकारों को ही हम परप्रकाशकता के नाम से पुकारते हैं क्योंकि यदि वैसा नहीं कहें और ये कहें कि ज्ञान ही जानने में आया तो फिर**

**जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर नहीं बनता है। मान लो कोई परमत वाला, अन्यवादि है ; वो ये कहेगा कि तुम्हारा ज्ञान तो ज्ञान को ही जानता है; और जगत को नहीं जानता है इसलिए तुम्हारे यहाँ सर्वज्ञ भी नहीं हैं, तो हम कहेंगे कि हमारा जो ज्ञान है, केवली का जो ज्ञान है वो सारे लोकालोक को स्पष्ट जानता है। और ये जो प्रतिभास बनते हैं ये ठीक ज्ञेय जैसे बनते हैं।**

ज्ञान जब अपने भीतर इतनी सामर्थ्य रखता है कि वो सारे लोकालोक के प्रतिभासों को अपने भीतर बना लेता है तो उसे बाहर जाने की आवश्यकता कहाँ पड़ी ? **वो जो प्रतिभास बने वो भी तो एक शक्ति है या नहीं ? एक तो निश्चय ये हुआ कि ज्ञान ज्ञान को ही जानता है,और दूसरा वो, जो प्रतिभास बने वो भी निश्चय ही है, क्योंकि वो ज्ञान ही है, लेकिन जो प्रतिभास बने उनको यदि व्यवहार की ओर से देखें तो लोकालोक जानने में आया, इस तरह कह सकते हैं न!** क्योंकि ज्ञान ज्ञान को ही जानता है इतना कहने से से उस प्रश्न का उत्तर नहीं होगा। अगर ज्ञान ज्ञान को ही जाने तो तुम्हारे ज्ञान में ये विविध प्रकार के, तरह तरह के, चित्र-विचित्र जो परिवर्तन होते हैं वो नहीं होने चाहिए। और ये परिवर्तन हुए तो इसका अर्थ यह है कि ऐसा का ऐसा लोकालोक जगत में विद्यमान है और ज्ञान ने ठीक वैसा का वैसा लोकालोक अपने भीतर अपने ज्ञान का बनाया है।

तो वो जो ज्ञान का लोकालोक बनाया, वो ज्ञान की एक ताकत हुई कि नहीं हुई ? एक तो ज्ञान ज्ञान को ही जानता है ये तो केवल सपाट बात हुई, और एक वो जो अनंतानंत प्रतिभास सारे लोकालोक के बने वो भी ज्ञान की ताकत से ही बने हैं न! किसी दूसरे का उसमें कुछ नहीं हैं क्योंकि वो ज्ञप्ति तो निरपेक्ष होती है। इसलिए ये बिल्कुल निरपेक्ष बने हैं। ये भी एक स्वभाव हुआ कि नहीं हुआ ? तो इस स्वभाव को हम

परप्रकाशकता कह सकते हैं। लेकिन क्योंकि एक पर्याय के दो खंड नहीं होते हैं। वो प्रतिभास, ज्ञान की एक ही पर्याय है। **ज्ञान को जाननेवाला ज्ञान और इन प्रतिभासों को जाननेवाला ज्ञान अलग हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि किसी न किसी पदार्थ के प्रतिभास हर जीव में प्रतिसमय होते ही हैं। निगोदिया से लगाकर भगवान केवली तक प्रतिसमय प्रतिभास होते हैं।**

ठीक ज्ञेयों जैसे वे प्रतिभास भी ज्ञान-शक्ति से बने हैं तो उस ज्ञान शक्ति को हम परप्रकाशकता कहें तो कोई दिक्कत नहीं है, लेकिन है वो ज्ञान की ही पर्याय! इसलिए अंत में जब हम अनुसंधान करते हैं तो उससे ये फलित होता है कि ज्ञान सचमुच ज्ञान को ही जानता है और इसका अर्थ ये कि ये सबका सब ज्ञान ही है, क्योंकि ये जो अनेक प्रकार के प्रतिभास और ज्ञेयों जैसे आकार हैं, इनमें कुछ भी नहीं है। इनको मैं अच्छी तरह टटोलता हूँ तो सब जगह से ज्ञान ही ज्ञान आता है। **सारे प्रतिभासों में ज्ञान ही ज्ञान है। इस तरह मैं ज्ञान ही हूँ अर्थात् मैं ज्ञायक हूँ।**

मैं ज्ञान ही हूँ अर्थात् ज्ञायक हूँ - ये उसने पहले निश्चय किया था। जिस समय इस प्रकरण पर वो चिंतन करता है, तो उसने पहले ये निश्चय किया कि मुझे प्राप्त क्या करना है? मैं हूँ कौन असल में? ये पहले निश्चय कर लिया था, इसलिए मैं ज्ञान को ही जानता हूँ और मैं ज्ञान ही हूँ, यहाँ वो अटकता नहीं है। अगर वो अटक जाए तो वो यहाँ भी पर्याय दृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि बन जाएगा। **ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है अगर यहाँ रुक गया और वो आगे ज्ञायक तक नहीं बढ़ा तो प्रारंभ से ही उसका निर्णय ठीक नहीं है। इसलिए प्रारंभ से यह निर्णय हो कि मैं सचमुच चिन्मात्र ज्ञायक हूँ और मुझे उसी में अहम् करना है।**

इसलिए प्रक्रिया ये है कि आत्मा में जो ज्ञेयाकार हैं वो सचमुच में ज्ञेयाकार नहीं हैं बल्कि वो ज्ञानाकार हैं अर्थात् प्रतिभास हैं और वो सबके सब ज्ञान ही हैं अर्थात् वो प्रतिभास जानते भी हैं और जानने में भी आते हैं। इस तरह वे स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञान है। ज्ञान, ज्ञान को ही जानता हैं अर्थात् सब कुल मिलाकर मैं ज्ञान हूँ और ज्ञान हूँ अर्थात् मैं ज्ञायक हूँ, क्योंकि ज्ञान ही आत्मा का वास्तविक लक्षण है, इसलिए ज्ञान से लक्षण पर नहीं रहा जाता है। कोई भी व्यक्ति अगर किसी वस्तु को पहचानता है, ढूँढ़ता है और उसका लक्षण देखता है तो लक्षण से तुरंत हटकर और वो लक्ष्य पर अर्थात् आत्मा पर पहुँच जाता है। इसलिए मैं तो एकमात्र चिन्मात्र ज्ञायक ही हूँ, यहाँ आकर उसका पर्यवसान हो जाता है, समापन हो जाता है और ज्ञायक के दर्शन हो जाते हैं।

ये बात नियमसार में जो आई न! और फिर दूसरा ये आया कि अगर ये कहें कि भगवान केवली लोकालोक को व्यवहार से जानते हैं और आत्मा को नहीं जानते हैं, तो इसमें क्या दिक्कत है? कि कोई दिक्कत नहीं है। लोकालोक को व्यवहार से जानते हैं अर्थात् वास्तव में नहीं जानते हैं, उसमें ये लगाना है। उसमें जानना नहीं लगा लेना कि वे जानते हैं तो वास्तव में जानते ही होंगे। जानते नहीं, जानते भीतर है न! **मान लो सारा लोकालोक भीतर प्रतिभासित हो गया, तो अब उसको बाहर कहाँ जाने की जरूरत है? इसलिए सब यहाँ आ गया है न!** इसलिए फिर उसमें आया कि जो एक को जानता है वो सबको जानता है। तो एक को जानता है अर्थात् जिस ज्ञान की पर्याय ने स्वयं उसी पर्याय को जाना तो उस पर्याय में अपने अनंत गुण को, अपने द्रव्य को जाना। द्रव्य तो जिस समय अनुभूति होती है उस समय भी ज्ञात होता है, पर अनंत गुण, अनंत गुणों की अनंत पर्यायें और सारे लोकालोक की सारी पर्यायें वो सब उस एक केवलज्ञान की पर्याय में प्रतिभासित हो जाते हैं। इसलिए ज्ञान को बाहर जाने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं होती।

तो भगवान केवली व्यवहार से लोकालोक को जानते हैं उसका अर्थ ये हुआ कि वास्तव में लोकालोक जानने में नहीं आता लेकिन वो सब उस तरह का ज्ञान ही है और क्योंकि सब पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, इसलिए सब पृथक्-पृथक् जानने में आता है और पृथक्-पृथक् जानकर भी अंत में क्या होता है ? कि अंत में ये ही प्रक्रिया केवलज्ञान में ये ही होती है। केवलज्ञान में विचार नहीं होता, लेकिन वहाँ तो सीधी ये ही प्रक्रिया है कि मैं आत्मा हूँ, ज्ञायक हूँ, क्योंकि केवलज्ञान में जो अनंतानंत प्रतिभास हैं, वो सब एक केवलज्ञान पर्याय ही है और वो उस केवलज्ञान पर्याय का जो देवता है वो ज्ञायक है और ये पुजारिन है। भगवान का भी ये ही तरीका है। **और अपन भले ही कम पदार्थों को जानें, अर्थात् कम पदार्थ प्रतिभासित हों लेकिन ज्ञान के जानने की विधि में निगोद से लगाकर केवलज्ञान तक कोई अंतर नहीं है। अंतर केवल मानने का और जानने का, मिथ्या मानना और मिथ्या जानने का है। और दूसरा कोई अंतर नहीं है।**

इसलिए एक बात तो ये नियमसार गाथा 165 में आई है - निश्चय से यही कहा है कि आत्मा स्वप्रकाशक ही है और प्रवचनसार की 174 वीं गाथा में आया है कि अमूर्त पुद्गल कर्म आत्मा के साथ बंधते हैं - ये व्यवहार है। वहाँ पर बंध की सिद्धि की जा रही है। अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म बंधते हैं - ऐसा कहना व्यवहारनय है। वास्तव में आत्मा के साथ कर्म नहीं बंधते पर कर्म के साथ ही कर्म बंधते हैं। कर्म आत्मा के साथ कैसे बंधेंगे ? भले वे आत्मा के आसपास छाए रहें! वो तो उनके रहने की जगह है। **लेकिन कर्म के साथ ही कर्म बंधते हैं, निश्चय तो ये है। लेकिन आत्मा के साथ बंधते हैं ये भी कहना चाहिए क्योंकि उसका भी एक कारण है, अन्यथा संसार की सिद्धि नहीं हो सकेगी।**

तो जैसे ये उदाहरण दिया है कि ये अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मों का बंध होता है, वैसे अमूर्त आत्मा मूर्त पदार्थों को व्यवहार से जानता है। जैसे अमूर्त आत्मा मूर्त पदार्थों को व्यवहार से जानता है, उसी तरह अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म व्यवहार से बंधते हैं। व्यवहार से बंधते हैं अर्थात् व्यवहारनय से ये कहा जाता है।

दोनों एक ही बात है। वहाँ जानने का उदाहरण लिया है कि अमूर्त, मूर्त को जानता है, जैसे ये व्यवहार है,उसी तरह से ये व्यवहार है कि अमूर्त के साथ मूर्त का बंध हुआ है। है न ?

अब समयसार गाथा 270 में लिया है कि मैं अन्य जीव को पीड़ा देता हूँ, अथवा अन्य जीव की रक्षा करता हूँ, अथवा मैं मनुष्य हूँ, अथवा मैं ये धर्मास्तियकाय आदि को जानता हूँ, इसको अध्यवसान कहा है। अध्यवसान माने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहा है।

तो उसमें तीन बातें तो अपन स्वीकार कर ही लेते हैं – मैं किसी की रक्षा करता हूँ – ये बात वास्तव में सही नहीं है, क्योंकि ऐसी बात आज तक जगत में, अनादि से और अनंतकाल तक भी ऐसी एक घटना नहीं घटेगी कि कोई आत्मा किसी जीव को बचा ले अथवा उसकी रक्षा करे। ऐसी घटना घटी नहीं है और अनंतकाल में भी नहीं घटेगी, इसलिए ये बात मिथ्या है। इसी तरह से मैं किसी जीव को पीड़ा देता हूँ, तो कहते हैं कि ये पीड़ा देना भी सार्थक होता नहीं है, घटता नहीं है। ये भीतर ही भीतर इस तरह के मिथ्या विकल्प करता है, लेकिन किसी ने आजतक किसी को पीड़ा दी हो – ये बात कतई झूठ है; इसलिए ये भी मिथ्या हैं।

मैं मनुष्य हूँ – ये बात भी झूठ है क्योंकि मनुष्य के भीतर तो चिन्मात्र ज्ञायक, पड़ा हुआ है। ये तो ऊपर का आवरण है, ऊपर का चोला है। जैसे किसी घड़े के भीतर दीपक जलता है और वो ऊपर से ढका हुआ

है। इसी तरह से चिन्मात्र ज्ञायक इसके भीतर रोम-रोम में पड़ा है, लेकिन दोनों बिल्कुल न्यारे-न्यारे हैं। सदा से ही साथ रहे हैं क्योंकि तेजस-कार्माण शरीर तो संसार अवस्था में रहता है। इसलिए सदा से साथ रहे हैं लेकिन एकमेक कभी भी नहीं हुए।

इसी श्रृंखला में जिसको महापाप कहा है, आचार्य ने लिया है कि ये मुझे परद्रव्य जानने में आता है, धर्मास्तिकाय जानने में आता है - ये भी उसी कोटि का मिथ्यादर्शन है। समान कोटि का मिथ्यादर्शन है, क्योंकि धर्मास्तिकाय धर्मास्तिकाय की जगह पर है और तेरा ज्ञान तो आत्म-प्रमाण है। वो तो वहीं जानने की क्रिया करता है। तो वहाँ कौन है कि जो जानने में आता है? ज्ञान की सीमा में ज्ञान के भीतर कौनसा पदार्थ है कि जो जानने में आता है? कि जगत का कोई पदार्थ ऐसा नहीं है। और हमारे भीतर उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष भी ज्ञान के भीतर कभी आज तक आए ही नहीं हैं। वे अनादिकाल से बाहर ही रहे हैं क्योंकि दोनों विपरीत तत्त्व हैं, वो कभी एक नहीं हो सकते। मोही-रागी-द्वेषी तो जीव को ही कहा जाता है, लेकिन वो बात पुरानी हो गई। अब हम बहुत आगे बढ़ गए हैं, क्योंकि हम अब प्रयोग-पद्धति पर चल रहे हैं। इसलिए मोह-राग-द्वेष भी उस ज्ञान से सदा भिन्न ही हैं। तो सब भिन्न-भिन्न हैं और ये अज्ञानी मानता है कि मैं ही मोही-रागी-द्वेषी हो गया।

आचार्य यहाँ से अनुभूति का प्रारंभ करते हैं। कहाँ से करते हैं? कि ये जो प्रतिसमय चलने वाला उपयोग अर्थात् ज्ञान की पर्याय है, वो मोह-राग-द्वेष से सदा से ही न्यारी है। और मोह-राग-द्वेष के भाव, क्रोध-मान-माया-लोभ के भाव स्वयं हमारे अनुभव में आते हैं। आते हैं न? अनुभव में आते हैं, तो उस अनुभव में वो ज्ञान उनके स्वरूप को सिर्फ जानता है - सच्चाई तो यह है। ये ऐसा मानता है कि मेरा ज्ञान और मैं ही रागी-द्वेषी-मोही हो गया हूँ। एक तो चैतन्य अथवा ज्ञान और एक

मोह-राग-द्वेष; इन दोनों के बीच में जो संधि है उस संधि को भंग करके और ये मान लेता है कि मैं मोही-रागी-द्वेषी हो गया हूँ।

आचार्य शुरु कहाँ से करते हैं? प्रारंभ कहाँ से करते हैं जिनवाणी में? कि ये जो हमारा उपयोग है, भले इसे अनादिकाल से कैसा ही मानो, लेकिन मान लेने पर भी मोह का एक अविभाग-प्रतिच्छेद इसके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हुआ और आत्मा में प्रविष्ट नहीं हुआ और राग-द्वेष का एक भी अविभाग-प्रतिच्छेद इसके ज्ञान और आत्मा में प्रविष्ट नहीं हुआ। वो बाहर ही बाहर रहे हैं।

जिस समय सद्गुरुदेव के उपदेश से ये बात जानने में आई, तभी इसने उन मोह-राग-द्वेष को अलग किया - ऐसा नहीं है, क्योंकि जो अलग है उनको क्या अलग करें? वो तो अलग हैं न? इसलिए उनको अलग नहीं किया जाता। ये ज्ञान जैसा महान तत्त्व, जगत का पूजनीय तत्त्व, वो ऐसा धंधा करेगा कि किसी को न्यारा-न्यारा करे जो? जो न्यारे हैं उनको एक किया नहीं जा सकता और जो एक हैं उसको तोड़ा नहीं जा सकता, न्यारा नहीं किया जा सकता।

मोह-राग-द्वेष को न्यारा किया ये व्यवहार कथन है। जिनवाणी में आता है, भगवान की वाणी में आता है कि मोह-राग-द्वेष छोड़ा या मोह-राग-द्वेष को अलग किया। **लेकिन सच्चाई ये है कि ये उपयोग अर्थात् चलने वाली ज्ञान की पर्याय, उसमें मोह-राग-द्वेष का प्रवेश कभी हुआ ही नहीं है। वो सचमुच हमेशा से स्वच्छ रही है, लेकिन निर्मल नहीं हुई क्योंकि मिथ्याज्ञान है न!** उसमें इसने ये कल्पना की कि मोह-राग-द्वेष जैसा आभास ये जो ज्ञान में होता है, तो ये मेरा ज्ञान मोही-रागी-द्वेषी हो गया। इसने ज्ञान को और मोह-राग-द्वेष को मिलाकर अनुभव किया और इस तरह निरंतर अशुद्धात्मा का अनुभव करता रहा।

तो क्या हुआ ? कि जब गुरुदेव के प्रसाद से ये बात मिली और उन्होंने ये बताया कि मोह–राग–द्वेष तेरे आत्मा से तो भिन्न हैं ही सही, पर तेरी वर्तमान ज्ञान की पर्याय से, उपयोग से भी ये सब न्यारे ही हैं, सदा से न्यारे हैं।

जब उसने उपयोग को न्यारा जाना, तब मोह–राग–द्वेष में जो अहम् करता था, निरंतर उनका ये अवलंबन लेता था, उनका अवलंबन तोड़ने पर अब कौन बचा ? वो सारे जगत से तो लौट ही आया था। अब तो अपने मोह–राग–द्वेष की बात कर रहा था कि ये तो मेरे में ही पैदा होते हैं। इसलिए मोह–राग–द्वेष मेरे ही हैं और मैं ही मोही–रागी–द्वेषी हूँ। ये मेरे कर्म और मैं इनका कर्ता, ऐसा कर्ता–कर्म भी जोड़ता था। अब जब समझ में आया कि मोह–राग–द्वेष मेरे से न्यारे ही भाव हैं। इनको न्यारा करना नहीं है बल्कि ये न्यारे ही पड़े हैं – ऐसा जानने पर अब एक सिर्फ ज्ञायक ही बचता है। इसलिए वो मोह–राग–द्वेष से छूटकर ज्ञायक पर चला जाता है और स्वपरप्रकाशक में भी कि केवल उनके स्वरूप का प्रतिभास ही होता था। हमारे अनुभव में आते हैं न निरंतर ? कि मुझे राग आया, द्वेष आया, पुण्य आया, पाप आया। ये अनुभव में आते हैं न! लेकिन अनुभव में आया कि ज्ञान अलग था और ये अलग थे।

असल में बात तो ऐसी है, लेकिन इसने दोनों को एकमेक करके अनुभव किया इसलिए इसको अशुद्ध अनुभूति हुई और ये ज्ञान के लिए महा अपराध है, क्योंकि इसने जो एकदम परमशुद्ध हैं कि जिनमें विकार का नाम–निशान भी नहीं है और जिनमें परिणमन का भी नाम–निशान नहीं है और कोई मिलावट भी नहीं है; ऐसा जो जीव नाम का जो परिशुद्ध तत्त्व है उसे और सारे जीवलोक को अशुद्ध कर दिया। इसलिए ये महान अपराधी हुआ और उस अपराध के कारण इसको नरक और निगोद की सजा होती है।

उसने मोह–राग–द्वेष को नहीं बल्कि उनके प्रतिभासों को, जो अपने द्वारा बनाए गए जो ज्ञान के प्रतिभास हैं, उनको जाना। और उनको जानकर कि ये इनमें क्या है? ये तो मोह–राग–द्वेष हैं ही नहीं, ये तो ज्ञान ही है। और ज्ञान ही है अर्थात् ये तो मैं ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ। इस तरह जानकर एक छलांग मारकर ज्ञायक पर चला जाता है और आत्मदर्शन हो जाता है। बस! ये उसका एक छोटा सा तरीका है। छोटा सा तरीका है।

## प्रयोग पद्धति

बात तो अपनी स्व–परप्रकाशक की है, पर ये प्रयोग–पद्धति है। क्योंकि ये चूका कहाँ है? किस जगह चूका है ये? कि ये यहाँ चूका है। ये आत्मा को सदैव अशुद्ध ही अनुभव करता है, क्योंकि ये देखो हो रहे हैं न मेरे को मोह–राग–द्वेष। ये मेरे को ही तो हो रहे हैं। पर ये मेरे को हो रहे हैं, इसमें भी संधि है। मैं और मुझमे मोह–राग–द्वेष इनके बीच में संधि है। संधि है, इसलिए वो न्यारे हैं।

सिर्फ न्यारा जानना है, न्यारा करना नहीं है। ज्ञान कभी करने का धंधा नहीं करता – उसने उनको ग्रहण किया हो तो वो उनको छोड़ेगा! पर उसने मोह–राग–द्वेष को ग्रहण ही नहीं किया तो ये उन्हें छोड़ेगा कहाँ से? इसलिए आत्मा छोड़ने और ग्रहण करने का काम, त्याग करने का काम नहीं करता। त्याग का तो खाली नाम लिया जाता है। आत्मा त्याग करे तो ज्ञान, आनंद और सुख का करे क्योंकि उसके भीतर तो वही है, मोह–राग–द्वेष तो हैं ही नहीं, तो आत्मा को अगर त्यागी कहा जाए तो आत्मा अजीव हो जाएगा क्योंकि वो क्या छोड़ेगा? उसके पास मोह–राग–द्वेष तो हैं नहीं, वो तो छूटे हुए ही हैं, वो तो न्यारे के न्यारे ही हैं। अब कहते हैं कि उसने छोड़ा! तो फिर उसके पास जो होगा उसने वही छोड़ा; तो वो अचेतन और जड़ हो जाएगा।

**मोह–राग–द्वेष का प्रतिभास अर्थात् जैसा मोह–राग–द्वेष का**

**स्वरूप है और ये उनमें ममत्व करता है, उनको ठीक वैसा का वैसा जानना! ये जानना भी ज्ञान ही है और इसमें मोह-राग-द्वेष न होने के कारण इस ज्ञान में कोई विशेषता नहीं है।** विशेषता तो तब हो कि जब मोह-राग-द्वेष ज्ञान में मिल जाएँ! लेकिन विशेषता इसलिए नहीं है कि जिधर से देखता हूँ ज्ञान ही ज्ञान मिलता है। मोह-राग-द्वेष कहीं भी नहीं मिलते हैं। यही प्रयोग पद्धति है।

मैं मोह-राग-द्वेष से न्यारा सदा ही चिदानंद चैतन्य ज्ञायक हूँ - ऐसा जानकर वह एकदम छलांग मारकर, ज्ञायक पर चला जाता है, क्योंकि ज्ञायक को पहले इसने गुरुदेव से सुना और सुनकर उस पर विचार किया और फिर ये इस निर्णय पर पहुँचा कि इससे समृद्धिशाली तत्त्व जगत में दूसरा नहीं है। ऐसी उसकी समृद्धियों पर मुग्ध हुआ और वो तब मुग्ध हुआ कि जगत की जो समृद्धियाँ हैं ये तो बिल्कुल क्षणभंगुर हैं, ये तो मैंने अपनी आँखों देखी हैं। इसलिए कोई ऐसी चीज मिलना चाहिए कि जिसका कभी व्यय न हो, कभी जिसका नाश न हो।

जब गुरुदेव से सुना तो गुरुदेव ने बताया कि इस समृद्धि का नाश कभी नहीं होता। इस समृद्धि का भोग तू निरंतर करे.....माने भोजन करे और भोजन उतना का उतना रहे। भोजन में थोड़ा भी कम न हो। निरंतर भगवान सिद्ध जो भोजन करते हैं उस ज्ञान-आनंद का और वो भोजन उतना का उतना रहता है, वो बीतता ही नहीं है। इस तरह वो अटूट है, तो इस तरह से सिद्धि हो जाती है।

समयसार कलश 271 की टीका में तो पांडे राजमलजी साहब ने कमाल ही किया है - बोले कि ये जो कहा जाता है कि ज्ञान लोकालोक को जानता है.....तो कहते हैं कि ऐसा है तो नहीं - ये भ्रांति है। अब इसमें भी क्या कहेंगे ? कि ये भ्रांति है। भ्रांति है माने झूठा है, झूठ है। भूला है ये। ये बिल्कुल विपरीत है। भ्रांति विपरीत को कहते हैं।

ये भ्रांति है अर्थात् ये बिल्कुल विपरीत मानता है। सचमुच लोकालोक जानने में नहीं आता क्योंकि ज्ञान और आत्मा की जगह आत्मा और ज्ञान ही हैं और कोई न तो बाहर जाता है और न कोई बाहर का पदार्थ इसमें आता है और जानने का कार्य होता ही है। जानने के कार्य में कोई कर्म भी होता है और कोई कर्ता भी होता है। तो कौन हुए कर्ता–कर्म ? तो ज्ञान ही कर्ता और ज्ञान ही कर्म। माने ज्ञान ही जानने में आया और ज्ञान ने ही अर्थात् उस प्रतिभास ने ही जाना।

**मुमुक्षु :**– उस प्रतिभास ने जाना ?

**पूज्य बाबूजी :**– हाँ! केवली के जो अनंत प्रतिभास हैं, वो अनंत प्रतिभास सिर्फ एक **केवलज्ञान की पर्याय है। केवली का जो calculation ( गणना ) है वो सिर्फ एक केवलज्ञान की पर्याय है और वो केवलज्ञान की पर्याय अनंत प्रतिभास सहित उस शुद्धात्मा में डूबती है। प्रतिभास नहीं मिटते हैं। जब तक ये लोकालोक है तब तक प्रतिभास तो प्रतिसमय बनते ही रहेंगे। पर उन प्रतिभासों सहित अर्थात् ज्ञान के उन आकारों सहित सदा ही ज्ञायक में डूबती है और उसकी उपासना करती है। इस तरह भगवान सिद्ध जो काम करते हैं वो ही काम हमारा है।**

यहाँ जो काम श्रुतज्ञान ने किया वो काम वहाँ केवलज्ञान ने कर लिया। ये श्रुतज्ञान भगवान सिद्ध से कम न होने के कारण ये कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि का अपनी आत्मा को जानने वाला ज्ञान सिद्धों के समान शुद्ध होता है। वहाँ साधक दशा में राग–द्वेषादि तो रहेंगे ही सही! पड़े रहने पर भी उनकी अनुभूति नहीं होती क्योंकि इसका विषय एक मात्र शुद्ध ज्ञायक है, शुद्ध चिन्मात्र है। **जो विषय होता है ज्ञान का वही नाम होता है।**

ज्ञान का नाम क्या है ? शुद्धनय! शुद्धनय क्यों कहा गया ? असल में

देखा जाए तो ज्ञान तो शुद्ध ही है। ज्ञान में क्या खराबी आई ? लेकिन शुद्धनय क्यों कहा गया ? क्योंकि इसका विषय शुद्ध ज्ञायक है, इसलिये इसे शुद्ध कहा गया।

केवल वो भ्रांति है अर्थात् मैं मोही-रागी-द्वेषी हो गया हूँ, इतनी सी भ्रांति है, सिर्फ इतनी सी! एक वाक्य जितनी कि मैं मोही-रागी-द्वेषी हो गया! कहते हैं पलट दे इसको एकदम और इससे उल्टा बोलने लग जा! और उसमें सिर्फ 'नहीं' लगा दे। उसमें क्या है ? वाक्य तो वो का वो ही रह जाएगा। मैं मोही-रागी-द्वेषी हो गया उसको पलटकर कि मैं मोही-रागी-द्वेषी नहीं हुआ। मैं चिन्मात्र ज्ञायक हूँ - बस हो गया! काम बन गया!

इस तरह के अच्छे-अच्छे प्रमाण हैं, पढ़ना! समयसार 270 गाथा में तो बहुत कमाल किया है। वो उस पंक्ति में ही लिया है वो बचाने का और मारने का महापाप है! मैं मनुष्य-तिर्यंच-देव-नारकी हूँ - इसी तरह का ये भी उस line (पंक्ति) में ये लिया है मुझे जगत जानने में आता है, मुझे धर्मास्तिकाय जानने में आता है। उस पंक्ति में इस जानने को लिया है और ये भी उतना ही बड़ा पाप है! जैसे वो मिथ्यात्व है, उसी तरह ये भी मिथ्यादर्शन है।

**मुमुक्षु :-** जैसे कि तीव्र अशुभभाव और पर को जानना - एक ही बराबर है।

**पूज्य बाबूजी :-** शुभभाव में भी उन सबका जो पिता है, वो मिथ्यादर्शन पड़ा है न! इसलिए वो सबको पाप कर देता है। तो वो पड़ा हुआ है, क्योंकि मैं जानता हूँ, जीव ऐसा मानता है।

अब उसका सबसे अच्छा प्रमाण ये कि जगत के सारे जीवों को ये श्रद्धा है और ये ज्ञान भी है कि हम जगत को जानते हैं। ये जगत के पदार्थ

हमारे जानने में आते हैं। तो अगर ये श्रद्धा सच्ची होती तो फिर मुक्ति अवश्य होती क्योंकि एक ही विषय हो, लेकिन वो perfect (निष्कलंक) हो, तो वो ज्ञायक की अनुभूति के calculation (गणना) में जाता है।

**अगर ये श्रद्धा सच्ची होती तो फिर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान क्यों नहीं होते ? लेकिन हुए क्या ? तो नहीं हुए। तो हमको तो इससे ही जान लेना चाहिए कि आज तक ये काम हमारे इस तरह से जानने से और ऐसी श्रद्धा से नहीं हुआ....तो इसका अर्थ ये है कि सत्य इससे उल्टा कोई और है – इसको उल्टा कर देना चाहिए। तो उसको उल्टा कर दे – उल्टा कर देता है तो सीधे ज्ञायक के दर्शन हो जाते हैं।**

इस तरह पर–प्रकाशकता भी सिद्ध हो जाती है, लेकिन फिर भी वो स्व–प्रकाशकता की ही पर्याय है और वो व्यवहार है। स्वपर–प्रकाशक शक्ति जो कही है, वो भी तो एक शक्ति है न! कि जो जो सारे जगत जैसे प्रतिभास हैं....वो भी इसने अपनी ताकत से बनाए हैं कि नहीं ? और सामान्य से देखा जाए तो वो ज्ञान है।

**मुमुक्षु :**– सामान्यरूप से देखा जाये तो.....।

**पूज्य बाबूजी :**– ज्ञान है। ज्ञान को ही जानता है – बस! हो गया स्वपर–प्रकाशक और वो शक्ति है। शक्ति नहीं होती तो कैसे बनाता ? सिर्फ एक केवलज्ञान की पर्याय, और इतने प्रतिभास अनंतानंत! भगवान अरिहंत का केवलज्ञान अपने को तो जानता ही है, सारे अपने आत्मप्रदेशों को भी जानता है और सारे गुण–पर्याय को जानता है। **अब उधर जो अनंत सिद्ध हैं, उनका जो अनंत केवलज्ञान है और उन अनंत केवलज्ञानों में जो भासित हो रहा है, उसको भगवान अरिहंत का एक केवलज्ञान जानता है।**

**मुमुक्षु :**- Calculation (गणना) करना मुश्किल हो जाए!

**पूज्य बाबूजी :** - मुश्किल हो जाए। क्या calculation (गणना) करे? अर्थात् सबकी केवलज्ञान पर्यायें! वो अनंत केवलज्ञान क्या जान रहे हैं? कि जैसा ये जान रहा है। तो ये उन अनंतों के केवलज्ञान को भी जानता है लेकिन जानता है अपना ज्ञान बनाकर!

**मुमुक्षु :**- बराबर! अपना ज्ञान बनाकर।

**पूज्य बाबूजी :**- अपना ज्ञान बनाकर! उनके केवलज्ञान से कुछ नहीं लेता। हाँ! जरा भी ज्ञेयकृत अशुद्धता कभी नहीं आती। उनका केवलज्ञान इसके केवलज्ञान में जरा भी कारण नहीं है। इसी तरह श्रुतज्ञान में भी कोई कारण नहीं है। जिस समय ये आत्मानुभूति पर जाता है, उस समय कोई दूसरा कारण नहीं है। रागादिक की अनुभूति तो होती ही नहीं है। एकमात्र सुख की और आनंद की अनुभूति होती है। इसलिए उस समय वो बिल्कुल सिद्ध जैसा है; कोई फर्क नहीं है।

## कर्ता-कर्म का अनन्यत्व

**मुमुक्षु :**- कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति की बात आती है न?

**पूज्य बाबूजी :**- कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति आती है न! समयसार छठवीं गाथा की टीका में जो आया है कि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से जानने में आया वह स्वरूप प्रकाशन की (स्वरूप को जानने की) अवस्था में भी कर्ता-कर्म का अनन्यत्व होने से ज्ञायक ही है। **अब ये बहुत बड़ी बात हो गई ये कि स्वरूप-प्रकाशन की अवस्था में तो वो ज्ञायक है ही सही! क्योंकि उस समय आत्मा जानने में आ रहा है। लेकिन ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से जानने में आया! तो यहाँ स्वरूप-प्रकाशन की अवस्था में भी, जैसा ये ज्ञायक है और ज्ञायक ही जानने में आया, उसी तरह वहाँ**

**ज्ञेयाकार अवस्था में भी वो ज्ञायक ही जानने में आया है। इसलिए वहाँ भी कर्ता-कर्म का अनन्यन्त्व है। वहाँ ये ज्ञाता और वो जगत के पदार्थ कर्म - ऐसा नहीं है।** लेकिन वहाँ भी ये ही ज्ञाता और ये ही ज्ञेय। ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से जानने में आया, वो बहुत गंभीर लाइन है। आचार्य ने ज्ञेयाकार अवस्था कही, क्योंकि वो ज्यादा लंबाना नहीं है।

**असल में वो ज्ञानाकार है, पर आचार्य ने ज्ञेयाकार कहा है, तो उससे समझने वाले सब समझ जाते हैं कि ज्ञेयाकार माने ज्ञेय जैसे आकार!** तो उस अवस्था में भी जो जानने में आया तो वो ज्ञायक ही जानने में आया है और ज्ञायक जानने में आया इसका अर्थ यह है कि अज्ञानी तो ये मानता है कि ज्ञेय मेरे जानने में आते हैं। ज्ञेय मेरे जानने में आते हैं तो मैं तो कर्ता और ज्ञेय मेरे कर्म! इस तरह कर्ता और कर्म का अन्यत्व जानता है जबकि कर्ता और कर्म का principle, सिद्धांत यह है कि वो कर्ता-कर्म अनन्य होते हैं, एक ही पदार्थ में रहते हैं। वरना तो कर्ता और कर्म का ढूँढना ही मुश्किल हो जाएगा जगत में कि कौन कर्ता है और कौन कर्म है?

जैसे ये तो कर्ता बना और जगत के अनंत पदार्थ में से कर्म किसको बनाएगा? इसलिए वे पदार्थ कर्म नहीं है, लेकिन अनन्यत्व होता है अर्थात् एक ही पदार्थ में कर्ता और कर्म होते हैं और जो कर्ता है वो कर्म में व्यापक होता है, ये भी तो व्यवहार है। है व्यवहार, लेकिन बताने के लिए ये कहना बहुत आवश्यक है कि, वो उसमें व्यापक होता है। जो शुद्ध तत्त्व है शुद्धात्मा! वो उस कर्म में व्यापक होता है और वो कर्म व्याप्य होता है। तो ये कर्ता-कर्म का अनन्यत्व का principle सिद्धांत है।

इसी तरह यहाँ पर ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप में जानने में आता है, तो वहाँ भी स्वरूप-प्रकाशन में भी कर्ता-कर्म का अनन्यत्व है।

जैसे स्वरूप-प्रकाशन में मैं ही ज्ञाता और मैं ही ज्ञेय है, उसी तरह वहाँ ज्ञेयाकार अवस्था में भी मैं ही ज्ञाता और मैं ही ज्ञेय। ऐसा कर्ता-कर्म का अनन्यत्व होता है। **और वो कर्ता-कर्म का अनन्यत्व हमारे विचार में आया तो वहाँ तक तो विकल्प है, लेकिन वो उस विकल्प पर ठहरता नहीं है अपितु उस विकल्प को तोड़कर मैं ही ज्ञायक, बस! वहाँ पहुँच जाता है।**

**मुमुक्षु :-** विकल्प को तोड़ने की चेष्टा ये है कि - मैं ही ज्ञायक हूँ।

**पूज्य बाबूजी :-** मैं ही ज्ञायक हूँ, बस! उसमें कर्ता-कर्म....मैं कर्ता और ये कर्म - इस विकल्प से तुझे क्या मिलनेवाला है? इससे क्या उपलब्धि होने वाली है? कोई उपलब्धि नहीं होगी। इसलिए मूल चीज यहाँ से शुरू करना कि मेरा जो उपयोग है, ज्ञान पर्याय! ये ज्ञान पर्याय मेरी वास्तव में स्वच्छ है बल्कि शुद्ध है ऐसा एक बार सच्चे मन से विचार करे। गुरुदेव की देशना के अनुसार ये विचार करे कि ये सचमुच मेरी ज्ञान पर्याय में आज तक मैंने जो माना और मैंने जो कल्पनायें कीं, उनमें से कोई चीज मेरी ज्ञान पर्याय में नहीं आई। ना तो परपदार्थ आये और ना मेरे मोह-राग-द्वेष आये। नहीं आए इसका अर्थ ये है कि मेरी पर्याय तो शुद्ध रही।

जब मेरी ज्ञान पर्याय शुद्ध है तो फिर मेरा ज्ञान गुण भी शुद्ध है और मैं ज्ञायक भी शुद्ध हूँ क्योंकि ज्ञान पर्याय में ही ये भ्रम पैदा होता है, क्योंकि जानने का काम तो उसमें होता है न! और गुण तो जाननेरूप परिणमित होते नहीं। आत्मा जो ज्ञायक है, वो भी जाननेरूप परिणमित नहीं होता, क्योंकि वो तो ध्रुव है। इसलिए ज्ञान की पर्याय में ही ये भ्रम पैदा होता है कि कोई आ गया है। जैसे हमें भी भय-चिंता शोक-क्लेश इत्यादि जो होते हैं अथवा मेरे ऊपर बहुत संकट है - ऐसा जो हम अनुभव करते हैं तो उसमें क्या भ्रम पड़ा है? उसमें भ्रम ये है कि मेरे भीतर कोई

आ गया है। कोई संकट आ गया है मेरे भीतर! जबकि ज्ञान पर कोई संकट आता ही नहीं है, क्योंकि उसकी रेखा ही ऐसी है कि उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता, इसलिए उसमें कोई संकट नहीं आता है।

तो उसने यहाँ से शुरू किया कि सचमुच ये जो ज्ञान की पर्याय है, इसमें मेरी कल्पनायें भी प्रविष्ट नहीं हुई – मेरी कल्पनाओं के विषय तो प्रविष्ट हुए ही नहीं, पर मेरी कल्पनायें भी इसमें साकार नहीं होती हैं। वो भी प्रविष्ट नहीं हुईं इसलिए मैं तो शुद्ध ज्ञान हूँ – अब वो ऐसा बोलेगा। अभी तो विकल्पदशा है, लेकिन मैं शुद्ध ज्ञान हूँ और इस ज्ञान की पर्याय को अनुभूति कहते हैं, ये ज्ञान की पर्याय ज्ञायक ही है।

ज्ञायक को तो प्रारंभ में लक्ष बनाना ही है, जब तक उसको लक्ष नहीं बनाएगा तो ये बीच में अटक जाएगा, और किसी भी विकल्प में फँसकर मिथ्यात्व का वमन नहीं कर सकेगा।

**मुमुक्षु :**– माने अनुभव को लक्ष नहीं बनाना है, ज्ञायक को बनाना है।

**पूज्य बाबूजी :**– अनुभव को नहीं बनाना, हाँ! और किसी भी विकल्प को अर्थात् अपने ही संबंध में होने वाले विकल्प, जैसे कि स्वरूप–प्रकाशन में मैं ही कर्ता और मैं ही कर्म....इससे 'तेरी क्या सिद्धि है?' तुझे ज्ञायक का अनुभव करना है, उसका आनंद लेना है या ये उल्टी–सीधी बातें करना है? मैं कर्ता और ये मेरा कर्म इससे तुझे क्या मिलनेवाला है? कुछ नहीं मिलेगा।

इसलिए सचमुच मैं तो ज्ञायक ही हूँ, चिन्मात्र हूँ, चैतन्य हूँ बस! ऐसा जानता हुआ उसका जो स्वरूप है उसमें एकदम लीन हो जाता है। बल्कि लीन क्या हो जाता है उसको अपनी पर्याय में उतार लेता है। वो ज्ञायक तो वहीं का वहीं रहता है, क्योंकि अनुभूति पर्याय में होती है न! वो मैं ज्ञायक हूँ ऐसी ज्ञायकाकार होती है।

पर्याय द्रव्य को अर्थात् ज्ञायक को छूने नहीं जाती क्योंकि ज्यादातर तो प्रवचनों में ऐसा आता है कि वो ज्ञायक का अवलंबन लेती है। **अब अवलंबन का अर्थ हम सीधा ये समझते हैं कि पर्याय ने द्रव्य का अवलंबन लिया है। पर पर्याय तो द्रव्य को छूती नहीं है। तो फिर वो क्या करती है? कि वो स्वतंत्ररूप से जैसे अन्य पदार्थों जैसी रचना करती थी, उसी तरह वही principle ( सिद्धांत ) यहाँ लागू होता है कि वो जो ज्ञायक ध्रुव तत्त्व है वो भी श्रुत ज्ञान की पर्याय में नहीं आता। लेकिन वो श्रुतज्ञान स्वयं ज्ञायक जैसे स्वरूप का आकार बनाता है, वैसा स्वरूपाकार प्रवर्तित होती है, इसी का नाम अनुभूति है कि मैं ज्ञायक हूँ।**

वो अनुभूति 'मैं अनुभव कर रहा हूँ' - ऐसा नहीं बोलती। मैं ज्ञायक हूँ बस, ऐसा अनुभव करती है। इस तरह जो पर्याय है वो भी मानो द्रव्य बन गई है। उस पर्याय ने अपना एक-एक चप्पा-चप्पा ज्ञायक के लिए खाली कर दिया और सारी पर्याय में ज्ञायक पसर गया। इसलिए अनुभूति गायब हो गई। तो अनुभूति में अनुभूति भी नहीं दिखाई देती है। शुद्धनय में शुद्धनय भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि शुद्धनय स्वयं पर्यायार्थिक नय का विषय है।

अनुभूति स्वयं पर्यायार्थिकनय का विषय है। वहाँ तो पर्यायार्थिकनय चलता ही नहीं है, इसलिए पर्याय ज्ञायकाकार होकर मैं ज्ञायक....ज्ञायक भी नाम है। असल में तो स्वरूप का जो निर्णय किया चिन्मात्र, चैतन्यमात्र उसमें पर्याय की लीनता होती है। **नाम से अनुभव नहीं होता है। आकारों से तो खैर होता ही नहीं, लेकिन नाम से भी अनुभूति नहीं होती कि द्रव्य है अथवा ज्ञायक है अथवा जीवास्तिकाय है, कोई भी नाम, बहुत नाम हैं, उनसे अनुभूति नहीं होती।**

**मुमुक्षु :-** भाव भासन से होती है।

**पूज्य बाबूजी :-** भासन से होती है। उसका जो चिन्मात्र भाव है उसमें ये लीन हो जाता है, तभी सारे विकल्प निरस्त होते हैं, वरना वो विकल्प बना रहेगा। इसलिए एक मात्र चिन्मात्र हूँ, बस! इतना भासन होता है। ये सार है स्वपर-प्रकाशक का।

**मुमुक्षु :-** अद्भुत! बाबूजी अद्भुत स्पष्टीकरण है, जानने का क्या अर्थ है! अद्भुत्!

**पूज्य बाबूजी :-** व्यवहार की और सारी बातें हम स्वीकार कर लेते हैं कि जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शन! सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा अथवा सात तत्त्व का विचार; सात तत्त्वों की विचाररूप श्रद्धा! तो इस तरह हम स्वीकार कर लेते हैं कि ये तो व्यवहार है। लेकिन यहाँ आकर हम चूकते हैं कि ये पर को नहीं जानता.....ये बात तो शास्त्रों में तो इतनी धूमधाम से लिखी है। पर वो जो खास बात उन्होंने एक जगह लिख दी कि ना तो ये कहीं जाता है और ना कोई इसके भीतर आता है। तो ये जो सूत्र है, ये सूत्र तो सबको मंगलाचरण की तरह ही हृदय में धारण करने लायक है। ये मंगल-सूत्र है जो सदा ही पहनने लायक है। सब जगह इस मंगल-सूत्र का अनुशीलन करना चाहिए।

**मुमुक्षु :-** कि ये कहीं नहीं जाता और वो कहीं नहीं आता!

**पूज्य बाबूजी :-** इसमें कोई नहीं आता और ये कहीं नहीं जाता। तो बस ज्ञान ही ज्ञान रहा। ज्ञान ही ज्ञान रहा माने ज्ञायक रहा! क्योंकि निर्णय में ज्ञायक ही आया था कि जगत में और कोई नहीं है। कोई यानि मेरी पर्याय तक नहीं है, सिद्ध दशा तक नहीं है। कोई नहीं; ना मुझे सिद्ध बनना है, ना मैं बनूँगा क्योंकि भगवान सिद्ध भी इसी देवता की पूजा करते हैं, ज्ञायक की, चिन्मात्र की!

मैं भी यहीं से शुरू करता हूँ। यहाँ से इसने उस चिन्मात्र-देवता की

अनुभूति के द्वारा पूजा शुरू की अनुभूति तो वो स्वयं चिन्मात्र बन गई। चिन्मात्र हूँ, उसका ये स्वर होता है। वरना मैं अनुभव करती हूँ - ऐसा स्वर होगा! मैं ज्ञायक का अनुभव करती हूँ - इसमें पर्याय का छल हो गया।

बात बड़ी सुंदर है कि मैं ज्ञायक का अनुभव करती हूँ ऐसा अनुभूति बोली, लेकिन इसमें बहुत बड़ा छल है। वो छल ये है कि ये ज्ञायक को तो नीचा दिखाना चाहती है और स्वयं ऊपर उठना चाहती है, अपना वर्चस्व बताना चाहती है। पर ये ज्ञायक है जो, इसकी प्रसिद्धि तो बहुत थी लेकिन जब तक अनुभूति नहीं हुई तब तक ये अच्छा नहीं लगता था। इसकी शोभा नहीं थी, ये कुरूप लगता था और जब मैंने अनुभूति की तो इसकी सुंदरता बढ़ गई। लेकिन वो तो असुंदर हुआ ही नहीं कभी! वो तो जगत का सुंदरतम पदार्थ है।

वो तो है most beautiful (ब्यूटीफुल) है। बहुत सुंदर! इतना सुंदर कि मुनिराज जाते हैं तो बाहर निकलना ही नहीं चाहते। इतना सुंदर है, इतनी रमणीय-वाटिका है वो! प्रारंभ से इतना जानना चाहिए कि ये **उपयोग से चले, ज्ञान की पर्याय से चले। अभी ज्ञायक से भी नहीं चले। ज्ञान की पर्याय से चले कि इसमें कोई नहीं आया, तो मैं शुद्ध ही हूँ। ज्ञान है मेरा अनेक आकारों वाला होते हुए भी शुद्ध ही है और ये मैं स्वयं ही हूँ। चिन्मात्र ज्ञायक ही हूँ। बस! हो गया!**

**मुमुक्षु :-** मतलब ये कि ज्ञान की पर्याय का ज्ञेयाकाररूप स्वरूप, वो ही परप्रकाशरूप स्वरूप कहलाता है?

**पूज्य बाबूजी :- हाँ! वही कहलाता है। ज्ञान की पर्याय का ज्ञेयाकार जैसा स्वरूप वो ही परप्रकाशरूप कहलाता है। अनुसंधान में जब जाते हैं तो स्वप्रकाशक है।**

**मुमुक्षु :-** और स्वप्रकाशकरूप स्वरूप क्या है?

**पूज्य बाबूजी :-** ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है, बस हो गया स्व-प्रकाशक! प्रतिभासों को भी गौण किया, उनको अस्त तो नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिभास तो हमेशा रहने ही वाला है, एक गया और दूसरा आनेवाला है, इसलिए वो तो सिर्फ गौण किए जाते हैं। उनको गौण कर! कि ये सारे के सारे प्रतिभास कुछ भी नहीं हैं। मैंने तो अच्छी तरह से ज्ञान की चलनी में छानकर इनको देखा तो ये कुछ भी नहीं हैं। ये सब ज्ञान ही हैं - ऐसा जानकर और मैं ज्ञायक ही हूँ।

**असल में प्रतिभासों में भूल होती है न! ये उन प्रतिभासों को ज्ञेय का प्रतिभास मान लेता है कि उनमें ज्ञेय का मिश्रण मान लेता है; तो मिश्रण जहाँ माना वहाँ अशुद्धता हो गई। अशुद्धता भी ना तो ज्ञान की पर्याय में हुई और ना अशुद्धता ज्ञेय पदार्थों में हुई, लेकिन कहाँ हुई अशुद्धता? कि वो इसकी कल्पना में हुई! इसने ऐसी कल्पना कर ली। जो अशुद्ध जाने आत्मा को वो अशुद्ध आत्मा को प्राप्त करे।**

**मुमुक्षु :-** तो ज्ञान की पर्याय का जाननभावरूप वो स्वप्रकाशकरूप? और ज्ञेयाकाररूप वो परप्रकाशकरूप?

**पूज्य बाबूजी :-** ज्ञेयाकार जैसे प्रतिभासों को हम ज्ञेयों की ओर से मिलान करके देखें तो वो प्रतिभास बिल्कुल ज्ञेय जैसे हैं। जरा भी उन में कसर नहीं है। इसलिए उनको ज्ञेय नाम भी देते हैं, इसका नाम व्यवहारनय हुआ; पर ये शक्ति नहीं हुई, शक्ति तो वो हुई कि जो प्रतिभास बने हैं इसमें एक के बाद एक और ठीक वैसे के वैसे! ये भी एक शक्ति है कि नहीं? **एक तो सामान्य ज्ञान और एक अनेक प्रतिभासों वाली शक्ति! इस तरह एक ही पर्याय स्वपर-प्रकाशक है।**

**मुमुक्षु :**– एक तो ज्ञानरूप शक्ति और एक प्रतिभासरूप शक्ति ?

**पूज्य बाबूजी :– एकरूप पर्याय की सामान्य जाननरूप शक्ति और एक वो प्रतिभासरूप! शक्ति! लेकिन ये दो न्यारे नहीं हैं। हाँ! ये तो हम विश्लेषण में कर रहे हैं। वो ज्ञान, प्रतिभास ही है और वो प्रतिभास ज्ञान ही है, ऐसी अभेदता है उसमें।** वो एक ही वस्तु है। ये तो समझने के लिए हम भेद कर रहे हैं क्योंकि अंत में उन प्रतिभासों को गौण करके उन सबको ज्ञान बना देता है कि सिर्फ ज्ञान ही हूँ और ज्ञान है अर्थात् मैं ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ, चिन्मात्र मैं एक ही हूँ बस! ऐसी अनुभूति कर लेता है।

**मुमुक्षु :**– इसका नाम सामान्य का आविर्भाव ?

**पूज्य बाबूजी :**– सामान्य का आविर्भाव इसका नाम नहीं है। ये सारे प्रतिभास ज्ञान ही हैं – ये हुआ सामान्य का आविर्भाव। अभी तक ये पर्याय है। अब ये पर्याय उस ज्ञायक की अनुभूति करेगी और इन सबको छोड़कर ज्ञायकाकार होगी। अन्य प्रतिभासों को छोड़कर अब ये ज्ञायक की ओर झाँकेगी न! तो इसमें ज्ञायक का आकार बनेगा। और ज्ञायक का आकार बनेगा तब ये बोलेगी कि मैं ज्ञायक हूँ – ये हुआ असली सामान्य का आविर्भाव, असली जो द्रव्य है उसका आविर्भाव!

पहले तो पर्याय है। पहले तो सामान्यरूप से पर्याय आविर्भूत हुई। वो समान्य पर्याय में है और फिर वो पर्याय का सामान्य जब ज्ञायकाकार हुआ, तो सामान्य का अर्थात् चैतन्य का असली आविर्भाव हुआ।

**मुमुक्षु :**– अनुभूति का अविर्भाव ?

**पूज्य बाबूजी :**– अनुभूति का नहीं, चिन्मात्र का। जब अनुभूति हुई तब चिन्मात्र–चैतन्य का आविर्भाव हुआ।

**मुमुक्षु :**- ज्ञान की पर्याय का जब सामान्यरूप स्वरूप देखा, तब उसको ज्ञायकाकाररूप से देखने की बात आ सकती है ?

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ ! तब आ सकती है। वो प्रतिभास तो हर समय होते ही है। प्रतिभास शून्य तो कोई जीव कभी भी नहीं रहता। निगोद के जीव को भी वो शरीर का शरीराकार प्रतिभास प्रतिसमय होता है। ये ही मैं, ये ही मैं, उसको मिथ्यादर्शन के रूप में ऐसा अहम् बराबर चलता रहता है, इसलिए उसके प्रतिभास के बिना तो कोई ज्ञान रहता ही नहीं है।

## प्रतिभासों को मिटाने कि चेष्टा आत्म हत्या है

प्रतिभास तो रहने ही वाला है, उसको मिटाना नहीं है। अज्ञानी उसको ज्ञेय मानता है, तो उसको मिटाना चाहता है और उसको मिटाने की चेष्टा में स्वयं मिट जाता है, क्योंकि प्रतिभास स्वयं ज्ञान ही है, और वो उसको बाहर निकालना चाहता है कि ये मेरे भीतर कौन आ गया है ? कौन प्रविष्ट हो गया है ? वो प्रतिभास उसको ज्ञेय लगता है इसलिये वो उसको निकालना चाहता है और निकालने के चक्कर में ये स्वयं निकल जाता है शून्य हो जाता है; माने उसको निकालकर अपनी हत्या करना चाहता है। पर्याय ही नहीं रहेगी तो द्रव्य कहाँ से रहेगा ? ये संक्षेप है

270 गाथा और 271वाँ कलश - ये दोनों बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी टीका बहुत महत्त्वपूर्ण है। सत् अहेतुक ज्ञप्ति - ये टीका है उसकी। अब सत् अहेतुक ज्ञप्ति किसको कहेंगे ? जिसमें ज्ञेय आ जाए या ज्ञेय कारण बन जाए अथवा ज्ञेय का मिश्रण हो जाए ! किसको कहेंगे सत् अहेतुक ? जो सत् रूप है और जिसका कोई कारण नहीं है। जो अपनी सामर्थ्य से अपने षट्कारक को लेकर स्वयं उत्पन्न हुई है, वो सत् अहेतुक है। वही जिसका एक आकार है - ऐसा बोलें।

वही जिसका एक आकार है अर्थात् सबको मिलाकर एक कर लिया

कि एक ज्ञान बस! और कुछ नहीं है, इसलिये सबको मिटा कर – ऐसा कहते हैं।

**मुमुक्षु :–** तो वो सत् अहेतुक ज्ञप्ति को ज्ञान सामान्य बोल सकते हैं न? ज्ञान सामान्य! सत् अहेतुक ज्ञप्ति वो ज्ञान सामान्य हुआ?

**पूज्य बाबूजी :–** हाँ! सामान्य कर लिया! सामान्य कर लिया पर्याय का! पर्याय की ही बात है अब आज का समय हो गया! अंतिम हो गया?

**मुमुक्षु :–** अभी पाँच मिनिट बाकी हैं बाबूजी। वैसे सवा आठ को शुरु किया था।

**पूज्य बाबूजी :–** पाँच मिनिट में ऐसा है कि अब कल आपसे विदा लेना है, और बोलनेवाले से बहुत गलती होती हैं। कभी–कभी किसी का हृदय भी दु:ख जाए। तो मैं उन सब बातों के लिए....क्योंकि बोलना मुझे ही पड़ा है ज्यादातर, तो आप सबसे मैं क्षमा चाहता हूँ।

**मुमुक्षु :–** बाबूजी! ऐसा मत बोलिये। बिल्कुल मत बोलिए।

**पूज्य बाबूजी :–** नहीं! होता है, ऐसा होता है। कभी किसी को तकलीफ हो जाए, कोई कष्ट हो जाए सुनने में! क्योंकि यहाँ व्यक्तिगत तो कोई बात की नहीं जाती है। लेकिन फिर भी गलती हो जाए तो उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ।

**मुमुक्षु :–** बाबूजी! हम सभी को ऐसा लगता है कि ये यहाँ चौथा आरा (चौथा काल) चल रहा है। इतनी अद्‌भुत बातें ज्ञायक की आती हैं न बाबूजी! हम वो भूल नहीं सकते। हमारे जीवन का ये अद्‌भुत प्रसंग है।

**पूज्य बाबूजी :–** जिनवाणी की बातें हैं न! तो मेरा क्या है? ये तो सारा प्रताप ही गुरुदेव का है। मेरा क्या है इसमें? अपन तो उन्हीं का

अनुशीलन करते हैं। जितना अपनी बुद्धि में समझ में आ जाए उतनी बात खुलकर रखनी चाहिए क्योंकि इसी में कल्याण है। जीव मात्र का जो कल्याण है इसी में है कि गुरुदेव की बात को खुलकर, निर्भीकता से स्वयं समझकर फिर सामने रखें। ये तो चर्चा है, इसमें मैं कौन होता हूँ बोलने वाला?

**मुमुक्षु :**- सही बात है लेकिन बाबूजी! आपने इस पर हमारा लक्ष खीचा, गुरुदेव ने ये ही बात की है, लेकिन आपने हमारे लक्ष को इस ओर खींचा।

**पूज्य बाबूजी :**- हाँ! वो तो ठीक है। वो तो अपनी जगह है।

**मुमुक्षु :**- वो ही बाबूजी, अद्भुत कल्याणकारी बात है।

**पूज्य बाबूजी :**- अपने ज्ञान की गरिमा है वो तो।

**मुमुक्षु :**- इन दिनों जिनवाणी की वर्षा ऐसी हुई कि सब के हृदय भीग गए।

**पूज्य बाबूजी :**- ऐसा ही होना चाहिए न! जिनवाणी तो....पूरी दुनिया में रह भी कौन गया?

**मुमुक्षु :**- किस तरह प्रयोग की भूमिका आवे और प्रयोग कैसे किया जाए - इस तरह का जो स्पष्टीकरण आया, उसके लिए अंदर से सोचें तो कुछ जबान से कह नहीं पा रहा हूँ - ऐसा भाव होता है।

**पूज्य बाबूजी :**- नहीं नहीं! जिनवाणी को कौन कह सकता है?

**मुमुक्षु :**- जैसे बच्चे को माँ परोसती है एकदम ऐसे करके, उसी तरह ये जो इतनी गंभीर लगने वाली बात! आपने इतनी सरल बना दी, बस इतना ही तो करना है - स्व और पर। ये मैं और ये मैं नहीं। इतनी सी बात! इतनी गंभीर बातें इतनी सरल करके बता दीं कि हमारा हौसला

ही बढ़ गया। ये हौसला जो बढ़ता है तो काम और निर्णय ज्यादा ही जल्दी हो जाता है – ऐसा लगता है बाबूजी!

**पूज्य बाबूजी :**– ऐसा है कि रोटी और सब्जी भी कठोर हो तो निगली नहीं जाती है। तो वो नरम हो न! इसी तरह नरम भाषा सरल भाषा हो तो अपन सब समझ लेते हैं। उसमें और क्या है? उसके लिए कठिनाई क्यों की जाए?

**मुमुक्षु :**– बाबूजी! वास्तव में आज पता चला कि स्वपर–प्रकाशक की वस्तुस्थिति क्या है? वास्तव में! इसमें कुछ problematic (समस्यात्मक) लगता ही नहीं!

**पूज्य बाबूजी :**– नहीं! है ही नहीं! Principle (सिद्धांत) है वो तो! असल में वो कोई प्रयोजन नहीं है। जिनवाणी में ये बात भी आती है कि प्रयोजनवश भी कोई बात कही जाती है लेकिन वो प्रयोजन नहीं है वास्तव में; ये सिद्धांत है। ये स्वपरप्रकाशकता वाला, सिद्धांत है! हाँ!

**मुमुक्षु :**– तो बाबूजी! एक ही ज्ञान की पर्याय को ज्ञेय की ओर से देखें और माने तो अज्ञानता और से ज्ञायक की ओर से देखें और माने तो.....

**पूज्य बाबूजी :**– तो ज्ञान है....ज्ञान ही है। ज्ञेय की ओर से देखकर उसको ज्ञेय माने अथवा उसका कारण ज्ञेय को माने, उसका हेतु ज्ञेय को माने! कुछ भी माने, मतलब ज्ञान के साथ, किसी को भी जोड़े....कुछ भी माने, तो वो अज्ञान है।

**मुमुक्षु :**– वास्तव में है तो ज्ञान वो! पूरी अज्ञानदशा भ्रांति है।

**पूज्य बाबूजी :**– बहुत भ्रांति है, बहुत भ्रांति! क्योंकि सारी चीजें हम स्वीकार कर लेंगे राग–द्वेष, पाप–पुण्य और और सब स्वीकार कर लेंगे। लेकिन यहाँ आकर तो बस ऐसे अटकेंगे क्योंकि वो मिथ्यादर्शन

भी चतुर बहुत है। वो कहता है कि तू भागेगा कहाँ? अभी तो बहुत बाकी है; कहाँ भाग कर जाएगा तू? अभी तो मैं तुझे वहाँ फँसाऊँगा जहाँ ज्ञान का प्रकरण आएगा। तो वो फँस जाता है।

मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन भी चतुर तो होते ही हैं। अंत में जब कोई छल में नहीं आता है, तब फिर वो वैसे पलायन करते हैं कि दिखाई भी नहीं देते हैं।

**मुमुक्षु :**- एक बार इसको जाननभावरूप समझ ले कि इसके स्वभाव से देखा जाए तो इसमें दो बातें हैं ही नहीं।

**पूज्य बाबूजी :**- जरा भी नहीं हैं। अंतर्मुख होने का एक मात्र जो process है, विधि है, विधान है वो ये ही है। पर-प्रकाशक मानने में जो वृत्ति है वो बहिर्मुख होती है क्योंकि उसको भी हमने शक्ति माना न? वास्तव में पर को जानता है, तो ज्ञान बहिर्मुख हुए बिना रहेगा नहीं और कभी अंतर्मुख अनुभूति होगी नहीं।

कोई ऐसा कहता हैं कि हम ऐसा थोड़े ही मानते हैं कि पर-प्रकाशक ही है। स्वप्रकाशक भी तो मानते हैं। तो स्वप्रकाशक के साथ पर-प्रकाशक भी तो मानते हो न? तो वृत्ति बाहर गए बिना कैसे रहेगी? वो तो उसको अपना कर्तव्य मानेगा? उसने पर-प्रकाशकता को अपना धर्म माना न! तो फिर वृत्ति बाहर गए बिना कैसे रहेगी? अब ये एकमात्र अंतर्मुख होने का उपाय है। इसमें बहिर्मुखता कहीं भी नहीं है, क्योंकि वो वस्तु स्वभाव में ही नहीं है। एक ही मार्ग है!

**मुमुक्षु :**- आपने बोला न बाबूजी कि उसको ज्ञेयाकार बोलो, इसमें कोई दोष नहीं है।

**पूज्य बाबूजी :**- बोलो जरूर! जरूर बोलो। क्योंकि उससे ये पता लगेगा कि इस समय ज्ञान में कौनसे ज्ञेय जैसा आकार है। इसलिए

उसको बताने के लिए हमें उस ज्ञान के आकार को ज्ञेय कहना ही पड़ेगा। ज्ञेयाकार या ज्ञेय कहना ही पड़ेगा। कहना तो पड़ेगा, लेकिन मानना नहीं। मानते ही मिथयादर्शन चिपट जाएगा बस! ज्ञान के उस स्वरूप को भले कहो, पर मानो नहीं।

## पूज्य गुरुदेव के संबंध में व्यक्त उद्गार

**पूज्य बाबूजी :-** गुरुदेव के संबंध में आठ पंक्तियाँ लिखीं थी एक बार जब गुरुदेव का दिगम्बर धर्म में अवतरण हुआ!

**कर्मकांड की बालू के, भूधर धसकने लगे,**
**सदियों से सिसकते मूल्य जीवन के उभरने लगे,**
**रंगे सियारों की खिसकने लगी रे! धरती**
**स्वर्णपुरी क्षितिज पर सुवर्ण-पुरुष हँसने लगे।**
**स्वर्णपुरी क्षितिज पर सुवर्ण-पुरुष हँसने लगे**
**जगत जिसके करिश्मे देखता ठगा सा रहा,**
**'जादूगर' कोई बोला, जीवन पट बुनता रहा,**
**विदेह का पैगंबर खुदा की बातें करता,**
**आँधी-सा आया तूफान सा चला गया।**

(खुदा की बातें करता अर्थात् भगवान आत्मा की बातें करता।)

अब नहीं ज्यादा। ज्यादा सुनाता नहीं हूँ मैं! मेरी आदत नहीं है। हो गया ये!

**पूज्य बाबूजी :-** बेमौसम है, मौसम बदल जाते हैं।

**मुमुक्षु :-** बराबर! बराबर! अप्रभावित है!

**पूज्य बाबूजी :-** आत्मा का मौसम नहीं है कोई! बेमौसम है, आत्मा का मौसम बदलता नहीं है। मौसम बदलते हैं। एक और सुना देता हूँ।

**बाहर के देवता का फंक्शन ( समारोह ) तो होता रहा,**
**ज्योतियों के काजल से मंदिर को धोता रहा**
**कैसे पूरी होंगी तेरे मन की तमन्नायें ?**
**तेरे घर का देवता तो आज तक सोता रहा।**

**मुमुक्षु :-** आहाहा ! सही बात है ! सही बात है। सोता रहा। अद्भुत !

**पूज्य बाबूजी :-** और कोई प्रश्न हो तो ! नहीं तो हो गया समापन आज।

**मुमुक्षु :-** आपसे क्या कहें ? जल्दी-जल्दी पधारियेगा बंबई। बस ! हमारा यही भाव है कि आप जिस तरह से......आपके बेटे-बच्चे समान हैं हम ज्यादा क्या कहें ? जल्दी-जल्दी आ जाइए जरा !

महेंद्रभाई ने जाने का टाइम तो बताया मगर वापस आने का टाइम नहीं बताया। बाबूजी का मार्च के प्रथम सप्ताह में दो-तीन दिन के लिए फिर वापस आने का योग बन रहा है। बहुत सरस ! चलो अद्भुत ! ये मालूम नहीं था हमको, लेकिन हमको खुशी हुई हमको।

बाबूजी ! जैसे आपने बोला, ऐसे हमारी ओर से कुछ भी गलतियाँ हो गई हैं तो हम भी आपसे क्षमा चाहते हैं। आप तो गलतियाँ नहीं कर सकते। हमारी ओर से definitely (निश्चितरूप से) ऐसा हो सकता है।

**पूज्य बाबूजी :-** मैंने तो तकलीफ ही तकलीफ दी है, रात-दिन।

**मुमुक्षु :-** ये तकलीफ नहीं है बाबूजी ! कोई तकलीफ नहीं है। तकलीफ तो अब दिए जा रहे हैं आप कि वापस जा रहे हैं। तकलीफ तो अब होगी बाबूजी ! तकलीफ तो अभी हो रही है ! तकलीफ आपने दी ऐसा आप सोच रहे हैं, वही तकलीफदेह है हमारे लिए! कैसे तकलीफ हो सकती है बाबूजी आपकी हाजिरी में ?

अब कल से लगेगा जैसे शून्यावकाश, क्योंकि जैसे ही आठ बजते थे न! चलो बाबूजी के पास। इसमें क्या है बाबूजी कि हम आपकी प्रशंसा नहीं करते! जो तत्त्व आता है न वो इतना हृदयंगम रहता है न कि बस जैसे इसमें डूब रहे हैं। ऐसी 25 दिनों तक ये धारावाहिकता चली – 25 दिवस! आज 22वाँ प्रवचन है! 25 तारीख से शुरु किया था तो आज 15 तारीख है। अस्खलित प्रवाह और इसमें मुख्य एक प्रयोजनभूत बात ही आई!

**पूज्य बाबूजी :–** प्रयोजनभूत ही आना चाहिए न!

**मुमुक्षु :–** प्रयोग की पद्धति! प्रयोग की पद्धति!

चलो जल्दी-जल्दी वापस ऐसी घड़ी आए इसका ही हमको इन्तजार है। और हम प्रार्थना करते हैं कि बाबूजी का स्वास्थ्य हमेशा अच्छा रहे, ताकि इतनी अद्‌भुत बातें, ज्ञायक का अद्‌भुत रहस्य का उद्‌घाटन हमारे सामने होता रहे और हम इससे अपना निज कल्याण करें। बस बाबूजी! हम आज यही भावना भाते हैं।

**पूज्य बाबूजी :–** बहुत बढ़िया भावना है आपकी! मेरी तो वैसी ही है स्थिति अब! यहाँ तो जो आते हैं, सब ऐसे ही आते हैं।

❖❖❖

## बाबू जुगलकिशोर जैन 'युगल'

जन्म : 5 अप्रेल, 1924
खुरी, जिला – कोटा ( राज. )

देहपरिवर्तन : 30 सितम्बर, 2015

शिक्षा : एम.ए., साहित्यरत्न

पता : 85, चैतन्य विहार, आर्य समाज स्ट्रीट,
रामपुरा, कोटा ( राज. ) 324006

ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान बाबू जुगलकिशोर 'युगल' को प्रसिद्ध देव-शास्त्र-गुरु पूजा एवं सिद्ध पूजा लिखने के कारण समाज में वही स्थान प्राप्त है, जो हिन्दी साहित्य में 'उसने कहा था' कहानी के लेखक पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को। 'युगलजी' उच्चकोटि के कवि, लेखक एवं ओजस्वी वक्ता हैं।

15 वर्ष की अल्पवय में ही आप में काव्य-प्रसून अंकुरत होने लगे थे। तब राष्ट्रीय चेतना एवं स्वतंत्रता-संगाम का युग था। युग के प्रवाह में आपकी काव्यधारा राष्ट्रीय रचनाओं से प्रारम्भ हुई। पारम्परिक धार्मिक संस्कार तो आप में बचपन से ही थे, किन्तु उन्हें सम्यक् दिशा मिली इस युग में आध्यात्मिक क्रान्ति स्रष्टा श्री कानजीस्वामी से।

स्वयं श्री 'युगलजी' के शब्दों में – 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन एवं जीवनपथ मिला है।' युगलजी दर्शन को जीवन का समग्र स्वरुप मानते हैं और दर्शन की सर्वांग क्रियान्विति चैतन्य के साक्षात्कार में स्थापित करते हैं–

**जो चेतन के भीतर झाँका, उसने जीवन देखा**
**बाकी ने तो खींची रे ! परितप्त तटों पर रेखा**

जनमानस में जैनदर्शन का साधारणीकरण आपके काव्य का मूल लक्ष्य है।

आप सफल गद्य एवं नाट्य-लेखक भी हैं। आपके साहित्य कोष से लोकोत्तर रचनाओं में काव्य संग्रह "चैतन्य वाटिका" एवं गद्यविद्या "चैतन्य विहार", "चैतन्य की चहल-पहल" ( हिन्दी-अंग्रेजी ) में साहित्य व अध्यात्म के समावेश से जैन जगत को नया आयाम मिला है।

आपके गहन चिन्तन से प्रसूत तात्विक चर्चायें एवं प्रवचन का बहुमूल्य संकलन – चर्चा चैतन्य की, जैन क्षितिज के उदित नक्षत्र, गुणावली सिद्धों की, सुरभित पाखुरियाँ आदि सरस नूतन प्रदेय हैं।

युगलजी अखिल भारतीय स्तर के प्रवचनकार हैं और उनकी उपस्थिति धार्मिक आयोजनों का महत्त्वपूर्ण आकर्षण मानी जाती है।